हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबंध

लेखक
डा० उदयभानुसिंह

हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण
अक्तूबर : १९५९

मूल्य
१०·००

मुद्रक :
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली

हमारी योजना

'हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का अठारहवां ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं : हिंदी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं---एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का हिन्दी-रूपांतर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्यशास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), तथा (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता तथा (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य। तीसरे वर्ग का अनुसन्धान के साथ--उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष-सम्बन्ध है। इस माला का पहला ग्रंथ है 'अनुसन्धान का स्वरूप' जिसमें अनुसन्धान के स्वरूप और विषय-क्षेत्र आदि का अधिकारी विद्वानों द्वारा सैद्धांतिक विवेचन किया गया है। तीसरा ग्रंथ प्रकाशन के लिए तैयार है। इसके अन्तर्गत दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी-अनुसन्धान-गोष्ठी (मई, १९५९) के तत्वाधान में आयोजित अभिभाषणों का संकलन है। इन अभिभाषणों में भी सिद्धांत-पक्ष अर्थात् अनुसंधान के विविध प्रकार-

भेद, प्रविधि, प्रगति आदि का ही तात्विक विवेचन किया गया है। इसी वर्ग का यह दूसरा ग्रंथ आपके सामने है—जो अनुसंधान के व्यवहार-पक्ष को लेकर लिखा गया है। हिंदी के अद्यावधि स्वीकृत शोध-प्रबंधों का काल-क्रमानुसार व्यवस्थित विवरण उपस्थित करना इसका मूल उद्देश्य है। आज से लगभग तीन वर्ष पूर्व हिन्दी-विभाग की ओर से यह कार्य डा० उदयभानुसिंह को सौंपा गया था। हमें सन्तोष है कि उन्होंने बड़े मनोयोग और अध्यवसाय के साथ विभिन्न विश्व-विद्यालयों से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सम्पर्क स्थापित कर इसे पूर्ण कर लिया है। इस प्रकार के आकलन में अनेक प्रकार की बाधाएं और कठिनाइयां सामने आती हैं जिनमें दो अत्यन्त स्पष्ट हैं—एक, अमुद्रित शोध-प्रबन्धों की उपलब्धि और दूसरे, सर्वथा तटस्थ दृष्टिकोण का निर्वाह। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने उपर्युक्त दोनों कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का सफल प्रयत्न किया है। एक ओर जहां वे अधिकांश प्रबन्धों को प्राप्त कर उनके विषयों की स्वच्छ रूपरेखा प्रस्तुत करने में कृतकार्य हुए हैं, वहां दूसरी ओर उनका दृष्टिकोण भी सर्वथा शुद्ध एवं निस्संग रहा है। इस उपयोगी अनुष्ठान में, हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर, विभिन्न विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों के अधिकारियों, सहयोगी हिन्दी प्राध्यापकों और अनुसन्धाताओं ने जिस तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है उसके लिए अपने विभाग की ओर से हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी के उदीयमान अनुसन्धाता परिषद् के इस नवीन प्रयास से उचित लाभ उठा सकेंगे।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

—नगेन्द्र

निवेदन

सन् १९१८ ई० में आरोपित उपाधिपरक हिन्दी-अनुसन्धान के वट-बीज ने अब विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया है। सर्वप्रथम प्रबन्ध 'तुलसीदास का धर्मदर्शन' (थियॉलॉजी ऑफ़ तुलसीदास) सन् १९१८ ई० में स्वीकृत हुआ था। इस पर श्री जे० एन० कारपेन्टर को लन्दन विश्वविद्यालय से डी० डी० (डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी) की उपाधि प्रदान की गयी थी। दूसरा प्रबन्ध 'हिन्दुस्तानी ध्वनि विज्ञान' (हिन्दुस्तानी फ़ॉनेटिक्स) भी लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा ही सन् १९३० ई० में स्वीकृत हुआ था। इस पर श्री मोहिउद्दीन क़ादरी को पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। यह उपाधि उन्हें उर्दू में मिली थी। तीसरा प्रबन्ध 'अवधी का विकास' (एव्होल्यूशन ऑफ़ अवधी) सन् १९३१ ई० में स्वीकृत हुआ। इस पर श्री बाबूराम सक्सेना को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई थी। किसी भारतीय विश्वविद्यालय से हिन्दी-सम्बन्धी विषय पर प्रस्तुत किया गया यह पहला उपाधिपरक शोधप्रबन्ध था। यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त तीनों ही उपाधियां हिन्दी-साहित्य की नहीं हैं। परन्तु उनके विषय हिन्दी से सम्बद्ध हैं। अतएव सन् १९१८ से १९३१ ई० तक का समय उपाधिकारक हिन्दी-अनुसन्धान का प्रस्तावना-काल है।

हिन्दी-अनुसन्धान का वास्तविक आरम्भ सन् १९३४ ई० से मानना चाहिए। हिन्दी-साहित्य का पहला प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय' (दि निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोइट्री) सन् १९३४ ई० में स्वीकृत हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने (स्व०) पं० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल को इस प्रबन्ध पर डी० लिट० की उपाधि प्रदान की। पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का विकास' सन् १९३७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९३४ से १९३७ ई० तक का समय हिन्दी-अनुसंधान का प्रारम्भ-काल है। इस काल में हमारे यहां केवल काशी और प्रयाग विश्वविद्यालयों में ही हिन्दी-सम्बन्धी विषयों पर शोध-कार्य हुआ। प्रबन्धों की संख्या भी कुल मिलाकर चार ही रही। उनमें भी दो प्रबन्ध विदेशी विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हुए।

सन् १९३८ से १९५०ई० तक का समय हिन्दी-अनुसंधान का विकास-काल है। १९३८ ई० में नागपुर और पंजाब ने, १९३९ ई० में आगरा ने, १९४३ ई० में कलकत्ता ने, १९४४ ई० में पटना ने, १९४६ ई० में लखनऊ ने और १९४९ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय ने भी हिन्दी-विषयक शोध-प्रबन्ध स्वीकृत किये। किन्तु शोध-प्रबन्धों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही।

सन् १९५१ ई० से अब तक का समय हिन्दी-अनुसंधान का विस्तार-काल है। इन दिनों बीस विश्व-विद्यालयों में हिन्दी का शोध-कार्य हो रहा है। स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की संख्या बड़े वेग से बढ़ रही है। पौने तीन सौ से अधिक प्रबन्ध विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हो चुके हैं और छः सौ से अधिक अनुसंधाता विविध उपाधियों के लिए प्रयत्नशील हैं।

ऐसी दशा में अनुसंधित्सुओं, अनुसंधाताओं तथा पर्यवेक्षकों और परीक्षकों की जानकारी के लिए हिन्दी-विषयक सम्पन्न एवं सम्पद्यमान शोध-कार्य का लेखा समय-समय पर प्रकाशित करते रहना हिन्दी-अनुसन्धान की बहुत बड़ी आवश्यकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी आवश्यकता की पूर्ति का लघुप्रयास है। इस बात की भी आवश्यकता है कि इन प्रबन्धों की नीर-क्षीर-विवेकी समीक्षा की जाए। लेकिन इस पुस्तक का उद्देश्य आलोचना करना नहीं है। इसका लक्ष्य केवल सूचना और परिचय की दृष्टि से ही प्रबन्धों के विवरणमात्र प्रस्तुत करना है। अनुसन्धान का शास्त्रीय विवेचन हम अपनी आगामी कृति 'अनुसन्धान का व्याकरण' में करेंगे।

प्रबन्धों के विवरण में प्रामाणिकता की रक्षा का यथासम्भव प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर विभिन्न सूत्रों से परस्परविरोधी सूचना उपलब्ध होने पर अपेक्षाकृत अधिक अधिकारी व्यक्तियों के कथन को ही प्राथमिकता दी गयी है। परिचय में आये हुए 'अनुसंधान', 'अनुशीलन', 'अध्ययन', 'विवेचन', 'विश्लेषण', 'वर्णन' आदि शब्दों का व्यवहार साभिप्राय नहीं है। किसी भी अनुसंधाता का मंडन या खंडन हमारा लक्ष्य नहीं रहा है। जिन प्रबन्धों के प्रतिपाद्य विषयों की जानकारी हमें प्राप्त न हो सकी उनका उल्लेखमात्र करके संतोष कर लिया गया है।

इस दुस्साध्य कार्य के सम्पादन में अनेक विद्वानों और मित्रों ने हमारी सहायता की है। हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। इस सम्बन्ध में विविध प्रकार की कठिनाइयों की चर्चा करना व्यक्तिगत आक्षेपों से खाली न होगा; अतएव मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

इस ग्रन्थ में २७८ शोध-प्रबन्धों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन दिनों भी विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनेक शोधप्रबन्ध पी-एच० डी०, डी० फ़िल० और डी० लिट० उपाधियों के स्वीकृत हुए हैं और हो रहे हैं उनका विवरण प्राप्त न हो सका। आगामी पुस्तक में उनकी सूचना भी दी जायगी।

हिन्दी-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
१५. ८. १९५९ ई०

—*उदयभानुसिंह*

शोधप्रबन्ध-सूची

पृष्ठ सं०

१. तुलसीदास का धर्मदर्शन (थियॉलॉजी ऑव् तुलसीदास)

[१६१८ ई०]

हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी सर्वप्रथम उपाधिपरक प्रबन्ध 'थियॉलॉजी ऑव् तुलसीदास' है। १६१८ ई० में इस प्रबन्ध पर लन्दन विश्वविद्यालय ने श्री जे० एन० कारपेन्टर को 'डॉक्टर ऑव् डिविनिटी' की उपाधि प्रदान की थी। उसी वर्ष 'दि क्रिश्चियन सोसायटी फ़ॉर इन्डिया' (मद्रास, इलाहाबाद, कलकत्ता, रंगून, कोलम्बो) ने अंगरेजी भाषा में ही इसका प्रकाशन किया था। इस समय यह पुस्तक अप्राप्य है।

इस प्रबन्ध में दो खंड हैं। पहला खंड पांच अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में तुलसीदास के धर्मदर्शन की भूमिका के रूप में हिन्दू धर्म का सामान्य विवेचन है। उसकी संश्लिष्टता, उसके इतिहास तथा उसके आधारभूत वाङ्मय वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं षड्दर्शनों की विचारधारा का संक्षिप्त निरूपण है। दूसरे अध्याय में अवतार और भक्ति, तीसरे में रामपूजा तथा चौथे में तुलसीदास का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पांचवें अध्याय में 'रामायण' में प्रतिपादित विषयों का विश्लेषण है।

दूसरे खंड में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में सच्चिदानन्द भगवान् के स्वरूप और उसके गुणों का निरूपण है। दूसरे अध्याय में हिन्दुओं के त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) तथा अन्य देवताओं की विशेषताओं का वर्णन करके इन्द्रपूजा के पतन एवं धार्मिक सुधार की चर्चा की गयी है। चौथे अध्याय में राम का निरूपण है। उसके प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं: परम विष्णु के अवतार राम, राम और त्रिदेव, कर्मरूप (कर्म, विधि, भाग्य) राम, उनके गुण तथा स्वभाव, माया, रामनाम और सांख्यानुसार राम का चित्रण। पांचवें अध्याय का विषय अवतार है। अवतार-सम्बन्धी सामान्य धारणा एवं राम के पूर्ववर्ती अवतारों की चर्चा करके रामावतार के प्रयोजनों का उल्लेख किया गया

है। तदनन्तर अवतार के इच्छामय तथा अंशों सहित रूप की विशेषता बताकर अवतार के रहस्य का विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में भक्ति आदि की मीमांसा है। 'भक्ति' के अर्थ, उस पर ईसाई प्रभाव, शिव, भरत आदि मुख्य भक्तों, भक्ति की श्रेष्ठता, नवधा भक्ति, भक्ति और ज्ञान की तुलना आदि पर विचार किया गया है। सातवें अध्याय में माया की परिभाषा, मायावाद और परिणामवाद, राम और माया, माया और सृष्टि तथा माया के स्वरूप आदि की व्याख्या है। अन्तिम अध्याय का विषय है—पाप और मोक्ष। इस प्रकरण में यह बतलाया गया है कि संसार पाप का ही अनिवार्य परिणाम है और राम ही मोक्षदाता हैं।

इस पुस्तक की एक अवेक्षणीय विशेषता यह भी है कि तुलसीदास के उद्धरण देवनागरी लिपि में ही दिये गये हैं।

२. हिन्दुस्तानी ध्वनि-विज्ञान (हिन्दुस्तानी फॉनेटिक्स)

[१९३० ई०]

श्री मोहिउद्दीन क़ादरी का प्रबन्ध 'हिन्दुस्तानी ध्वनि-विज्ञान' सन् १९३० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह उपाधि उर्दू की थी। इसका प्रकाशन सन् १९३० ई० में हुआ।

पुस्तक के आरम्भ में डा० जूल ब्लाख़ की प्रस्तावना है। अपने प्राक्कथन में लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि यह प्रबन्ध हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू पर लिखा गया है जो भारत के दस करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा बोली और देश के प्रायः सभी बड़े नगरों में समझी जाती है।

इस प्रबन्ध में चार अध्याय हैं। पहला अध्याय प्रास्ताविक है। इसमें हिन्दुस्तानी के ऐतिहासिक विकास, उत्तरी और दक्षिणी उर्दू के अन्तर, उनके उच्चारण-भेद और उनकी रूपरचना के भेद एवं महत्व का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में ध्वनियों का अध्ययन है। इसमें स्वरों, संयुक्त स्वरों तथा अनुनासिक स्वरों की विवेचना है। तीसरे अध्याय में व्यंजनों तथा व्यंजनानुरूपता का अनुशीलन है। चौथे अध्याय में हिन्दुस्तानी बलाघात और सुरों पर प्रकाश डाला गया है।

३. अवधी का विकास (एवोल्यूशन ऑफ़ अवधी)

[१९३१ ई०]

श्री बाबूराम सक्सेना का अंग्रेजी में लिखित प्रबन्ध 'अवधी का विकास' (एवोल्यूशन ऑफ़ अवधी) सन् १९३१ में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, ने १९३७ ई० में इस प्रबन्ध को अंग्रेजी में ही प्रकाशित किया।

प्रबन्ध के दो भाग हैं। पहले भाग में विषय-प्रवेश के अतिरिक्त नौ अध्याय हैं। विषय-प्रवेश में नाम, क्षेत्र, मुख्य विशेषताएं, उत्पत्ति का महत्व, अध्ययन की आधार-सामग्री, उपबोलियाँ, शब्दसमूह तथा लिपि—इनकी दृष्टि से अवधी पर विचार किया गया है। पहले अध्याय में पुरानी तथा आधुनिक अवधी में प्रयुक्त ध्वनियों की उत्पत्ति और विकास पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय का विषय स्वर-संयोग है। इसमें प्रचीन तथा आधुनिक अवधी में इनके प्रयोग तथा उत्पत्ति का अध्ययन है। तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें तथा नवें अध्याय अपेक्षाकृत छोटे-छोटे हैं और इनमें क्रम से अवधी के अक्षर, शब्द, स्वराघात, समीकरण, वाक्य, सुर तथा उसकी ध्वनि-विषयक अन्य विशेषताओं पर विचार किया गया है। अवधी की ध्वनियों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए लेखक ने इंग्लैन्ड में कायमोग्राफ़ तथा पैलेटोग्राफ़ का उपयोग किया था। इस भाग के अन्त में इनके प्रयोग द्वारा प्राप्त चित्र तथा चार्ट आदि दिये गये हैं।

प्रबन्ध के दूसरे भाग में दस अध्याय हैं। पहले अध्याय में अवधी संज्ञाओं का (कारक रूप, लिंग तथा वचन आदि की दृष्टि से) अध्ययन है। साथ ही अवधी-प्रातिपदिक, लिंग, वचन, कारक तथा उनकी व्युत्पत्ति और उनका विकास भी दिया गया है। दूसरे अध्याय में अवधी विशेषणों का (उत्पत्ति, भेद, लिंग तथा वचन की दृष्टि से) विवेचन है। तीसरा अध्याय विशेषण के ही एक भेद संख्यावाचक विशेषण से संबद्ध है। इसमें पूर्ण, क्रम, गुणनात्मक तथा अपूर्ण संख्यावाचक विशेषणों पर उनकी उत्पत्ति देते हुए प्रकाश डाला गया है। चौथा अध्याय सर्वनामों का है। इसमें प्राचीन तथा आधुनिक अवधी में प्रयुक्त सभी प्रकार के सर्वनामों का विवेचन है। साथ ही इनकी व्युत्पत्ति भी दी गयी है। पांचवें अध्याय में अवधी में प्रयुक्त परसर्गों का व्युत्पत्ति के साथ

निरूपण है। छठा अध्याय अवधी क्रियाओं का (मूल्य, सहायक क्रिया, काल, वाच्य, पुरुष, वचन तथा साधारण संयुक्त क्रिया आदि दृष्टियों से) विवेचन प्रस्तुत करता है। साथ ही इनकी व्युत्पत्ति भी दी गयी है। सातवें अध्याय में अवधी के क्रिया-विशेषण व्युत्पत्ति के साथ दिये गये हैं। आठवां अध्याय समुच्चय-बोधक अव्ययों का है। नवें अध्याय में अवधी में बलार्थक प्रयुक्त रूपों का विवेचन है। अन्तिम अध्याय प्राचीन तथा आधुनिक अवधी की वाक्य-गठन में शब्द-क्रम पर प्रकाश डालता है।

प्रबन्ध के अन्त में दो परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्ट में पुरानी अवधी के कुछ अप्रकाशित उदाहरण दिये गये हैं। दूसरे में आधुनिक अवधी के उदाहरण हैं। दोनों के ही साथ पाठकों की सुविधा के लिए उनका अंग्रेजी अनुवाद भी दे दिया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध अपने विषय पर लिखा गया प्रथम और एकमात्र निबंध है।

४. कबीर तथा उनके अनुयायी

[१९३१ ई०]

श्री एफ़्० ई० के को उनके प्रबन्ध 'कबीर तथा उनके अनुयायी' (कबीर एंड हिज़ फ़ॉलोअर्स) पर सन् १९३१ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि मिली थी। यह प्रबन्ध ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता, से सन् १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस समय अप्राप्य है।

५. हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय (दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिन्दी पोएट्री)

[संवत् १९९०, सन् ९१३४ ई०]

भारतीय विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट उपाधि के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी विषय पर सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया प्रबन्ध "दि निर्गुण स्कूल ऑव् हिन्दी पोएट्री' है। इस प्रबन्ध पर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने (स्व०) श्री

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल को सं० १९९० में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की थी। मूल प्रबन्ध अंग्रेज़ी में लिखा गया था। उसके प्रथम, द्वितीय और षष्ठ अध्यायों का अनुवाद स्वयं बड़थ्वाल जी ने 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय' नाम से किया था। उनके स्वर्गवास के कुछ समय पश्चात् पूरा प्रबन्ध पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित एवं डा० भगीरथ मिश्र द्वारा संपादित होकर सं० २००७ में अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में तत्कालीन परिस्थितियों का पर्यालोचन है। मुस्लिम आक्रमण, वर्ण-व्यवस्था की विषमता, राजनैतिक अव्यवस्था, धार्मिक प्रचारकों की भगवच्छरणागति, हिन्दू मुसलमानों के सम्मिलन के आयोजन, सूफ़ी विचारधारा और शूद्रोद्धार की भावना पर विचार करके निर्गुण सम्प्रदाय के आविर्भाव का निरूपण है। दूसरे अध्याय में निर्गुण-सन्त-सम्प्रदाय के प्रसारकों (जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, रामानन्द, कबीर, नानक, दादू, प्राणनाथ, बाबालाल, मलूकदास आदि) का जीवनीमूलक गवेषणात्मक अध्ययन है। तीसरे अध्याय में सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों (एकेश्वरवाद, पूर्णब्रह्म-भावना, परात्पर-भावना, ईश्वर-जीव-जगत्, सहज ज्ञान, दार्शनिक स्रोत, निरंजन-कल्पना, और अवतार-विरोध) का विश्लेषण है। चौथे अध्याय में निर्गुण-पन्थ की विशेषताओं, उसके आध्यात्मिक वातावरण, गुरुमहिमा, नाम-सुमिरन-प्रार्थना, शब्दयोग, अन्तर्दृष्टि, 'परचा' आदि का अनुशीलन किया गया है। पांचवें अध्याय में निर्गुण-पन्थ की मिश्रित विचारधारा और उसकी साम्प्रदायिकता की छानबीन करके उसका स्वरूप निर्धारित किया गया है। छठे अध्याय में निर्गुण-सम्प्रदाय की काव्यसमीक्षा है। इन सन्तों की बानियों के कवित्व, प्रेम के रूपकों, उलटबांसियों आदि की सहृदयतापूर्वक समालोचना की गयी है। परिशिष्ट में दी गयी पारिभाषिक शब्दावली, निर्गुण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी पुस्तकों के विवरण तथा 'विशेष बातें' विषय के सम्यक् अवधारण के लिए विशेष उपयोगी हैं।

बड़थ्वाल जी का यह प्रबन्ध निर्गुण-सन्त-सम्प्रदाय के गवेषणात्मक अध्ययन का प्रथम प्रयास है। इसमें सामग्री की व्यापक शोध के साथ ही निर्गुण कवियों की तत्वचिन्तन-धारा एवं काव्य-वैभव का अनुसन्धान किया गया है। ज्ञात और अज्ञात सन्तों की परम्परा को एक सूत्र में ग्रथित करके, वर्ग-विशेष के अन्तर्गत उनका सामूहिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

६. सूरदास का धार्मिक काव्य

[१९३४ ई०]

श्रीजनार्दन मिश्र को उनके प्रबन्ध 'सूरदास का धार्मिक काव्य' पर सम्भवतः कोनिग्सवर्ग से सन् १९३४ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी।

७. ब्रजभाषा (ल लांग ब्रज)

[१९३५ ई०]

श्री धीरेन्द्र वर्मा का प्रबन्ध 'ब्रजभाषा' (ल लांग ब्रज) सन् १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसके हिन्दी-रूपान्तर का प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने सन् १९५४ में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध बारह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में मध्यदेश और ब्रजप्रदेश का (पृष्ठभूमि के रूप में) भौगोलिक परिचय है। दूसरे अध्याय का संबंध ब्रजवासी जनता से है। इसमें उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों का परिचय दिया गया है। तीसरे अध्याय का शीर्षक है 'ब्रजभाषा साहित्य।' इसमें 'ब्रजभाषा' नाम की व्युत्पत्ति और संक्षिप्त इतिहास देते हुए लेखक ने ब्रज-साहित्य और ब्रजभाषा पर ऐतिहासिक दृष्टि डालने के लिए इसके इतिहास को प्राचीन (१४०० ई० के पूर्व), मध्य (१४०० से १८०० ई०) तथा आधुनिक (१९०० ई० के बाद) इन तीन कालों में विभक्त किया है, और इन पर प्रकाश भी डाला है। लेखक ने इस अध्याय के अन्त में प्रस्तुत किये गये अध्ययन में सामग्री के उपयोग की शैली तथा ब्रजभाषा की हस्तलिपियों में प्रयुक्त लिपि की विशेषताओं का उल्लेख किया है। चौथे अध्याय का शीर्षक है **'आधुनिक** ब्रजभाषा।' इसमें वर्तमान काल में ब्रजभाषा के भौगोलिक विस्तार और उसकी सीमाओं का निर्धारण करते हुए कन्नौजी की (बोली रूप में) स्वतन्त्र सत्ता पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। लेखक यहाँ इस निर्णय पर पहुँचा है कि कन्नौजी को स्वतन्त्र बोली न

ब्रजभाषा के उपरूपों का भी निर्धारण किया गया है । अन्त में गांव, कस्बा और नगर की बोली के भेदों का उल्लेख करते हुए लेखक ने ब्रजभाषा के शब्द-समूह का संक्षिप्त विवरण दिया है ।

पांचवें अध्याय का सम्बन्ध ध्वनि से है । इसमें स्वर, व्यंजन, मूलस्वर, अनुनासिक स्वर, स्वरसंयोग, स्पर्श, पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त, संघर्षी तथा अर्द्धस्वर, इन नौ उपशीर्षकों के अन्तर्गत ब्रजभाषा में पायी जाने वाली ध्वनियों का वर्णनात्मक अध्ययन एवं वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है । इसी अध्याय में ध्वनि की दृष्टि से शब्दांश, शब्द और शब्द-संपर्क पर भी विचार किया गया है । अन्त में फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी से ब्रज में गृहीत शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन पर विचार किया गया है ।

छठा अध्याय 'संज्ञा' शीर्षक है । इसमें संज्ञा के लिंग, वचन, कारक के मूल और विकृत रूपों में रचना, इन रूपों का वाक्यों या वाक्यांशों में प्रयोग आदि पर विचार किया गया है । ब्रजभाषा-संज्ञा के कुछ संयोगात्मक रूप भी मिलते हैं । इसी अध्याय में आगे इनका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । और अन्त में विशेषणमूलक रूपों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

सातवां अध्याय सर्वनाम पर है । इसमें सर्वनाम के प्रमुख भेदों और उपभेदों (उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, दूरवर्ती निश्चयवाचक, निकटवर्ती निश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक और नित्यसम्बन्धी, प्रश्नवाचक, अनिश्चयवाचक, निजवाचक तथा आदरवाचक) की दृष्टि से ब्रज के सर्वनामों का वर्णनात्मक अध्ययन है । इसी अध्याय के अन्त में संयुक्त सर्वनाम और सर्वनाम-मूलक विशेषणों का भी परिचय दिया गया है ।

आठवां अध्याय परसर्गों पर है । इसमें सामान्य या मूल परसर्ग, संयुक्त परसर्ग और परसर्गों के समान प्रयुक्त अन्य शब्दों पर विचार किया गया है । नवां अध्याय क्रिया पर है । आरम्भ में ब्रज की मूल और प्रेरणार्थक धातुओं पर विचार किया गया है, फिर वाच्य, भूतकाल तथा कृदन्ती रूपों, सहायक क्रिया तथा संयुक्त क्रिया की दृष्टि से ब्रजभाषा की क्रियाओं का अध्ययन है ।

दसवें अध्याय का शीर्षक है अव्यय । इसमें ब्रज के अव्ययों का (काल, स्थान, रीति, निषेध, कारण, परिणाम, काल तथा स्थानवाचक क्रिया-विशेषण, विभाजक, विरोध, निमित्त, उद्देश्य, सकेत, व्याख्या और विषय-वाचक, समुच्चबोधक तथा निश्चयबोधक उपशीर्षकों के अन्तर्गत) अध्ययन किया गया है । इस अध्याय का एक परिशिष्ट भी है जिसमें संख्यावाचक शब्दों का अध्ययन है ।

ग्यारहवें अध्याय में ब्रजभाषा की वाक्य-गठन पर शब्द-क्रम तथा अन्वय की दृष्टि से विचार किया गया है। बारहवां अध्याय 'उपसंहार' है जिसमें ब्रजभाषा के मुख्य लक्षण दिये गये हैं। साथ ही प्राचीन और आधुनिक ब्रजभाषा के अन्तर और ब्रज पर खड़ी बोली के प्रभाव एवं आधुनिक आर्यभाषाओं में ब्रजभाषा के स्थान आदि पर विचार किया गया है।

परिशिष्ट में आधुनिक ब्रजभाषा-क्षेत्र तथा सीमान्त प्रदेशों (अलवर, अलीगढ़, आगरा, इटावा, एटा, करौली, गुड़गांव, ग्वालियर, जयपुर, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, बदायूं, बरेली, बुलन्दशहर, भरतपुर, मथुरा, मैनपुरी और शाहजहांपुर) की बोलियों के उदाहरण दिये गये हैं।

८. हिन्दी-काव्य-शास्त्र का विकास

[१९३७ ई०]

श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' को उनके शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य-शास्त्र का विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९३७ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध काव्यशास्त्र की विकास रेखाओं को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया है। यह ग्रन्थ हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास प्रदर्शित करने वाला पहला प्रबन्ध है। इसमें काव्यशास्त्र के विकास को चार कालों में विभक्त किया गया है—चारण-काल, धार्मिक काल, कला-काल (रीति-काल) और गद्य-काल (आधुनिक काल)। इसकी पृष्ठभूमि में अलंकारशास्त्र के विकास का सामान्य परिचय दिया गया है।

दूसरे अध्याय 'कला-काल' में रीति-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन विभिन्न उपशीर्षकों जैसे कला-काल में दरबारी प्रभाव व राजपूत-दरबार का प्रभाव आदि के रूप में किया गया है।

तीसरे अध्याय में हिन्दी के काव्य-शास्त्रकारों और उनकी रचनाओं का वर्गीकरण किया गया है तथा उनका विस्तृत विवेचन भी इस अध्याय में सम्पन्न हुआ है।

चौथे अध्याय में अलंकार की परिभाषा तथा काव्य में उसका स्थान विवेचित

है। साथ ही रीतिकालीन कवियों की पृष्ठभूमि में विभिन्न अलंकारों का विशिष्ट प्रयोग भी निर्दिष्ट किया गया है।

पांचवें अध्याय में हिन्दी के अलंकारों का वर्गीकरण विवेचित है। प्रस्तुत प्रकरण में इस का उपस्थापन किया गया है कि हिन्दी आलंकारिकों ने अलंकारों का संक्षिप्ततः नौ प्रकारों में प्रयोग किया है। इसी आधार पर अर्थालंकार, शब्दालंकार आदि के अनेक प्रकारों का सोदाहरण और विस्तृत व्याख्यात्मक निरूपण किया गया है।

छठे अध्याय में अलंकार के सम्बन्ध में विभिन्न शास्त्रीय मतों का उपस्थापन किया गया है तथा रीतिकालीन कवियों की अलंकार-विषयक विविधता का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय में रीतिकाल के प्रमुख लक्षण और स्वतन्त्र रचनाकारों के माध्यम से उनकी रचनाओं में उपलब्ध विविध प्रकार के अलंकारों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

सातवें अध्याय में हिन्दी लेखकों की 'काव्यशास्त्र' को देन का विवेचन है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के साथ हिन्दी-काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए रीतिकालीन विभिन्न कवियों—केशव, देव, भिखारीदास, जसवन्त, पद्माकर, भूषण आदि—की काव्यशास्त्र-विषयक बहुत सी नवीनताओं की उपयोगिता का मूल्यांकन भी किया गया है।

आठवें अध्याय में आलंकारिकों के अतिरिक्त कुछ अपने स्वतन्त्र मन्तव्य भी (काव्यशास्त्र-विषयक) उपस्थित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्तिम अध्याय में काव्यशास्त्र के अन्य विभागों पर भी एक सामान्य और संक्षिप्त विवेचन उपस्थित किया गया है। काव्यशास्त्र के अन्य अंगों की अपेक्षा अलंकारशास्त्र का विस्तृत विवरण इस प्रबन्ध में प्रतिपादित है।

९. तुलसी-दर्शन

[१९३८ ई०]

श्री बलदेव प्रसाद मिश्र को उनके प्रबन्ध 'तुलसी-दर्शन' पर नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९३८ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध इसी नाम से सं० २००५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ने प्रकाशित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध आठ परिच्छेदों में विभक्त है। पहला परिच्छेद 'गोस्वामी जी और मानस' है। इस अध्याय में गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त, ग्रन्थ-सूची, 'मानस' की महत्ता, 'मानस' के टीकाकार और आलोचक, तुलसी-मत, 'मानस' के चार घाट, तत्त्वसिद्धान्त और अर्थ-गाम्भीर्य आदि का प्रतिपादन किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में भारतीय भक्ति-मार्ग का इतिहास वर्णित है। यह मार्ग वेदों के समान प्राचीन है। निगम-साहित्य में सूर्य (विष्णु), अग्नि आदि की पूजा और आगम-साहित्य में वैधी-उपासना-पद्धतियां उपलब्ध होती हैं। पुराण-साहित्य तो भक्ति से परिप्लुत है ही। इसी अध्याय में यह भी दिखाया गया है कि गोस्वामीजी ने सभी धर्माचार्यों के तत्वों को एक में समेटने का प्रयत्न किया था। भक्ति की परिभाषा पर अवधानपूर्वक विचार करते हुए अनुसन्धाता ने भक्ति-मार्ग के गुण-दोषों का विस्तृत निरूपण किया है।

तीसरे परिच्छेद में जीव की कोटियों का विवेचन किया गया है। गोस्वामी जी ने विषयी जीवों की निन्दा की है। साधक जीवों के प्रसंग में तुलसीदास ने मानस-रोग-विमोचन की विवेचना की है और सिद्धों की महिमा गाते तो वे थकते ही नहीं। मानवेतर योनियों के जीवों की चर्चा भी की गयी है।

चौथा परिच्छेद है 'तुलसी के राम'। इसमें राम के इष्टदेवत्व, ब्रह्मत्व, (निराकारभाव), महाविष्णुत्व (सुराकारभाव) और मर्यादापुरुषोत्तमत्व पर विचार किया गया है। राम की लीलाओं के रहस्य, औदार्य, कारुण्य और शरणत्व, उनका गुण, कर्म और स्वभाव, लीलाओं का आधार और उद्देश्य, रामचरित के आदर्शत्व पर शंकाएं, अवतारवाद का आधार और उपयोगिता, भगवद्भाव के त्रैविध्य का रहस्य आदि इस अध्याय के अन्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

पांचवां परिच्छेद 'विरति-विवेक' है। इसमें भगवान् की लीला का विवेचन किया गया है। जीव और ब्रह्म पर विचार करते हुए माया, उसकी उपयोगिता और अवास्तविकता भी दिखायी गयी है। कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है। अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का निरूपण करते हुए दिखाया गया है कि तुलसीदास वस्तुतः इन दोनों मतों का समन्वय चाहते थे। गोस्वामी जी के तत्त्व-सिद्धान्तों एवं उनकी शब्दावली का विवेचन भी इसी परिच्छेद में किया गया है।

छठे परिच्छेद में प्रतिपादित किया गया है कि 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ संयुत विरति विवेक' ही तुलसीदास का अभीष्ट भक्तिमार्ग है। तुलसी द्वारा

निर्धारित भक्ति की इस परिभाषा का तर्कसंगत एवं गवेषणापूर्ण अध्ययन अनुसन्धाता ने प्रस्तुत किया है। ज्ञान और भक्ति मार्ग की तुलना करते हुए भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित की गयी है।

सातवें परिच्छेद में भक्ति के साधनों पर विचार किया गया है। ये साधन असीम हैं। इस परिच्छेद में 'अध्यात्मरामायण' 'श्रीमद्भागवत' और 'रामचरितमानस' की नवधा भक्ति की समीक्षा की गयी है। प्रेमासक्ति, नामजप, सत्संग आदि साधनों की चर्चा भी की गयी है।

आठवें परिच्छेद में तुलसीमत की विशेषताओं का संक्षिप्त निरूपण है। वह उत्तम सिद्धान्त है, उसमें हृदय और बुद्धि का समन्वय है, वह सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध रूप है, वह अनोखे काव्य-कौशल के साथ कहा गया है।

१०. सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना

[१९३८ ई०]

पंजाब विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम डॉक्टर श्री इन्द्रनाथ मदान हैं। उक्त विश्वविद्यालय ने उन्हें उनके प्रबन्ध 'सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना' पर सन् १९३८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। अँगरेजी में लिखित यह प्रबन्ध 'मॉडर्न हिन्दी 'लिटरेचर' के नाम से सन् १९३९ ई० में मिनर्वा बुक शॉप, लाहोर, द्वारा प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में कविता का अनुशीलन किया गया है। इस खंड में छः अध्याय है। पहले अध्याय में सबसे पहले पृष्ठभूमि के अन्तर्गत जनसाधारण के जीवन में घटित सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्रान्ति का अध्ययन किया गया है। कविता के क्षेत्र में चार प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है (क) राष्ट्रीय (ख) रहस्यवादी (ग) वैष्णव (घ) निराशावादी। दूसरे अध्याय में राष्ट्रीय धारा, तीसरे अध्याय में रहस्यवादी काव्यधारा और चौथे अध्याय में वैष्णव काव्यधारा का ऐतिहासिक अनुशीलन किया गया है। चौथी प्रवृत्ति निराशावाद का अध्ययन पांचवें अध्याय में किया गया है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में नवीन है, क्योंकि निराशावादी कवि निराशा को

जीवन का ध्येय समझता है जो भारतीय चिन्तन के विरुद्ध है। इस प्रवृत्ति के प्रमुख कवियों में रामेश्वरी देवी 'चकोरी', तारा पांडेय, महादेवी वर्मा और 'हृदयेश' की गणना की गयी है। छठे अध्याय में उन नवीन प्रयोगों का अध्ययन किया गया है जो पद्य के क्षेत्र में या तो अभिनव हैं अथवा प्राचीन रूप के परिष्कार हैं।

दूसरा खंड नाटक-विषयक है। इसमें पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय में रोमानी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया गया है। अतीत के प्रति आग्रह, पाश्चात्य सभ्यता के एकाधिपत्य के विरोध तथा तात्कालिक प्रत्यक्ष जीवन से पलायन की इच्छा के फलस्वरूप इस प्रवृत्ति का उद्भव हुआ। दूसरे और तीसरे अध्यायों में आदर्शवादी प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति पर विचार किया गया है। लेखक का मत है कि इन नाटकों के पहले उत्थान में पाश्चात्य सभ्यता के प्रति विद्रूप व्यंग्य और दूसरे उत्थान में इतिहास से जीवन के प्रति एक नूतन दृष्टिकोण ग्रहण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। किन्तु इतिहास के चित्रण अथवा पुनर्व्याख्यान मात्र से मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। जीवन के प्रति शनैः-शनैः एक आलोचनात्मक एवं अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण जन्म ले रहा था। जो यथार्थवादी नाटकों का निमित्त था। चौथे अध्याय में इन यथार्थवादी नाटकों का अध्ययन है। पांचवें अध्याय में नाटक की आधुनिक शिल्पविधि का विवेचन किया गया है।

अनुसन्धाता ने साहित्य के रूप में उपन्यास को प्रायः पूर्णतः एक विदेशी देन माना है। तीसरे खंड के चार अध्यायों में उपन्यास-साहित्य का अनुशीलन है। पहले अध्याय में देवकीनन्दन खत्री आदि के रोमानी उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। दूसरे अध्याय में वृन्दावनलाल वर्मा आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों का विवेचन है। तीसरे और चौथे अध्यायों में उपन्यासगत यथार्थ-वादी प्रवृत्ति का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। प्रेमचन्द तथा उनके स्कूल के उपन्यासकारों के कृतित्व का शास्त्रीय एवं व्यावहारिक विवेचन पर्याप्त विस्तार से किया गया है।

चौथे खंड में केवल एक अध्याय है जिसमें 'लघुकथा' का विवेचन किया गया है। अध्येता ने बतलाया है कि कहानी में यथार्थवादी प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य है। गद्य की यह विधा खूब लोकप्रिय हुई है और इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

११. रामचरितमानस में तुलसी की शिल्पकला—एक विश्लेषण

[१६३६ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी के सर्वप्रथम डॉक्टर श्री हरिहर नाथ हुक्कू हैं। उनका प्रबन्ध 'रामचरितमानस में तुलसी की शिल्पकला—एक विश्लेषण' सन् १६३६ ई० में डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अंगरेजी में लिखा गया था। अभी तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खंडों में विभाजित किया गया है। पहले खंड में 'रामचरितमानस' की रचना के प्रयोजन, तुलसी द्वारा राम-कथा के चुनाव और उनकी समन्वयवादी भावना पर विचार किया गया है।

दूसरे खंड में 'रामचरितमानस' की वस्तु-योजना का अध्ययन है। विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को मांगना, अहल्या-उद्धार, स्वयंवर और परशुराम का आगमन, दशरथ से केकैयी का वर मांगना तथा सीताहरण की मुख्य घटनाओं की विस्तारपूर्वक विचार-चर्चा की गयी है। राम-कथा में इन घटनाओं का क्या महत्व और अभिप्राय है, उसके ग्रहण में विभिन्न कवियों एवं नाटककारों को कहां तक सफलता मिली है, उसकी नाटकीयता का उन्होंने कहां तक उपयोग किया है, तुलसीदास ने उसका कहां तक निर्वाह किया, उनका गौरव कहां है—इन दृष्टियों से कवि की शिल्पकला का अनुशीलन किया गया है।

तीसरे खंड में 'रामचरितमानस' के पात्रों के चरित्रांकन का विश्लेषण है। राम, सीता, रावण, कैकेयी तथा अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण की निम्नांकित दृष्टियों से विवेचना की गयी है—तुलसी ने वाल्मीकि आदि पूर्ववर्ती रामकवियों से इन पात्रों के विषय में कौन से विचार प्राप्त किये, तुलसी के परवर्ती कवियों ने परम्परा का कहां तक पालन किया, तुलसी ने किस ढंग से पात्रों का चरित्र-विकास किया, उनकी सफलता किन बातों में है और उन्होंने किस प्रकार राम-कथा को उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित किया।

१२. तुलसीदास—जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन

[१९४० ई०]

श्री माताप्रसाद गुप्त का प्रबन्ध 'तुलसीदास—जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन' सन् १९४० ई० में प्रयाग बिश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। प्रयाग की हिन्दी-परिषद् के द्वारा सन् १९४२ ई० में प्रथम बार प्रकाशित इस ग्रन्थ का शीर्षक है 'तुलसीदास (एक समालोचनात्मक अध्ययन)'। इस ग्रन्थ का तृतीय संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ।

इसमें सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में तुलसीदास-विषयक अध्ययन की भूमिका का अध्ययन है। प्रस्तावना के अनन्तर विल्सन महोदय से लेकर डा० राजपति दीक्षित तक के तुलसी-विषयक पूर्ववर्ती अनुशीलन की समीक्षा करके प्रस्तुत अनुशीलन के उद्देश्य और उसकी आवश्यकता का निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में 'गोसाईं चरित्र', 'भक्तमाल', प्रियादास की टीका, 'पद प्रसंग माला', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि तथा काशी, अयोध्या, राजापुर और सोरों में उपलब्ध सामग्री, जनश्रुतियों तथा कवि के आत्मोल्लेखों की अध्ययन-सूत्र के रूप में परीक्षा की गयी है। तीसरे अध्याय में तुलसीदास के जीवन-वृत्त-सम्बन्धी विभिन्न मतों के पक्ष-विपक्ष में प्रस्तुत किये गये तर्क-वितर्कों का ऊहापोहपूर्वक विश्लेषण करके निष्कर्ष रूप में कवि के जीवन-वृत्त का उपस्थापन है। चौथे अध्याय में तुलसीदास की रचनाओं की पाठ-सम्बन्धी सामग्री का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। पांचवें अध्याय में तुलसीदास की कृतियों की प्रामाणिकता तथा उनकी प्रामाणिक रचनाओं के काल-क्रम का अनुसंधान किया गया है। छठे अध्याय में पूर्ववर्ती राम-साहित्य की संक्षिप्त विवेचना करके तुलसीदास के काव्य ग्रन्थों में अभिव्यक्त काव्यकला की व्यापक समीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा है। इस अध्याय में राम के निर्गुण-सगुण रूप, अवतार, उनकी शक्ति सीता, माया, संसार, जीव, मुक्ति-साधन आदि का सोदाहरण विवेचन है। अन्त में 'रामचरितमानस' के मुख्य आधार 'अध्यात्मरामायण' में निरूपित भक्ति-दर्शन-सम्बन्धी विचारों के

साथ तुलसीदास के तत्सम्बन्धी मतों का तुलनात्मक निरूपण किया गया है। परिशिष्ट में अनेक तिथियों की चक्रों और विधियों के अनुसार गणना की गयी है।

१३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०--१९०० ई०)

[१९४० ई०]

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०)' प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९४० ई० में डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, ने १९४१ ई० में इसी नाम से इसका प्रकाशन किया।

सम्पूर्ण प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। विषय-प्रवेश के अन्तर्गत आधुनिक रूप की विशेषताएं दिखाते हुए प्राचीन और नवीन रूप के बीच विभाजन-रेखा को स्पष्ट किया गया है और आलोच्य काल से पहले के साहित्य पर दृष्टिपात किया गया है। १८००–१८५० ई० में ईस्ट इन्डिया कम्पनी की नीति और फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना का वर्णन किया गया है। कालेज की स्थापना के पूर्व हिन्दी-गद्य का भी पर्यालोचन किया गया है।

दूसरे अध्याय 'पीठिका' में उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, राष्ट्रीय आदि परिस्थितियों का अनुशीलन है।

तीसरे अध्याय में गद्य का विवेचन है। राजा शिवप्रसाद से पहले हिन्दी की दशा पर विचार करने के अनन्तर उनके आगमन, उनके हिन्दी-भाषा-सम्बन्धी विचारों और उनकी रचनाओं की समीक्षा करके निष्कर्ष निकाले गये हैं। तदनन्तर मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ़ और देवकीनन्दन खत्री की भाषा को हिन्दुस्तानी भाषा का सच्चा रूप मानते हुए विवेचन किया गया है। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा स्वामी दयानन्द की भाषा और प्रभाव पर भी इसी अध्याय में विचार किया गया है। तदनन्तर निबन्ध, पत्र-पत्रिकाओं, जीवनी-साहित्य और साहित्यिक समालोचना का अध्ययन है।

चौथे अध्याय में हिन्दी-ईसाई-साहित्य का परिशीलन किया गया है। इस साहित्य का सृजन मुख्यतया ईसाई धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से हुआ। लेखक ने बतलाया है कि इस हिन्दी-ईसाई-साहित्य के मूल्यांकन में प्रायः अत्युक्ति

से काम लिया जाता है । वस्तुतः इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है । भाषा और शैली की दृष्टि से भी इस साहित्य का विवेचन किया गया है ।

पाँचवें अध्याय 'उपन्यास' में हिन्दी में उपन्यास-रचना के प्रेरक तत्त्वों का निर्देश किया गया है । सन् १८५७ के बाद उनकी वृद्धि के कारणों का भी उल्लेख है । तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों की विवेचना करने के अनन्तर अन्य हिन्दी-उपन्यासों की विशेषताओं का भी कथन किया गया है । उनकी नैतिक पीठिका, रचना-विधि तथा भाषा पर विचार किया गया है । बंगला, संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं से अनूदित उपन्यासों पर भी दृष्टि डाली गयी है ।

छठा अध्याय 'नाटक' है । पहले भारत में नाटकों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास दिखाया गया है। अध्येता हिन्दी-नाटकों की उत्पत्ति रासलीला और स्वांग से नहीं मानता । उसका विचार है कि सन् १८५० ई० से पहले हिन्दी में प्राप्त नाटक, नाटक कहलाने योग्य नहीं हैं । तदनन्तर भारतेन्दु तथा कुछ अन्य प्रमुख नाटककारों की रचनाओं का अनुशीलन किया गया है । नाट्य-साहित्य का शीघ्र ही पतन हुआ । इसका एक कारण जहां पारसी ढंग के नाटकों का जनता में अत्यधिक प्रचार था वहीं और भी अनेक कारण थे, उनका उल्लेख किया गया है। यहाँ प्रहसन-साहित्य पर भी दृष्टि डाली गयी है । तदुपरांत पारसी ढंग के नाटकों का विवेचन किया गया है। साथ ही संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं से अनूदित नाट्य-साहित्य की समीक्षा भी की गयी है ।

सातवें अध्याय 'कविता' में सर्वप्रथम प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति पर विचार किया गया है। इसके बाद कविता की नयी धारा के जन्म, स्वरूप और विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। इस कविता पर नवयुग के नवीन आन्दोलनों के अमित प्रभाव को स्पष्ट किया गया है । नयी कविता की वर्णनात्मक शक्ति एवं सजीवता का वर्णन किया गया है । किन्तु ये नये विचार भी प्राचीन रूपों में ही प्रस्तुत किये गये । लेखक ने नयी रचना-विधि के अभाव के कारणों का भी उल्लेख किया है ।

अन्त में उपसंहार के रूप में आलोच्य-काल का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसे प्राचीनता का त्यागी बतलाया गया है। काव्य-प्रवृत्तियों के विवेचन के साथ भविष्य की ओर भी संकेत है ।

परिशिष्ट में कविता की पुरानी धारा का विवेचन है ।

१४. आधुनिक काव्यधारा

[१६४० ई०]

पंडित केसरी नारायण शुक्ल का गवेषणात्मक प्रबन्ध 'आधुनिक काव्य-धारा' सन् १६४० ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन सन् १६४३ ई० में (सरस्वती मंदिर, जतनबर बनारस, से) हुआ। अब तक इसकी तीन आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। मूल प्रबन्ध अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया गया था। प्रकाशित ग्रन्थ उसी का रूपान्तर है।

यह ग्रन्थ तीन् खंडों में विभाजित है—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान और तृतीय उत्थान। आरम्भ में उपक्रम और अन्त में उपसंहार की योजना की गयी है। उपक्रम में शुक्ल जी ने आधुनिक काव्य की वृद्धिमती व्यापकता, उसकी महत्ता और उसके सांस्कृतिक अध्ययन की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। उसके उत्तर भाग में आधुनिक काव्य की भूमिका के रूप में रीतिकालीन काव्यधारा की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन है।

ग्रन्थ के प्रथम खंड में भारतेन्दु-युग का अनुशीलन है। तत्कालीन राज-नैतिक चेतना, आर्थिक स्थिति, देशभक्ति की भावना, सामाजिक परिस्थिति और धार्मिक अवस्था का निरूपण करके विषय, भाषा-शैली, छन्द आदि की दृष्टि से भारतेन्दु की कविता का अध्ययन किया गया है। द्वितीय खंड में आधु-निक हिन्दी कविता के द्वितीय उत्थान (द्विवेदी-युग) की समीक्षा है। इस खंड में तत्कालीन भाषा, छन्द, पदावली आदि की समस्याओं और आवश्यकताओं पर विचार करके उस युग की सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और प्राकृतिक कविता की विस्तृत विवेचना की गयी है। तृतीय खंड में द्विवेदी-उत्तर युग की हिन्दी-कविता का अनुशीलन है। आरम्भ में वर्तमान काव्य की स्वच्छन्दता-वादी, यथार्थवादी और अभिव्यंजनावादी प्रवृत्तियों तथा कवियों की काव्य-प्रक्रिया-सम्बन्धी विशेषताओं का संक्षिप्त विश्लेषण करके इस युग की रहस्यवादी, राष्ट्रीय, प्रेम-विषयक एवं प्रकृति-निरूपक कविताओं की व्यापक समालोचना की गयी है। उपसंहार में विषय, भाषा, छन्द, काव्यरूप और सौन्दर्य की दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी-कविता का मूल्यांकन किया गया है।

शुक्ल जी का यह ग्रंथ आधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियों की प्रगति और विकास पर प्रस्तुत किया गया पहला शोध-प्रबन्ध है। इसमें एकान्विति और धारावाहिकता का विशेष ध्यान रखा गया है। जीवन की विभिन्न धाराओं के अनुरूप, सांस्कृतिक दृष्टि से, आधुनिक कविता का परिशीलन इस प्रबन्ध की विशेषता है।

१५. हिन्दी-साहित्य (संवत् ७५०-१७५०) का आलोचनात्मक इतिहास

[१९४० ई०]

श्री रामकुमार वर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य (सं० ७५०-१७५० वि०) का आलोचनात्मक इतिहास' सन् १९४० ई० में नागपुर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। रामनारायण लाल, इलाहाबाद ने इसका पहला संस्करण १९३८ ई० में प्रकाशित किया। अब तक इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। यह प्रबन्ध मुद्रित रूप में ही उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था।

यह प्रबन्ध सात प्रकरणों में विभक्त है। आरम्भ में हिन्दी के विविध इतिहास-ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर हिन्दी-साहित्य की भाषा के विकास का सिंहावलोकन है। पहला प्रकरण 'सन्धि-काल' है, जिसमें सिद्ध और जैन-साहित्य का अनुशीलन किया गया है। सिद्ध-युग के अनेक सिद्ध कवियों का परिचय देते हुए सिद्ध-साहित्य के वर्ण्य विषय का विवेचन किया गया है। तदुपरान्त भाषा, रस और छन्द की दृष्टियों से इस साहित्य की समीक्षा की गयी है। इस साहित्य की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार जैन-साहित्य का परिशीलन भी हुआ है। दूसरे प्रकरण 'चारण-काल' में डिंगल-साहित्य का विवेचन किया गया है। अध्येता ने वर्ण्य विषय, भाषा, रस, छन्द तथा अन्य विशेषताओं का अध्ययन करते हुए डिंगल-साहित्य के ह्रास पर भी विचार किया है।

तीसरा प्रकरण 'भक्तिकाल की अनुक्रमणिका' है। इसमें भक्तिकाल की चारों प्रमुख शाखाओं—सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य, राम-काव्य और कृष्ण-काव्य—

का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आगे के चार प्रकरणों में इन्हीं का विस्तृत आलोचनात्मक इतिहास लिखा गया है। इस अध्याय में भक्तिकाल की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के लिये विभिन्न दार्शनिकों (आचार्यों) एवं उनके सिद्धान्तों की चर्चा भी की गयी है।

चौथे प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय 'सन्त-काव्य' है। इसमें सन्त-काव्य की अनेक कृतियों और कृतिकारों (विशेष रूप से कबीर) के परिचय के बाद वर्ण्य विषय, भाषा, रस, छन्द, तथा अन्य विशेषताओं की दृष्टि से सन्त-काव्य का सिंहावलोकन किया गया है। पांचवें अध्याय 'प्रेम-काव्य' में पहले सूफी धर्म के चिश्ती, सुहरावर्दी तथा कादरी सम्प्रदायों के प्रारम्भिक इतिहास का दिग्दर्शन कराया गया है। तदुपरान्त प्रेम-काव्य की रचनाओं और कवियों का (विशेष रूप से जायसी का) विवरण देते हुए, प्रेम-काव्य का अध्ययन किया गया है।

छठा प्रकरण 'राम-काव्य' है। इस अध्याय में किये गये विवेचन का अधिकांश भाग गोस्वामी तुलसीदास से सम्बद्ध है। तुलसी के पूर्ववर्ती रामभक्त कवि भगवत और चन्द से लेकर परवर्ती कवियों मैथिलीशरण गुप्त और बलदेव प्रसाद मिश्र तक की कृतियों का अनुशीलन करते हुए राम-काव्य का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। सातवें प्रकरण में अध्येता ने कृष्ण-काव्य का इतिहास लिखा है। इसमें कृष्ण-काव्य के प्रारम्भिक कवि जयदेव से प्रसूत होने वाली कृष्ण-काव्य-धारा के अध्येतव्य कवियों का अनुशीलन किया गया है। अध्याय के अन्त में कृष्ण-काव्य का सिंहावलोकन है। अन्त में धार्मिक काल के ह्रास पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

१६. मलिक मुहम्मद जायसी की अवधी के विशिष्ट सन्दर्भ में सोलहवीं शती की हिन्दी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

[१९४० ई०]

श्री लक्ष्मीधर को सन् १९४० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके शोधकार्य का विषय था 'ए लिंग्विस्टिक स्टडी ऑव् दि सिक्सटीन्थ सेन्चुरी हिन्दी विद् ए स्पेशल रेफ़रेन्स टु मलिक मुहम्मद जायसी'ज़ अवधी' (मलिक मुहम्मद जायसी की अवधी के विशिष्ट संदर्भ में

सोलहवीं शती की हिन्दी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन)। सन् १९४९ में लन्दन विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन निम्नांकित नाम से किया :

'ए लिंग्विस्टिक ऐन्ड कम्प्येरेटिव स्टडी ऑव् दि सिक्सटीन्थ सेन्चुरी हिन्दी विद् स्पेशल रेफ़रेन्स टु मलिक मुहम्मद जायसी'ज़ एपिक प्वोयम् पद्मावत'।

१७. बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी-साहित्य के विकास का अध्ययन

[१९४१ ई०]

श्री श्रीकृष्णलाल को 'बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी-साहित्य के विकास का अध्ययन' प्रस्तुत करने पर सन् १९४१ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई। मूल प्रबन्ध अंगरेज़ी में लिखा गया था। उसका हिन्दी रूपान्तर (किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ) 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास (१९००-१९२५ ई०)' के नाम से हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वारा सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुआ। अब तक इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं।

इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में आलोच्यकालीन साहित्य की भूमिका के रूप में उसकी साहित्यिक विशेषताओं, परिवर्तन के कारणों तथा उसकी प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है। दूसरे अध्याय में कविता की समीक्षा है। अध्याय के आरम्भ में रूढ़िगत परम्परा और उसके सीमित दृष्टिकोण के प्रति स्वच्छन्दवाद के विरोध एवं स्वच्छन्दवादी आन्दोलन के दार्शनिक, कलात्मक तथा साहित्यिक पक्षों का उद्घाटन है। तत्पश्चात् विषय और उपादान की दृष्टि से आधुनिक कविता की विवेचना की गयी है—मानव (ईश्वरावतार, देवी, देवता, महावीर और सामान्य मानवता), प्रेम, प्रकृति, राष्ट्र तथा अन्य विषय। अध्याय के उत्तरार्ध में काव्यरूपों (मुक्तक, प्रबन्ध, गीतिकाव्य, नाटककाव्य तथा गीत), छन्दोविधान, भाषा-शैली आदि की समालोचना है। तीसरे अध्याय में तत्कालीन हिन्दी-गद्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त निरूपण करके उसके शब्द-भंडार, उसकी जातीय शैली एवं गद्यलेखकों की व्यक्तिगत शैलियों का विवेचन है। चौथे अध्याय में आधुनिक नाटक की पूर्ववर्ती स्थिति का सिंहाव-

लोकन करके नाटक के कलारूप के विकास, नाटकीय विधानों में परिवर्तन, कथानक और चरित्र, तथा पांच वर्गों के अन्तर्गत (रोमांचकारी, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामयिक, उपादान-विषयक और प्रतीकवादी) नाटकों का अनुशीलन किया गया है। पांचवें अध्याय में उपन्यासकला का सैद्धान्तिक विवेचन करके उस काल के (कथाप्रधान, चरित्रप्रधान और भावप्रधान) हिन्दी-उपन्यासों की समीक्षा की गयी है। छठे अध्याय में कहानी के आरम्भ, विकास, वर्गीकरण, शैलियों आदि का अध्ययन है। सातवें अध्याय में निबन्ध-साहित्य और सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा गवेषणात्मक समालोचना की समालौचना है। उपसंहार में बीसवीं शती के प्रथम पचीस वर्षों में निर्मित हिन्दी के विविधविषयक साहित्य की इयत्ता और इद्दक्ता का मूल्यांकन है।

श्रीकृष्ण लाल जी का यह प्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास के क्रमबद्ध अध्ययन का दूसरा ग्रन्थ है। यही एक गवेषणात्मक प्रबन्ध है जिसमें बीसवीं शती के प्रथम चरण के हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है।

१८. छन्दःशास्त्र को हिन्दी-कवियों की देन

[१९४२ ई०]

(स्व०) श्री जानकीनाथ सिंह 'मनोज' का शोध-प्रबन्ध 'छन्दःशास्त्र को हिन्दी कवियों की देन' सन् १९४२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

इस ग्रन्थ में पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दःशास्त्र-विषयक ग्रन्थों का विवेचन किया गया है—विशेषकर उन ग्रन्थों का जो हिन्दी छन्दःशास्त्र के आधार हैं। दूसरे अध्याय में हिन्दी-छन्दःशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों का विवरण और तत्सम्बन्धी साहित्य की सामान्य परीक्षा की गयी है। तीसरे अध्याय में छन्द के दृष्टि-बिन्दु से हिन्दी के महत्वपूर्ण कवियों की कृतियों का पर्यालोचन किया गया है, प्रतिपाद्य विषय, रस और अलंकार के साथ छन्दों के सम्बन्ध की विवेचना की गयी है, हिन्दी-कवियों की मौलिक रीति का अध्ययन किया गया है और काव्य में हिन्दी-कवियों द्वारा प्रयुक्त नये छन्दों

की सूची दे दी गयी है ।

चौथे अध्याय में छन्दों का वर्गीकरण किया गया है और छन्दःशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले हिन्दी-लेखकों द्वारा उपस्थापित नये छन्दों की खोज की गयी है । पांचवें अध्याय में हिन्दी के सवैया छन्द का विश्लेषण किया गया है और अन्त में बीसवीं शती की कविता की मुख्य प्रवृत्तियों और उसके अध्ययन के आधार पर निष्कर्षों की स्थापना की गयी है ।

१६ मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन

[१९४३ ई०]

श्री छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' को उनके शोध-प्रबन्ध 'साइकॉलॉजिकल स्टडीज़ इन रस' (मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन) पर सन् १९४३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई । अंग्रेजी में ही लिखित ग्रन्थ 'साइकॉलॉजिकल स्टडीज़ इन रस' के नाम से ही सन् १९५० ई० में प्रकाशित हुआ । इसका प्रकाशन, लेखक की ओर से, श्रीमती तारावती गुप्त (द्वारा बाबू लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, मानसिंह गेट, अलीगढ़) ने किया ।

यह ग्रन्थ दो खंडों में विभक्त है । पहले खंड में आस्वादरूप रस का विवेचन है । इस खंड में चार अध्याय हैं । पहले अध्याय में भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक बीस भारतीय काव्यशास्त्रियों के काव्य-लक्षण और अरिस्तू से लेकर रामचन्द्र श्रीवास्तव तक तीस पाश्चात्य विचारधारा के समीक्षा-शास्त्रियों की काव्य-परिभाषाएं देकर काव्य-लक्षण का अध्ययन किया गया है ।

दूसरे अध्याय का विवेच्य विषय है प्रत्यक्षानुभूति और काव्यरसास्वादन । पहले अध्याय में काव्य के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विचार करके लेखक ने इस अध्याय में काव्य के प्रत्यक्ष और उसके रसास्वादन के रहस्यों के अनुसंधान का प्रयास किया है । संस्कृत में रसास्वाद-विवेचन के प्रसिद्ध आचार्यों भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्तों का विवेचन करके अपने रसास्वाद-विषयक सिद्धान्त की स्थापना की है । लेखक का अभिमत है

कि जहां तक काव्य का सम्बन्ध है 'रुचि' और 'आस्वाद' एक दूसरे के पर्याय हैं। जब रुचि सक्रिय रूप धारण कर लेती है तब उसे आस्वाद कहते हैं। आस्वाद रुचि की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव यदि कोई काव्यकृति हमें रुचिकर प्रतीत होती है तो हम उसका रसास्वादन भी करते हैं। क्यों कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रकार की रचना में रुचि रखता है—इसका उत्तर उस व्यक्तिविशेष के वंश-परम्परा-प्राप्त गुणों और वातावरण के आधार पर दिया जा सकता है।

तीसरे अध्याय में काव्य-रसास्वादन के अंगभूत मनोभावों का वर्गीकरण और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। समस्त मनोभाव छः वर्गों में रखे गये हैं—सिम्पैथेटिक, ऐन्टिपैथेटिक, रिकलेक्शनल, क्यूरियासिटी, रिफ्लेक्शनल और क्रिटिकल। लेखक की मान्यता है कि काव्यरसास्वाद उपर्युक्त छः प्रकार के भावों का ही परिणाम है, वह उनसे भिन्न कुछ नहीं है। उसे अलौकिक अनिर्वचनीय अथवा परप्रत्यक्षगम्य आदि कहना अयथार्थ है। चौथे अध्याय में काव्य रसास्वाद के कारणभूत तत्वों—आस्वादित काव्य, वातावरण और आस्वाद-कर्त्ता—का अनुशीलन किया गया है।

ग्रन्थ के दूसरे खंड में भी चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में फ़ीलिंग, एमोशन और सेन्टिमेन्ट का विवेचन है। दूसरे में स्थायी और संचारी भावों की व्याख्या है। तीसरे अध्याय में विभावों और अनुभावों का अध्ययन है। चौथे अध्याय में भावों और रसादि का वर्गीकरण किया गया है। प्रबन्ध के अन्त में रसदोष पर चार पृष्ठों का एक संक्षिप्त परिशिष्ट भी जोड़ दिया गया है।

२०. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन

[१९४३ ई०]

श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का प्रबन्ध 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' सन् १९४३ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। सरस्वती मंदिर, जतनबर, बनारस, ने इसका प्रकाशन सं० २००० वि० में किया। इस ग्रन्थ की अनेक आवृत्तियां निकल चुकी हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। सबसे पहले प्रसाद की नाट्य-कृतियों का काल-क्रम दिया गया है। पहला अध्याय 'एकांकी रूपक' है। अध्येता का मत है कि यह प्रसाद का परीक्षा-काल था। इस काल में नाटक-सृजन का उनका अभिप्राय यही था कि स्थिर होकर कौनसा ढंग पकड़ना चाहिए। इसके बाद 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'कल्याणी-परिणय' और 'करुणालय' का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय में पहले 'राज्यश्री' के इतिहास का विवेचन है। इसके बाद राज्यश्री के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। तदुपरांत 'राज्यश्री' के नवीन संस्करण का प्राचीन संस्करण से तुलनात्मक अध्ययन है। अनुसन्धाता का विचार है कि नाटक का चतुर्थ अंक अनावश्यक है। 'राज्यश्री' की रचना-पद्धति पर भी विचार किया गया है। हर्षवर्द्धन, शांतिदेव, सुरमा तथा अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण का अध्ययन किया गया है।

तीसरे अध्याय में 'अजातशत्रु' का अनुशीलन है। अध्याय के आरम्भ में 'अजातशत्रु' के ऐतिहासिक इतिवृत्त का विवेचन है। तदनन्तर नाटक के ऐतिहासिक आधार का संक्षिप्त निर्देश करके उसके कथानक, कार्यावस्थाओं, चरित्र-चित्रण, विदूषक और अंतर्द्वन्द्व का अध्ययन किया गया है। चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत अजातशत्रु, बिंबसार, विरुद्धक, मल्लिका, मागन्धी, छलना और शक्तिमती के चरित्रांकन का अनुशीलन है। अन्त में नाटक के नायक और नामकरण तथा रस पर विचार किया गया है।

चौथे अध्याय का आलोच्य 'स्कंदगुप्त' है। इस अध्याय में भी पहले ऐतिहासिक कथावस्तु का अध्ययन है। 'साधारण परिचय' के अन्तर्गत अध्येता ने अपना मत व्यक्त किया है कि रचनापद्धति और नाटकीय गुण के विचार से 'स्कंदगुप्त' प्रसाद का सर्वोत्तम नाटक है। तत्पश्चात् वस्तुतत्त्व, कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, संधियों, चरित्र-चित्रण (स्कंदगुप्त, देवसेना, पर्णदत्त, बंधुवर्मा, जयमाला, विजया, शर्वनाग, अनन्तदेवी तथा अन्य पात्र), रस आदि का विवेचन करते हुए नाटक की विशेषता (भारतीय एवं पाश्चात्य शैली का समन्वय) का प्रतिपादन किया गया है।

पांचवां अध्याय 'चन्द्रगुप्त' है। पहले नाटक के ऐतिहासिक आधार का अध्ययन है। इसके बाद कथानक, सांविधानिक सौष्ठव और काल-विस्तार, अंक और दृश्य, आरम्भ और फलप्राप्ति, कार्य की अवस्थाएं, अर्थप्रकृतियां और सन्धियां शीर्षकों के अन्तर्गत नाटक की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। तदनन्तर

नाटक के नायक पर विचार करते हुए अनुशीलक ने चन्द्रगुप्त को ही नायक माना है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, सुवासिनी, कल्याणी, कार्नेलिया और मालविका तथा अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विचार किया गया है। अन्त में नाटक के रस, कथोपकथन, देशकाल तथा राष्ट्र-भावना का अध्ययन है।

छठा अध्याय 'ध्रुव स्वामिनी' है। ऐतिहासिक वस्तु, कथा, वस्तुतत्त्व, अंक और दृश्य, आरम्भ, कार्य-व्यापार की तीव्रता और फलप्राप्ति, कार्य की अवस्थाएं, चरित्रांकन (कोमा, रामगुप्त, शिखरस्वामी, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि), संवाद आदि का विवेचन करते हुए नाटक की विशेषताओं, पद्धति की नवीनता, अभिनयात्मकता तथा समस्या (नारीसमस्या)-युक्तता पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में नाटकगत रस का अध्ययन किया गया है।

सातवें अध्याय 'अन्य रूपक' में 'एक घूंट', 'विशाख', 'कामना' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' का (इतिहास, चरित्रांकन, देशकाल आदि की दृष्टि से) शास्त्रीय अध्ययन किया गया है।

आठवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है। इस अध्याय में कथानक, पात्र, संवाद, रस, देशकाल, गान, अभिनेयता, भाषा-शैली, आधुनिकता, दार्शनिक विचारधारा, तथा भारतीय एवं पाश्चात्य शैली की दृष्टि से प्रसाद की नाट्यकला का व्यापक अध्ययन किया गया है।

२१. बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास

[१९४३ ई०]

श्री नलिनी मोहन सान्याल को उनके प्रबन्ध 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' पर सन् १९४३ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

२२. वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों (विशेषकर परमानन्ददास और नन्ददास) का अध्ययन

[१९४४ ई०]

श्री दीनदयालु गुप्त को उनके प्रबन्ध 'वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों (विशेषकर परमानन्ददास और नन्ददास) का अध्ययन' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९४४ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से सं० २००४ में हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में चार और द्वितीय भाग में तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय पृष्ठभूमि के रूप में लिखा गया है। इस अध्याय में सबसे पहले अष्टछाप-काव्य की जन्मस्थली ब्रजभूमि का भौगोलिक परिचय दिया गया है। इसके बाद तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्थाओं का विवरण देते हुए अष्टछाप-काव्य की पृष्ठभूमि निर्दिष्ट की गयी है। तदनन्तर विष्णुस्वामी, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, राधावल्लभीय, हरिदासी, वल्लभ आदि सम्प्रदायों एवं उनके आचार्यों (मुख्य रूप से वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसारकों) का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

दूसरे अध्याय 'अध्ययन के सूत्र' में अष्टछाप-कवियों की जीवनी तथा रचनाओं के अध्ययन की आधारभूत सामग्री और अष्टछाप-काव्य में कवियों की जीवनी तथा रचना के आत्मविषयक उल्लेख पर विचार किया गया है। इसके बाद प्राचीन बाह्य आधार के रूप में कवियों की जीवनी से सम्बद्ध साहित्य तथा इतिहास-ग्रन्थों और जन-श्रुतियों का अनुशीलन किया गया है। आधुनिक बाह्य आधारों की प्रामाणिकता एवं महत्ता संदिग्ध है, फिर भी गौण सामग्री के रूप में उसकी भी उपयोगिता है। अतएव उस सामग्री का भी अपेक्षित अध्ययन किया गया है।

तीसरा अध्याय अष्टछाप कवियों के जीवन-चरित से सम्बद्ध है। इस अध्याय में गुप्तजी ने अत्यन्त अध्यवसायपूर्वक सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी तथा छीतस्वामी की जीवन-वृत्त-विषयक उपलब्ध समस्त सामग्री का गवेषणापूर्ण अध्ययन करके उनका प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अध्याय में अष्टछाप कवियों के ग्रन्थों का निर्धारण किया गया है।

अष्टछाप के इन कवियों के नाम पर अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें से कुछ रचनाएं तो इनके द्वारा लिखी ही नहीं गयीं और कुछ अनुपलब्ध हैं। इस अध्याय में अष्टछाप-कवियों के ग्रन्थों की प्रामाणिक परीक्षा करते हुए उनका निर्णय किया गया है।

पांचवें अध्याय में अष्टछाप कवियों के दार्शनिक विचारों का उपस्थापन किया गया है। इस अध्याय में सबसे पहले शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद अथवा पुष्टिमार्ग का परिचय दिया गया है। इसके उपरान्त ब्रह्म, जीव, जगत् का स्वरूप, माया, मोक्ष, गोलोक, गोकुल अथवा बृन्दावन (निजधाम), रास तथा गोपी आदि शीर्षकों के अन्तर्गत सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त प्रस्तुत करके अष्टछाप के कवियों के दार्शनिक विचारों की विवेचना की गयी है।

छठा अध्याय 'भक्ति' का है। इस अध्याय में पहले वल्लभाचार्य जी की पुष्टि-भक्ति पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् श्री विट्ठलनाथ के समय में वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति का अध्ययन किया गया है, तब अष्टछाप भक्ति का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसके बाद भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। भक्ति के विविध भावों (भक्ति के प्रकारों) की विवेचना की गयी है। इसी अध्याय में विस्तार से अष्टछाप के कवियों की भक्ति का अनुशीलन नारदभक्तिसूत्र के प्रकाश में किया गया है। अन्त में अष्टछाप-भक्ति की अन्य विशेषताओं का अनुसन्धान किया गया है।

सातवें अध्याय में परमानन्ददास और नन्ददास के काव्य-प्रयास की (काव्यकौशल, भाषाशैली और छन्द आदि की दृष्टि से) विशद समीक्षा की गयी है। परिशिष्ट में सोरों में प्राप्त नन्ददास की जीवनबृत्त-विषयक सामग्री भी संकलित कर दी गयी है।

२३. मैथिली भाषा की रूपरचना

[१९४४ ई०]

श्री सुभद्र झा का प्रबन्ध 'मैथिली भाषा की रूपरचना' सन् १९४४ ई० में पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में सोलह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रस्तावना है। इसमें

मैथिली और उसके नाम, क्षेत्र, सीमा, उपबोलियां तथा उनके क्षेत्र, विशेषताएं, कतिपय आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के साथ मैथिली की तुलना, उनमें मैथिली के स्थान, मैथिली के उद्भव, महत्व, बोलने वालों की संख्या, मैथिली साहित्य, अध्ययन की सामग्री, मैथिली के विकास के तीन कालों, मैथिली की लिपि, प्रस्तुत अध्ययन की सीमाओं आदि पर प्रकाश डाला गया है । इस अध्याय के दो परिशिष्टों में मैथिली की विभिन्न उपबोलियों के उद्धरण एवं बंगला और मैथिली लिपि की तुलासारणी भी दे दी गयी है । दूसरे अध्याय में स्वरों, तीसरे अध्याय में व्यंजनों, चौथे अध्याय में उपसर्ग-प्रत्ययों, पांचवें अध्याय में संज्ञाओं के रूपों, छठे अध्याय में विशेषणों, सातवें अध्याय में संख्यावाचक विशेषणों, आठवें अध्याय में सर्वनामों, नवें अध्याय में क्रियारूपों, दसवें अध्याय में क्रिया-विशेषणों, ग्यारहवें अध्याय में संयोजक अव्ययों और बारहवें अध्याय में विस्मयादिबोधक अव्ययों का अध्ययन किया गया है ।

तेरहवें अध्याय में द्वित्तकों (संज्ञाओं, विशेषणों, सर्वनामों, क्रियाओं, क्रिया-विशेषणों, संख्यावाचक विशेषणों, विस्मयादिबोधक अव्ययों, प्रतिध्वनि शब्दों तथा समस्त शब्दों और वाक्यों) का अनुशीलन है। चौदहवें अध्याय में बलात्मक रूपों की मीमांसा है । पंद्रहवें अध्याय में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, सामानाधिकरण्य, क्रिया, धातुसाधित विशेषण, शब्दक्रम, अन्वय, वाक्यांश, मुहावरा आदि शीर्षकों के अन्तर्गत वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से मैथिली की समीक्षा की गयी है ।

सोलहवें अध्याय में अर्थविज्ञान की दृष्टि से मैथिली का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है । इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं :—विशिष्टीकरण, भेदीकरण, अर्थापकर्ष, अर्थोत्कर्ष, मूर्तीकरण और अमूर्तीकरण, अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार, रूपक, अनेकार्थता, समस्त संज्ञाएं, नामकरण, शब्दों के प्रयोग में शिथिलता आदि । अन्त में मैथिली के उन शब्दों की एक सूची भी दे दी गयी है जिनमें अर्थ-परिवर्तन हुआ है ।

२४. बिहार के सन्तकवि दरियासाहब

[१९४४ ई०]

श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी को 'बिहार के सन्तकवि दरियासाहब' का अध्ययन प्रस्तुत करने पर पटना विश्वविद्यालय ने सन् १९४४ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। उनका यह प्रबन्ध 'सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन' के नाम से सन् १९५४ ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सम्मेलन भवन, पटना-३ से प्रकाशित हुआ।

यह प्रबन्ध पांच खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में दरियासाहब का जीवनचरित दिया गया है। द्वितीय परिच्छेद में मध्यकालीन सुधारकों में दरियासाहब का स्थान निर्धारित किया गया है। तृतीय परिख्छेद में दरियापंथ की व्यापकता, सदस्यता, रीति-रस्म, मठों आदि का वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दरियासाहब की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय है।

दर्शन और अध्यात्म-विषयक द्वितीय खंड में अठारह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में संतमत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की गयी है। द्वितीय परिच्छेद में दरियासाहब के अनुसार सत्पुरुष के नाम, नाममहिमा, निर्गुण और निर्गुण-रूप, विभूतियां, सर्वव्यापकता, मूर्तिपूजा की निन्दा, जगत् की अनेकता में सत्पुरुष की एकता, ईश्वर-अंश आत्मा, अद्वैतवाद आदि का निरूपण है। तृतीय परिच्छेद में जीव का, चतुर्थ परिच्छेद में शरीर का, पंचम परिच्छेद में पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त का, षष्ठ परिच्छेद में मुक्ति का, सप्तम परिच्छेद में स्वर्ग और नरक का, अष्टम परिच्छेद में पिपीलकयोग और विहंगमयोग का, नवम परिच्छेद में दिव्य दृष्टि का, दशम परिच्छेद में सृष्टि-विज्ञान का, एकादश परिच्छेद में माया का, द्वादश परिच्छेद में ज्ञान और भक्ति का, त्रयोदश परिच्छेद में सत्पुरुष और गुरु के प्रति प्रेम का विवेचन है। चतुर्दश परिच्छेद में दरियापंथ के अनुसार आत्मा-नुशासन के मुख्य नियमों (सत्यवादिता, निष्कपटता, मद्यादिपरिहार, अहिंसा, इन्द्रियनिरोध, निरहंकारता, स्वयमारोपित निर्धनता) की व्याख्या है। पंचदश परिच्छेद में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, जातपांत और साम्प्रदायिकता, वेद और कुरान, 'भेख' और 'कर्मकांड', तथाकथित योग आदि से सम्बन्ध रखने वाले अन्ध-विश्वासों, दुराग्रहों, निरर्थक रीति-रस्मों के विरोधी (दरियासाहब के) विचारों की चर्चा है। षोडश परिच्छेद में संत और सत्संग, सप्तदश परिच्छेद में सद्गुरु

और शब्द तथा अष्टादश परिच्छेद में स्वरोदय का (दरियासाहब के अनुसार) अध्ययन है।

तृतीय खंड में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में कबीर और दरिया का तुलनात्मक दिग्दर्शन है। द्वितीय परिच्छेद में तुलसीदास और दरियासाहब ('रामचरितमानस' और 'ज्ञानरत्न') का तुलनात्मक अध्ययन है। तृतीय परिच्छेद में कथावस्तु और काव्यवस्तु, भावविन्यास (रस, चरित्र-चित्रण, वर्णनात्मक प्रतिभा, कल्पनोत्कर्ष), भाषासौष्ठव और रचनाशैली शीर्षकों के अन्तर्गत दरिया साहब के कवित्व की आलोचना है।

चतुर्थ खंड के चार परिच्छेदों में दरियासाहब की भाषा (वर्णविन्यास, ध्वनि और ध्वनि-प्रक्रिया, शब्दावृत्ति एवं वाक्य-विन्यास) का अनुशीलन किया गया है। पंचम खंड में मूल ग्रन्थों से उद्धरण भी दे दिये गये हैं।

२५. सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन

[१९४५ ई०]

प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९४५ ई० में श्री ब्रजेश्वर वर्मा को उनके अनुसन्धान-ग्रन्थ 'सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन' पर उन्हें डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की। हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसका दूसरा संस्करण सन् १९५० ई० में प्रकाशित हुआ। दूसरे संस्करण में कुछ अध्यायों की सामग्री में थोड़े-बहुत परिवर्द्धनों के साथ क्रम-परिवर्तन भी किया गया। अनेक स्थलों पर तुलनात्मक अध्ययन, उद्धरण आदि भी जोड़े गये। और इस प्रकार ग्रन्थ को अधिक परिपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में तेरह अध्याय हैं। पहले अध्याय में सूरदास के जीवनवृत्त (सूरदास के समय, नाम, जाति, वंश, स्थान आदि) का संक्षिप्त निरूपण करके सूर-सम्बन्धी अध्ययन की सामग्री (सूरदास की रचनाओं, वार्ताओं, भक्तमाल, भक्तनामावली आदि अनेक ग्रन्थों) की परीक्षा की गयी है। दूसरे अध्याय में सूरदास की प्रामाणिक कृतियों—'सूरसागर', 'सूरसागर सारावली', एवं 'साहित्य लहरी'—का आलोचनात्मक अनुशीलन किया गया है। तीसरे अध्याय

में सामयिक परिस्थितियों पर विचार करके सूरदास की भक्ति की समीक्षा की गयी है। चौथे अध्याय में सूरदास के इष्टदेव, उनके निर्गुण और सगुण रूपों, उनके भक्त-वात्सल्य आदि गुणों, उनकी शक्तिरूपा राधा आदि का विवेचन किया गया है। पांचवें अध्याय की आलोच्य वस्तु सूर का भक्तिधर्म है। इसके अन्तर्गत भक्ति की महत्ता और उसके स्वरूप की विवृति करके भक्ति के साधनों और फल का निरूपण किया गया है। छठे अध्याय में सूर के काव्य में अभिव्यक्त भक्ति के पांच प्रकारों—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—की व्याख्या की गयी है। सातवें अध्याय के तीन विभागों में सूर के काव्य में विन्यस्त वस्तु का अध्ययन किया गया है। पहले विभाग में स्फुटपद-गत राम-कृष्ण-विषयक वस्तु तथा दूसरे विभाग में खण्ड-कथानकों की कथावस्तु की विवेचना की गयी है। तीसरे विभाग में सूर के काव्य में अंकित कृष्णचरित का व्यापक पर्यवेक्षण है। आठवें अध्याय में सूरदास के प्रधान पात्रों (कृष्ण, बलराम, राधा, यशोदा और नन्द) के चरित्र-चित्रण का विश्लेषण है। नवें अध्याय में यशोदा की सखियों, रोहिणी, देवकी, चन्द्रावली आदि स्त्रियों के स्वभाव, बालकों की प्रकृति एवं वसुदेव, अक्रूर, उद्धव आदि पुरुषों के स्वभाव का अध्ययन है। दसवें अध्याय में सूर की भाषानुभूति और उनके भाव-चित्रण की समालोचना है। निर्वेद, दास्य, वात्सल्य, सख्य और शृंगार से सम्बन्ध रखने वाले भावों तथा सूर के काव्य में उनकी रमणीय अभिव्यंजना का अनुशीलन है। ग्यारहवें अध्याय में मानव, प्रकृति और समाज के विविध रूपों का चित्र अंकित करने में सूर ने जिस सौन्दर्यानुभूति और वर्णन-वैचित्र्य का परिचय दिया है, उसका विश्लेषण किया गया है। बारहवें अध्याय में सूर की कल्पना-सृष्टि और अलंकार-विधान का विवेचन है। अन्तिम अध्याय में उनकी भाषा-शैली और छन्दोविधान की (विविध दृष्टियों से) आलोचना की गयी है।

२६. भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति और विकास

[१९४५ ई०]

श्री उदयनारायण तिवारी को उनके शोध-प्रबन्ध 'भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति और विकास' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९४५ ई० में डी०-लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई। मूल प्रबन्ध अंगरेजी में लिखा गया था। उसका हिन्दी

अनुवाद करते समय लेखक ने भोजपुरी-सम्बन्धी नवीनतम गवेषणाओं से उपलब्ध सामग्री का समावेश करके मूल प्रबन्ध में परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया। ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाने के लिए भोजपुरी-साहित्य-विषयक अध्ययन भी जोड़ दिया गया। इस प्रकार परिवर्तित और परिवर्धित ग्रन्थ 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' के नाम से सन् १९५४ ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में दो सौ सत्ताइस पृष्ठों का 'उपोद्घात' है जिसमें संसार की भाषाओं और विशेषकर आधुनिक आर्यभाषाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का संक्षिप्त विवेचन करके हिन्दी की ग्रामीण बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। मुख्य ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में भोजपुरी के नामकरण, सजीवता, उसमें साहित्य के अभाव, उसके विस्तार, उसकी बोलियों, शब्दकोश, भोजपुरी संस्कृति तथा भाषाभाषियों की विचार-चर्चा है। दूसरे अध्याय में कबीर, धरमदास, शिवनारायण, धरनीदास और लक्ष्मी सखी की भोजपुरी रचनाओं, भोजपुरी के लोकगीत-संग्रहों तथा विसराम, तेगअली, रामकृष्ण वर्मा, दूधनाथ उपाध्याय, रघुवीर नारायण, भिखारी ठाकुर, मनोरंजन प्रसाद सिनहा, रामविचार पांडेय, प्रसिद्ध नारायणसिंह, श्याम विहारी तिवारी, चंचरीक, रणधीरलाल श्रीवास्तव, स्वामी जगन्नाथदास और अशान्त—इन आधुनिक कवियों एवं फुटकर पद्य-पुस्तिकाओं का अध्ययन-परिचय है। अध्याय के अन्त में भोजपुरी गद्य, विशेषकर नाटकों की चर्चा है।

द्वितीय खण्ड में भोजपुरी व्याकरण का अनुशीलन है। इस खण्ड के दो विभाग हैं। प्रथम विभाग के दस अध्यायों में ध्वनि-तत्व की विवेचना की गयी है। पहले अध्याय में भोजपुरी ध्वनियों (व्यंजनों और स्वरों) का, दूसरे अध्याय में प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के स्वरों के भोजपुरी में परिवर्तन का, तीसरे अध्याय में आदि स्वरों का, चौथे अध्याय में शब्द के मध्य के स्वरों का, पांचवें अध्याय में भोजपुरी के भीतरी स्वरों की अक्षुण्णता का, छठे अध्याय में सम्पर्क-स्वरों का, सांतवें अध्याय में स्वरागम का, आठवें अध्याय में भोजपुरी स्वरों की उत्पत्ति का, नवें अध्याय में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के व्यंजन-परिवर्तन के सामान्य रूपों का तथा दसवें अध्याय में भोजपुरी व्यंजनों की उत्पत्ति का अध्ययन किया गया है।

द्वितीय विभाग के सात अध्यायों में भोजपुरी भाषा के रूप-तत्व की विवेचना

है। पहले अध्याय में भोजपुरी के प्रत्यय उपसर्गों का, दूसरे अध्याय में समास-रचना का, तीसरे अध्याय में संज्ञा-रूपों का, चौथे अध्याय में विशेषणों का, पांचवें अध्याय में सर्वनामों का, छठे अध्याय में क्रियापदों का और सातवें अध्याय में अव्ययों का अध्ययन है। परिशिष्ट में भोजपुरी के दो सोहर, कुछ पुराने कागजपत्र और आधुनिक भोजपुरी के विविध रूपों के उद्धरण भी दे दिये गये हैं जो भोजपुरी भाषा के स्वरूप और प्रवृत्ति को समझने में सहायक हैं।

२७. हिन्दी अर्थ-विज्ञान

[१९४५ ई०]

डा० हरदेव बाहरी का प्रबन्ध 'हिन्दी अर्थविज्ञान' सन् १९४५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भूमिका के अतिरिक्त कुल दस अध्याय हैं। भूमिका में अर्थविज्ञान के अर्थ और उसके महत्व को स्पष्ट करते हुए विषय के विस्तार और अध्ययन के स्रोतों पर प्रकाश डाला गया है।

पहले अध्याय का सम्बन्ध 'ध्वनि और अर्थ' से है। प्रारम्भ में दोनों के सम्बन्ध का तात्विक विवेचन है। फिर ध्वनि के अर्थ और ध्वन्यर्थव्यंजना को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है।

दूसरे अध्याय में अर्थ के विकास का विवेचन है। इसमें उपसर्ग तथा प्रत्यय जनित विस्तार पर भी विचार किया गया है। साथ ही अर्थपरिवर्तन के लिए होने वाले ध्वनिपरिवर्तनों पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने अर्थविज्ञान के संदर्भ में विभिन्न प्रकार की सामासिक तथा अन्य सन्धियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

तीसरा अध्याय 'अनेकार्थता' का है। इस अध्याय में दो खंड हैं। अनेकार्थता तथा अनेकार्थक शब्दों के वर्गीकरण के पश्चात् अर्थाधिक्य पर प्रकाश डालते हुए अनेकार्थता के मूलभूत कारणों की विवेचना की गयी है। इसी खंड में समध्वनीय भिन्नार्थक दिखाई पड़ने वाले शब्दों का भी अध्ययन है जिनसे इन दोनों का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अन्त में शब्दश्लेष पर विचार किया गया है।

दूसरे खंड में अनेकार्थता के कारण किसी भाषा के शब्द-समूह की सम्पन्नता, उसके कारण उद्भूत अस्पष्टता, शब्द-मृत्यु, अर्थ-दूषण एवं नवनिर्मित शब्दरूप में भाषा पर पड़ने वाले अनेकार्थता के प्रभावों का सम्यक् मूल्यांकन किया गया है।

चौथा अध्याय समानार्थी तथा पर्यायवाची शब्दों का है। इसमें समानार्थी शब्दों की प्रकृति का विवेचन करते हुए लेखक ने उनके विभिन्न स्रोतों की छान-बीन की है। साथ ही इस श्रेणी के शब्दों को किस प्रकार के उत्थान-पतन देखने पड़ते हैं—इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

पांचवें अध्याय का सम्बन्ध अर्थसम्बन्धी विभिन्नता के लिए आवश्यक परिस्थितियो या शर्तो से है। यहां इन्हें तीन भागों में बांटा गया है—मनो-वैज्ञानिक, तार्किक और आकृतिक या भाषातात्विक। अन्त में इन तीनों का सम्यक् विवेचन भी किया गया है।

छठे अध्याय में अर्थ की महत्वपूर्ण विभिन्नताओं पर प्रकाश डाला गया है। आरम्भ में इनका वर्गीकरण है और फिर 'संकोचीकरण' 'सामान्यीकरण' 'अर्थदिशीकरण' तथा परिवर्तन की अनेकता का विवेचन किया गया है।

सातवें अध्याय का सम्बन्ध भाषा के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों और मुहावरों के अर्थवैज्ञानिक अध्ययन से है। आरम्भ में लेखक ने प्रयोगों और मुहावरों का ऐतिहासिक विकास दिखलाते हुए भावाभिव्यक्ति आदि की दृष्टि से उनके महत्व का मूल्यांकन किया है। सामान्य विवेचन के बाद हिन्दी-मुहावरों को लिया गया है। पहले उनकी प्रकृति का अध्ययन है, फिर उन आधारों की गहराई से छानबीन की गयी है जिनपर हिन्दी मुहावरे आधृत हैं। अन्त में लेखक ने हिन्दी के मुहावरों के अर्थविज्ञान पर आधृत वर्ग बनाये हैं। इसी अध्याय में लोकोक्तियों को भी लिया गया है और उनका अर्थविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

आठवें अध्याय में भाषा के आलंकारिक प्रयोग की सामान्य प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए हिन्दी के आलंकारिक प्रयोगों की विवेचना की गयी है।

नवें अध्याय में व्याकरण के सभी रूपों की अर्थविज्ञान की दृष्टि से व्याख्या है। आरम्भ में 'रूप' और 'अर्थ' पर प्रकाश डाला गया है। फिर संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, उपसर्ग, संयोजक, विस्मयादिबोधक, क्रिया आदि को अलग-अलग लेकर उनकी विवेचना है।

दसवें अध्याय में वाक्यगठन के संदर्भ में अर्थ का अध्ययन है। पहले वाक्य-

विज्ञान का निरूपण है। आगे चलकर संदर्भ के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वाक्य के विभिन्न रूपों को लिया गया है। इस अध्याय में वाक्य में शब्दक्रम पर भी विचार किया गया है और अन्त में वाक्यगठन के परिवर्तन के ध्वन्यात्मक माध्यमों (फ़ॉनेटिक मीन्स) का अध्ययन है।

२८. ऋषि बरकत उल्लाह् पेमी कृत 'पेम प्रकाश' का अनुसन्धान, सम्पादन और अध्ययन

अथवा

हिन्दी साहित्य को शाह बरकत उल्लाह् की देन

[१९४५ ई०]

(स्व०) श्री लक्ष्मीधर शास्त्री को उनके शोधप्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य को शाह बरकत उल्लाह् की देन' पर पंजाब विश्वविद्यालय से सन् १९४५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। कुछ विद्वानों ने बतलाया कि डॉक्टरेट के लिए स्वीकृत प्रबन्ध था 'ऋषि बरकत उल्लाह् पेमी कृत 'पेम प्रकाश' का अनुसन्धान, सम्पादन और अध्ययन।' अंग्रेजी में प्रकाशित ग्रन्थ का शीर्षक है 'शाह बरकत उल्लास' कन्ट्रिब्यूशन टु हिन्दी लिटरेचर।' इसका प्रकाशन सन् १९४९ ई० में हुआ। प्रकाशक हैं इण्डियन पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली। मुद्रित ग्रन्थ की एक अवेक्षणीय विशेषता यह है कि शोध का मुख्य विषय 'पेम प्रकाश' दो लिपियों (देवनागरी और फ़ारसी) में छपा है। पेमी जी की दूसरी कृति 'अवारिफ़े हिन्दी' की हिन्दी कहावतों पर उनकी फ़ारसी टिप्पणी भी (संक्षेप में) ग्रन्थ के अन्त में फ़ारसी लिपि में मुद्रित की गयी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध सूफ़ी कवि बरकत उल्लाह् पेमी के सात ग्रन्थों (मसनवीरियाज़े इश्क, दीवाने इश्की, तरजी बन्द, पेम प्रकाश, चहार अनबा नसायह, रिसाला सवालो जवाब तथा रिसाला अवारिफ़े हिन्दी) के अध्ययन पर आधृत है। इसमें पेमी जी के दो हिन्दी ग्रन्थों 'पेम प्रकाश' और 'रिसाला अवारिफ़े हिन्दी' का तो विस्तृत अध्ययन किया गया है परन्तु अन्य (फ़ारसी) कृतियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हिन्दी उद्धरणों का संग्रह करके उनकी संक्षिप्त विचारचर्चा की गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन खंडों में विभाजित है—सामान्य प्रस्तावना, प्रथम भाग

और द्वितीय भाग। प्रस्तावना में शाह बरकत उल्लाह की परिस्थितियों, उनकी कविता के गुणों, उनके गद्य के प्रभाव और हिन्दी भाषा तथा साहित्य को उनकी देन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम भाग मे 'पेम प्रकाश' का सम्पादन है। इस भाग में तेरह परिशिष्ट भी हैं। (१) 'पेम प्रकाश' की सूक्तियां। (२) शाह बरकत उल्लाह की फ़ारसी कृतियों से उद्धरण। (३) उनकी कविता में प्रतीकवाद। (४) हिन्दू-मुस्लिम-एकता सम्बन्धी उद्धरण। (५) कुछ अन्य उद्धरण। (६) फ़ारसी लेखकों के उद्धरण। (७) शाह बरकत द्वारा उद्धृत नाम और उक्तियां। (८) सूफ़ी लेखकों के उद्धरण। (९) कुरान से उद्धरण। (१०) जायसी से तुलना। (११) 'पेम प्रकाश' का अंगरेज़ी रूपान्तर। (१२) पेम प्रकाश के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति। (१३) इब्राहिम पर एक नोट।

द्वितीय भाग का प्रतिपाद्य विषय 'अवारिफे हिन्दी' है। आरम्भ में प्रस्तावना है। तदनन्तर शाह बरकत की कहावतों में अभिव्यक्त नैतिक एवं आध्यात्मिक उपदेशों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। उसके बाद हिन्दी कहावतों के अंग्रेज़ी अनुवाद और लेखक की फ़ारसी टीका दी गयी है। शोधकर्त्ता ने उस टीका पर अपनी व्याख्यात्मक टिप्पणियां भी दी हैं। इस भाग के अन्य विषय इस प्रकार हैं—दार्शनिक दृष्टि से व्याख्यात १९८ कहावतें, 'अवारिफ़े हिन्दी' की कहावतों का संस्कृत रूपान्तर और कहावतों की व्याख्या में सहायक हिन्दी, फ़ारसी तथा अरबी के उद्धरण।

२९. हिन्दी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका (१७५७—१८५७)

[१९४६ ई०]

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से १९४६ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई। हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय ने इसका प्रकाशन 'आधुनिक हिंदी-साहित्यकी भूमिका (१७५७-१८५७ ई०)' के नाम से १९५२ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खण्डों में विभक्त है। ये तीन खण्ड भी बारह अध्यायों में विभाजित किये गये हैं। सर्वप्रथम, विषय-प्रवेश में आलोच्यकाल के साहित्य और उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। इस काल से सम्बद्ध सामग्री की चर्चा करते हुए प्रस्तुत अध्ययन के महत्व और मौलिकता का निर्देश किया गया है।

पहला खण्ड 'पीठिका' है। इसमें चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में हिन्दी-प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया गया है। अनुसंधाता ने हिन्दी-प्रदेश के उपभागों की भौगोलिक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए साहित्य पर उसका प्रभाव निरूपित किया है। दूसरे अध्याय में आलोच्यकाल के पूर्ववर्ती युग और साहित्य (१०५७–१८५७ ई०) का परिचय दिया है। तीसरे अध्याय में आलोच्यकालीन जीवन की सामान्य परिस्थितियों पर विचार किया है। इस क्रम में तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का विशद विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में हिन्दी-प्रदेश पर अंग्रेजों के प्रभाव का अनुशीलन किया गया है। इस विषय में अध्येता का मत है कि भारत-यूरोपीय सम्पर्क का कोई अच्छा परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कम्पनी के प्रति भारतीयों के मन में घृणा की भावना उत्पन्न हुई, अंग्रेजों ने भी कला और साहित्य को आश्रय नहीं दिया।

दूसरा खण्ड 'साहित्यिक प्रतिक्रिया' है इसमें दो अध्याय (५-६) हैं। पहले संक्षेप में जीवन की परिस्थितियों और साहित्य में सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है। इसके बाद पांचवें अध्याय में कविता की पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। इस विषय में लेखक का मत है कि इस काल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः अराजकता और विश्रृंखलता के बीच नवीनता का अभाव मिलता है। इसके बाद वीर-काव्य का अध्ययन किया गया है। तदनन्तर भक्ति-काव्य का विस्तृत विवेचन है। तब रीति और शृंगार काव्य का अनुशीलन हुआ है। इस काल के रीति-साहित्य पर विचार करते हुए रीति-सम्बन्धी कुछ प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। रीति-साहित्य के आधार, सांस्कृतिक महत्व आदि का प्रतिपादन है। इसी अध्याय में नीति-काव्य का भी पर्यालोचन है, मुख्य रूप से यह आलोचना दीनदयालगिरि पर केन्द्रित है। अन्त में भाषा, छन्द, रस, संग्रह-ग्रंथ आदि विविध विषयों की विवेचना है। छठे अध्याय में आलोच्य काल के गद्य-साहित्य का अध्ययन उसकी तीन परम्पराओं—ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ी बोली के अन्तर्गत किया गया है।

तीसरे खण्ड 'खड़ीबोली-गद्य का विकास' में छः अध्याय (७–१२) हैं। सातवें अध्याय में ईस्ट इन्डिया कम्पनी की भाषा-नीति का स्पष्टीकरण है। अध्येता का मत है कि कम्पनी ने हिन्दुस्तानी या उर्दू का आश्रय लिया और काफी विचार-वितर्क के बाद देवनागरी लिपि को मान्यता दी। आठवें अध्याय में फोर्ट विलियम कालेज (१८००–१८५४ ई०) ने हिन्दी-साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया—यह दिखाया गया है। उदाहरण देकर सिद्ध किया गया है कि प्राइस ने कालेज की उर्दू को प्रश्रय देने की नीति में परिवर्तन किया और हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया। नवें अध्याय में कालेज के पंडितों (लल्लूलाल और सदल मिश्र) पर विचार किया गया है। दसवें अध्याय का प्रतिपाद्य है—नवीन शिक्षा और खड़ीबोली-गद्य। ग्यारहवें अध्याय में हिन्दी-पत्रकला तथा साहित्य के अन्य रूपों के विकास का अध्ययन उपस्थित किया गया है। अन्त में ग्रंथ का उपसंहार करते हुए आलोच्य काल के महत्व पर प्रकाश डाला गया है—'आलोच्यकालीन गद्य हिन्दी-साहित्य में नवयुग की अवतारणा करता है।'

३०. हिन्दी-काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियां (१४०० से १७०० ई० तक)

[१९४६ ई०]

श्री ब्रजमोहन गुप्त को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियां (१४०० से १७०० ई० तक)' पर सन् १९४६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की। मूल प्रबन्ध अंग्रेजी में लिखा गया था। इस प्रबन्ध का संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तर इसी नाम से गौतम साहित्य निकेतन, दिल्ली, ने प्रकाशित किया।

सर्वप्रथम भूमिका में वैदिक काल से १७वीं शती पर्यन्त हिन्दू धर्म के विकास का सिंहावलोकन किया गया है। शांडिल्य और नारद के भक्तिसूत्रों का अध्ययन करने के अनन्तर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक वादों का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

पहले अध्याय में रहस्यवाद के अर्थ का विवेचन किया गया है। रहस्यवाद

को समस्त धर्मों का मूलाधार प्रतिपादित किया गवा है। रहस्यवाद की विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न व्याख्याएं की गयी हैं, इस अध्याय में उन पर भी विचार किया गया है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी की काव्यगत रहस्य-भावना की पृष्ठभूमि का निर्देश किया गया है। नृत्य एवं संगीत, चित्रकारी व मूर्तिकला तथा व्याकरण के अध्ययन के मूल में रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन किया गया है।

तीसरे अध्याय में लेखक ने कबीर की ईश्वर-विषयक धारणा, साधनापथ, गुरु, सुखों के प्रति अनासक्ति, नाम-सुमिरन, भगवत्कृपा आदि शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी के रहस्यवादी कवि कबीर के काव्य का अनुशीलन करते हुए रहस्यवादी प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है।

चौथे अध्याय में जायसी की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा पर विचार किया गया है। जायसी की पद्मावती ईश्वर का प्रतीक है। 'पद्मावत' में वर्णित रहस्यवाद को स्पष्ट करते हुए गुरु, प्रेरणा, पथ के विघ्न, वैराग्य, तप और योग, प्रेम, विरह, एकाग्र और अनन्य निष्ठा, प्रेमपरिपूर्णता का परिणाम आदि तत्वों का विवेचन किया गया है।

पांचवें अध्याय में रामभक्ति-काव्य में रहस्यात्मक तत्वों का अनुशीलन किया गया है। इस सन्दर्भ में तुलसीदास का विशेष अध्ययन किया गया है। ब्रह्म और जीव तथा माया के विषय में तुलसी की विचारधारा का अध्ययन करते हुए तुलसी की अन्तरात्मा से परिचय प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

छठा अध्याय सूरदास पर लिखा गया है। सूर की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा के अध्ययन में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की समस्या आती है। वस्तुतः सूर परब्रह्म और कृष्ण की अभिन्नता मानते हैं। सूर के काव्य में रहस्यवाद-विषयक अन्य तत्वों का भी विवेचन किया गया है।

सातवें अध्याय में ईश्वर, आत्मा और उसके बन्धनों आदि की चर्चा करते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले गये हैं।

परिशिष्ट में रहस्यवाद और आधुनिक युग पर विचार किया गया है।

३१. रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन

[१६४६ ई०]

श्री नगेन्द्र नगाइच का प्रबन्ध 'रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन' सन् १६४६ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। उनका प्रबन्ध 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' के नाम से गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ। दूसरे संस्करण में इस ग्रन्थ के दोनों भाग अलग-अलग स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। एक का नाम है 'रीतिकाव्य की भूमिका' और दूसरी का नाम है 'देव और उनकी कविता'। प्रकाशक हैं—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली।

'रीतिकाव्य की भूमिका' में तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय 'रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' है। इस अध्याय में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों और कला (स्थापत्य, चित्र तथा मूर्ति) की प्रवृत्तियों का अनुशीलन है।'

दूसरा अध्याय है 'रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार'। इस अध्याय में पहले रीतिकाल के आरम्भ पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् रस-सम्प्रदाय का अध्ययन है। इस प्रसंग में 'रस' शब्द का अर्थ और उसका क्रमिक विकास, रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास, रस की परिभाषा, रस की स्थिति, उसका स्वरूप, 'भाव' की परिभाषा, मनोविकार और मनोवृत्ति का अन्तर, स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति, रसों और भावों की संख्या आदि का विवेचन किया गया है और उसके आधार पर निष्कर्षों की स्थापना की गयी है। तदनन्तर अलंकार-सम्प्रदाय का अध्ययन है। सम्प्रदाय का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देते हुए अलंकार की परिभाषा और धर्म, अलंकार एवं अलंकार्य में भेद, मनोवैज्ञानिक आधार, भारतीय और यूरोपीय अलंकारशास्त्र तथा रसानुभूति में अलंकार का योग आदि बातों पर विचार किया गया है। तदनन्तर रीति-सम्प्रदाय की विचार-चर्चा की गयी है। सम्प्रदाय का सिंहावलोकन करके रीति की परिभाषा और स्वरूप, रीति और शैली में भेद, गुण और दोष की स्थिति तथा रस के सम्बन्ध आदि का अनुशीलन है। तत्पश्चात् इसी प्रकार वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदायों का ऐतिहासिक परिचय देकर उनका सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। अध्याय के अन्त में नायिका-भेद पर भी विचार किया गया है।

तीसरे अध्याय में 'रीति' की व्याख्या और रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए रीतिकाव्य के साहित्यिक आधार का अध्ययन किया गया है।

'देव और उनकी कविता' प्रबन्ध का मुख्य भाग है। इसमें सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में देव-विषयक सामग्री का अनुसंधान एवं उसकी परीक्षा की गई है। दूसरे अध्याय में देव का जीवन-चरित दिया गया है। तीसरे अध्याय में देव के ग्रन्थों की प्रामाणिकता, उनके रचनाक्रम तथा वर्णन-विषय पर विचार किया गया है।

चौथा अध्याय 'देव की कविता के विभिन्न पक्ष' है। इसमें देव की शृंगारिक कविता, उनकी वैराग्य-भावना और तत्व-चिन्तन, देव का रीति-विवेचन, आचार्यत्व आदि विभिन्न पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पांचवें अध्याय में देव की कला का विवेचन है। इस अध्याय में पहले देव की चित्रण-कला तथा अभिव्यंजना के प्रसाधनों पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् देव की भाषा और अन्त में उनके छन्दोविधान का पर्यालोचन है।

छठे अध्याय में देव और उनके पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों का प्रभाव निरूपित किया गया है। साथ ही हिन्दी के परवर्ती कवियों (रीति-विवेचकों, रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों) पर देव के प्रभाव का भी आकलन किया गया है।

सातवें अध्याय में हिन्दी-काव्य में देव का स्थान निर्धारित किया गया है। केशव, बिहारी, मतिराम और घनानंद से देव की तुलना की गयी है। अनुसन्धाता की मान्यता है कि ये सभी कवि द्वितीय श्रेणी के हैं। और उनमें देव का स्थान उच्चतम है।

३२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[१९४६ ई०]

पंजाब विश्वविद्यालय ने श्री शिवनारायण वोहरा को उनके प्रबन्ध 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' पर सन् १९४६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

३३ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग

[१९४६ ई०]

मेरा प्रबन्ध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' सन् १९४६ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसका प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय ने संवत् २००८ में किया।

इस ग्रंथ में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में परार्जित ज्ञान के आधार पर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-जगत् में पदार्पण करने के समय की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में व्यक्तिगत पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, द्विवेदी जी पर लिखित जीवनियों आदि के आधार पर द्विवेदी जी के चरित और चरित्र का निरूपण किया गया है। तीसरे अध्याय में द्विवेदी जी के साहित्यिक संस्मरणों एवं रचनाओं का संक्षिप्त विवरण है।

चौथे अध्याय में द्विवेदी जी की कविता का, उनकी निजी काव्य-परिभाषा तथा काव्य के अन्य प्रचलित मानदंडों के आधार पर, अर्थ (रस आदि), काव्य-विधान, छन्द, भाषा और विषय की दृष्टि से, अध्ययन किया गया है। पांचवां अध्याय 'आलोचना' है। इसमें द्विवेदी जी की आलोचना की छः पद्धतियों (आचार्य-पद्धति, टीका-पद्धति, शास्त्रार्थ-पद्धति, सूक्ति-पद्धति, खंडन-पद्धति, लोचन-पद्धति) की विवेचना करके आलोचक द्विवेदी की देन का मूल्यांकन किया गया है।

छठे अध्याय में द्विवेदी जी के निबन्धों की आलोचना है। अध्याय के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि निबन्धकार द्विवेदी के निर्माता आलोचक और संपादक द्विवेदी हैं। तदनन्तर स्रोत, रूप, विषय, उद्देश्य, भाषा-शैली और व्यक्तित्व की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की समीक्षा की गयी है। अन्त में निबन्धकार द्विवेदी की देन का मूल्यांकन है।

सातवें अध्याय में द्विवेदी जी के 'सरस्वती'-सम्पादन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संपादक द्विवेदी के आदर्श और सिद्धान्तों, उनके लेखक-निर्माण-कार्य, 'सरस्वती' की वस्तु-योजना, संपादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा, चित्र और चित्रपरिचय, व्यंग्य-चित्रों, मनोरंजक रचनाओं, बालोपयोगी साहित्य, विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन आदि के आधार पर द्विवेदी जी की संपादन-कला का विवेचन है।

आठवां अध्याय 'भाषा और भाषा-सुधार' है। इस अध्याय के आरम्भ में द्विवेदी जी के भाषा-दोषों और उनके सुधार का अनुसंधान करके द्विवेदी जी द्वारा किये गये दूसरों की भाषा के सुधारों का अध्ययन किया गया है। दूसरों की भाषा की ईदृक्ता क्या थी, उनकी भाषा का सुधार द्विवेदी जी ने किन-किन विभिन्न उपायों या प्रकारों और कितनी कष्टसाधना से किया, उनके द्वारा परिमार्जित भाषा का विकास किन विभिन्न रीतियों और शैलियों में फलित हुआ, आदि बातों पर गवेषणात्मक ढंग से विचार करने का प्रयास किया गया है।

अन्तिम अध्याय 'युग और व्यक्तित्व' है। इसमें द्विवेदी-युग का काल-निर्धारण करके यह प्रतिपादित किया गया है कि द्विवेदी जी अपने युग के साहित्य के केन्द्र थे और उस युग के प्रायः सभी महान् साहित्यकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनसे प्रभावित हुए। उस युग के हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों के भाव या अभाव पक्ष पर द्विवेदी जी का प्रभाव है। किन्तु उनका प्रभाव सर्वत्र समान नहीं है। जिस अंग में और जहां पर वह विशिष्ट नहीं है वहां पर भी उसे दिखाने का बरबस प्रयास नहीं किया गया। चार परिशिष्टों में दी गयी सामग्री द्विवेदी जी के साहित्यिक योगदान को समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

३४. हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य

[१९४७ ई०]

श्री पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ का प्रबन्ध 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९४७ ई० में डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। सन् १९५३ ई० में यह प्रबन्ध इसी नाम से प्रकाशित हुआ। प्रकाशक हैं चौधरी मानसिंह प्रकाशन, कचहरी रोड, अजमेर।

प्रस्तुत प्रबन्ध में चार भाग हैं। प्रथम भाग 'भूमिका' है। सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया गया है। अनुसन्धाता ने वीर-गाथा, भक्ति, रीति और आधुनिक कालों के स्थान पर नवीन नाम सुझाए हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—अन्धकारकाल, कलात्मक उत्कर्ष-काल, साहित्यशास्त्रीय काल और साहित्यिक काल। इसके बाद अन्धकार-काल की विविध धाराओं

का विवरण प्रस्तुत करते हुए आख्यानक-साहित्य का वर्गीकरण किया है। तदनन्तर प्रेमाख्यानों का वर्गीकरण किया है। हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य की परिभाषा, बाह्य वर्गीकरण, तद्विषयक अनुसंधान और प्रेमाख्यानक काव्य की महत्वपूर्ण समस्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है।

द्वितीय भाग 'धारा का उद्गम' में पहले सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति और विकास तथा हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य पर उसका प्रभाव दिखाया गया है। इसके बाद फ़ारसी मसनवी के विकास और हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य पर उसके प्रभाव का निरूपण है। अन्त में भारतीय आख्यानकों के विकास का पर्यालोचन करते हुए हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य पर उसके प्रभाव का आकलन किया गया है।

तृतीय भाग 'धारा' है। इस भाग में सर्वप्रथम साहित्य-पक्ष का अनुशीलन किया गया है। इस अनुशीलन के अन्तर्गत कहानी-कला पर विचार किया गया है। विविध हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्यों के कथानकों की विवेचना की गयी है। इसके बाद चरित्र-चित्रण का अध्ययन किया गया है। इस प्रसंग में अध्येता ने पात्रों का वर्गीकरण आदि प्रस्तुत करते हुए चरित्र-चित्रण की सामान्य विशेषताओं का उद्घाटन किया है। कथोपकथन का भी अध्ययन किया है। इसी भाग में प्रेमाख्यानक कवियों की काव्य-कला की समीक्षा की गयी है। इन काव्यों की महाकाव्य के लक्षणों के आधार पर परीक्षा की गयी है। अलंकारों की दृष्टि से भी हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की समालोचना लेखक ने प्रस्तुत की है। अन्त में प्रेमपथ का विस्तृत विवेचन किया गया है और हिन्दी-प्रेमाख्यानकारों के अन्य उपदेशों का भी अध्ययन किया गया है।

चौथा भाग उपसंहार के रूप में लिखा गया है। इस भाग में धारा के महत्व तथा लक्ष्य प्रतिपादित हैं। इस धारा की भक्तिकालीन अन्य कविता-धाराओं (सन्तकाव्य, रामभक्ति-काव्य और कृष्णभक्ति-काव्य) से तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत की गयी है। अन्त में भारतीय साहित्य और हिन्दी-प्रेमाख्यानक-काव्य पर विचार किया गया है।[१]

---

१. एकाध सज्जनों ने बतलाया है कि श्री पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ के प्रबंध का विषय था 'जायसी के विशिष्ट सन्दर्भ में हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य का अध्ययन'। वही प्रबन्ध कुछ परिवर्तन के साथ दो स्वतंत्र ग्रन्थों 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' तथा 'मलिक मुहम्मद जायसी' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

३५. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास और विकास

[१६४७ ई०]

श्री सोमनाथ गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास और विकास' सन् १६४७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास' के नाम से इसका प्रकाशन हिन्दी भवन, जालन्धर और इलाहाबाद, ने सन् १६५० ई० में किया। सन् १६५८ में इस ग्रन्थ का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में हिन्दी-नाटक-साहित्य के आरम्भ का अध्ययन है। नाटक-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करके नाटक के उपादानों पर विचार किया गया है। इसके बाद हिन्दी-नाटकों के दो रूपों (साहित्यिक और रंगमंचीय) का विवेचन है। नाटक-साहित्य के अभाव के कारणों का उल्लेख है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास का अवलोकन है। सबसे पहले देश के राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण तथा उसके प्रभाव का निरूपण है, तत्पश्चात् भारतेन्दु के अनूदित, रूपान्तरित तथा मौलिक नाटकों और प्रहसनों का अनुशीलन किया गया है।

तीसरा अध्याय 'भारतेन्दु के समकालीन और हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास में उनका भाग' है। देश के राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण, पश्चिमी प्रवृत्तियां और उनके प्रभाव, भारतेन्दु का प्रभाव और भारतेन्दु-काल की स्थापना आदि विषयों की विवेचना करते हुए तत्कालीन नाटक-साहित्य की विभिन्न धाराओं—मौलिक (पौराणिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, समस्याप्रधान, प्रेमप्रधान, प्रतीकवादी और प्रहसन धारा), अनूदित और रूपान्तरित—का परिशीलन किया गया है। तत्पश्चात् कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण तथा संवाद आदि की दृष्टि से हिन्दी-नाटक-साहित्य के विकास का सिंहावलोकन किया गया है। कुछ अभावों की ओर भी संकेत है। अन्त में बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास और किशोरीलाल गोस्वामी आदि भारतेन्दु-काल के प्रमुख नाटककारों एवं उनकी रचनाओं की समीक्षा है।

चौथे अध्याय में द्विवेदी-युग को 'सन्धिकाल' मानकर उसका अध्ययन किया

गया है। इस अध्याय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पश्चिमी विचार-धाराओं के प्रभाव का आकलन है। पंडित बदरीनाथ भट्ट के उद्योग एवं अनुवाद-परम्परा की रक्षा का विवेचन है।

पाँचवाँ अध्याय 'रंगमंच और रंगमंचीय नाटक' है। हिन्दी-रंगमंच के विकास पर दृष्टिपात करते हुए व्यवसायी और अव्यवसायी नाटक मंडलियों के नाट्य-विधान, प्रमुख नाटककारों और उनकी देन पर विचार किया गया है। रंगमंच के प्रमुख नाटककारों के अन्तर्गत माधव शुक्ल, आनन्द प्रसाद खत्री, हरिदास माणिक, गोविन्द शास्त्री दुग्वेकर तथा रंगमंच के अन्य नाटककारों के अन्तर्गत माखनलाल चतुर्वेदी, जमुनादास मेहरा, दुर्गाप्रसाद गुप्त, बलदेव प्रसाद खरे आदि की रचनाओं का परिचय दिया गया है।

छठे अध्याय में प्रसाद के नाटकों, उनके वातावरण एवं उनमें वर्तमान चिन्ता-धाराओं के प्रभाव का विवेचन है। ऐतिहासिकता और नाट्य-विधान, सुखान्त-भावना, गीत आदि की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों की समीक्षा है। प्रसाद की समकालीन पौराणिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, समस्या-प्रधान, प्रेम-प्रधान, आदि नाट्य-धाराओं का अध्ययन है।

सातवें अध्याय 'प्रसादोत्तर नाटक साहित्य का विकास (१९३३-४२)' में पहले वातावरण का विवेचन है। तब नाटक-साहित्य की विभिन्न धाराओं पर विचार किया गया है। इसके बाद प्रत्येक धारा के उल्लेखयोग्य नाटककारों (सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि) तथा उनकी रचनाओं की समीक्षा है। एकांकी-नाटक-साहित्य और उसके उन्नायकों भुवनेश्वर प्रसाद, गणेश प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, द्वारका प्रसाद, सद्गुरु शरण अवस्थी, उदयशंकर भट्ट, गोविन्ददास, प्यारेलाल और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की विवेचना है। अन्त में एकांकी के उद्गम, नाट्य-विधान, विकास, नवीन प्रयोग आदि का अनुशीलन किया गया है।

सातवें अध्याय के अन्त में प्रवन्ध का सारतत्व ने दिया गया है। परिशिष्ट में पहले अध्याय में प्रतिपादित नाटकों का आलोचनात्मक परिचय, संस्कृत, पारसी और जनरंगमंच का दिग्दर्शन एवं साहित्यिक तथा रंगमंचीय नाटकों की सूची है।

३६. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास

[१९४७ ई०]

श्री भगीरथ मिश्र को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९४७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। लखनऊ विश्वविद्यालय ने इसका प्रकाशन इसी नाम से संवत् २००५ वि० में किया। प्रस्तुत ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में काव्यशास्त्र के स्वरूप, विषय और सीमा का विवेचन है। आरम्भ में काव्यशास्त्र की परिभाषा पर विचार किया गया है। काव्यशास्त्र के अलंकारशास्त्र, शैलीशास्त्र तथा छन्दःशास्त्र से सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है। यूनानी, लैटिन तथा संस्कृत काव्यशास्त्रों का संक्षिप्त परिचय देते हुए संस्कृत के रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनिसिद्धान्तों की भी विचार-चर्चा की गयी है। पाश्चात्य और संस्कृत काव्यशास्त्र की तुलना करते हुए हिन्दी काव्य-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रारम्भ और विकास है। उसके प्रेरणा-स्रोत, आधार और सामग्री का निरूपण किया गया है। विषयानुसार कालक्रम से ग्रन्थ सूची दी गई है तथा ग्रन्थों का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। सर्व-प्रथम प्राचीन हिन्दी-काव्यशास्त्र की परम्परा का उद्घाटन है। इसके बाद भक्ति-कालीन शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन हैं। इसके उपरान्त केशवदास के पूर्ववर्ती तथा स्वयं केशवदास के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी प्रयासों की समीक्षा है। रीति-परम्परा के प्रारम्भ और विकास की पृष्ठभूमि में चिन्तामणि, तोष, मतिराम, भूषण और देव की विवेचना की गयी है। तृतीय अध्याय में रीति-ग्रन्थों के विस्तार और उत्कर्ष पर विचार किया गया है। अनेक रीति-आचार्यों का विवरण देते हुए रीति-ग्रन्थों के महत्व एवं तत्कालीन परिस्थिति का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अध्याय में आधुनिक रीतिग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। रीति-कालीन परम्परा का विकास प्रदर्शित करते हुए रामदास, ग्वाल कवि, लछिराम, मुरारिदान, प्रतापनारायण सिंह, कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', भगवानदीन, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', सीताराम शास्त्री, 'हरिऔध', बिहारी लाल भट्ट और मिश्रबन्धुओं के रीतिकाव्य-प्रयास की समीक्षा की गयी है। इसके अनन्तर आचार्य द्विवेदी, शुक्ल जी, आचार्य श्यामसुन्दर दास तथा लक्ष्मी-

नारायण सिंह 'सुधांशु' ने जिन नवीन दृष्टिकोणों से काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है, उनका संक्षिप्त आलोचनात्मक विवरण दिया गया है। पंचम अध्याय 'कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन' है। विभिन्न कालों में 'वीरगाथा से आधुनिककाल तक' कवियो के क्या काव्यादर्श रहे हैं एवं उनमें किस प्रकार परिवर्तन होते रहे हैं, इसका संक्षिप्त उपस्थापन है। षष्ठ अध्याय में काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। काव्य की आत्मा, कारण, उपकरण, गति और छन्द, अलंकार, वर्गीकरण, काव्य के भेद आदि से सम्बद्ध आधुनिक समस्याओं का उपस्थापन किया गया है। साथ ही काव्यशास्त्र और काव्य के प्रचलित आधुनिक वादों का भी विवेचन किया गया है।

३७. हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति कालों में प्रकृति और काव्य

[१९४८ ई०]

श्री रघुवंश सहाय वर्मा का शोधप्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति कालों में प्रकृति और काव्य' सन् १९४८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। उसी वर्ष 'प्रकृति और हिन्दी काव्य' के नाम से साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया। उनके इस प्रबन्ध की पृष्ठभूमि के रूप में ही दूसरा ग्रन्थ 'प्रकृति और काव्य (संस्कृत खंड)' के नाम से १९५१ ई० में साहित्य भवन लिमिटेड से ही प्रकाशित हुआ।

डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध दो भागों में विभक्त हैं। पहले भाग में प्रकृति और काव्य का सैद्धान्तिक विवेचन तथा दूसरे भाग में हिन्दी-साहित्य के मध्ययुगीन काव्य में चित्रित प्रकृति की समाक्षा है। पहले भाग में पांच प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण में प्रकृति के विविध रूपों (भौतिक दृश्य तथा आध्यात्मिक) का विभिन्न दृष्टियों से विवेचन है। द्वितीय प्रकरण में प्रकृति के मध्य में मानव का दर्शन किया गया है। तृतीय प्रकरण में मानवीय भावों के विकास में प्रकृति के योग का आकलन है। चतुर्थ प्रकरण में सौन्दर्य-सम्बन्धी

विभिन्न मतों की परीक्षा करके प्रकृति और कला में व्यक्त सौन्दर्य के विविध रूपों का विश्लेषण किया गया है। पंचम प्रकरण में काव्य की समन्वयात्मक व्याख्या करके उसमें निरूपित प्रकृति के विभिन्न रूपों की समीक्षा की गयी है। आलम्बन, उद्दीपन, उपमान आदि रूपों में प्रकृति के संश्लिष्ट रूपांकन तथा रेखाचित्रों की विविध दृष्टियों से आलोचना है। उपर्युक्त पाँच प्रकरण मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य के प्रकृति-चित्रण की सैद्धान्तिक भूमिका के रूप में लिखे गये हैं।

द्वितीय भाग के नौ प्रकरणों में हिन्दी-काव्य-गत प्रकृति-चित्रण का अनुसंधान किया गया है। प्रथम प्रकरण, में 'काव्यशास्त्र में प्रकृति', 'काव्यपरम्परा में प्रकृति' तथा 'प्रकृतिरूपों की परम्परा' का विश्लेषण करते हुए काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा का उद्घाटन किया गया है। द्वितीय प्रकरण में मध्ययुग की परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों का व्याख्यान किया गया है। तृतीय प्रकरण में साधना और प्रकृतिवाद एवं सन्त-साधना में प्रकृति-रूप का संबंध निरूपित करते हुए आध्यात्मिक साधना में प्रकृति के रूप पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ प्रकरण में इसी प्रसंग का विस्तार करते हुए प्रेमियों की व्यंजना में प्रकृति-रूप की व्याख्या की गयी है तथा पंचम प्रकरण के अन्तर्गत आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप की समीक्षा करते हुए इस प्रसंग को समाप्त किया गया है। षष्ठ तथा सप्तम प्रकरणों में क्रमशः कथा-काव्य और गीति-मुक्तक, तथा रीति-काव्य की परम्पराओं का अनुसन्धान करते हुए लेखक ने विभिन्न काव्यरूपों में प्रकृति का दिग्दर्शन कराया है। अष्टम प्रकरण में उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति की समालोचना है। राजस्थानी काव्य, संत-काव्य, प्रेमकथा-काव्य, राम-काव्य, उन्मुक्त प्रेम-काव्य, पद-काव्य और मुक्तक तथा रीति-काव्य का अध्ययन करते हुए प्रकृति का विवेचन किया गया है। नवम प्रकरण में उपमानों की योजना में प्रकृति की स्थिति की विवृत्ति की गई है। स्वच्छन्द उद्भावना, कलात्मक योजना तथा रूढ़िवादी प्रयोगों का प्रसंगनिर्देशपूर्वक व्याख्यान किया गया है।

३८. हिन्दी-पत्रकारिता का उद्भव और विकास
[१९४८ ई०]

श्री रामरतन भटनागर का प्रबन्ध 'हिन्दी-पत्रकारिता का उद्भव और विकास' सन् १९४८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अंग्रेजी में ही लिखित और प्रकाशित है। अंग्रेजी शीर्षक है 'दी राइज़ एण्ड ग्रोथ ऑव् हिन्दी जर्नलिज़्म (१८२६–१९५४ ई०)'। इसका प्रकाशन किताब महल, इलाहाबाद, से सन् १९४७ ई० में हुआ था। सम्भवतः मुद्रित रूप में ही यह प्रबन्ध 'डॉक्टरेट' के लिए प्रस्तुत किया गया था।

इस ग्रन्थ में ग्यारह अध्याय हैं। आरम्भ में विषय-प्रवेश है जिसमें प्रस्तुत अनुसन्धान की कठिनाइयों, स्रोतों एवं अध्ययन की रूपरेखा पर विचार किया गया है। पहले अध्याय में भारतवर्ष में पत्रकारिता के आरम्भ का अनुशीलन किया गया है। दूसरे अध्याय में उन्नीसवीं शती के द्वितीय चरण की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों का निरूपण करके हिन्दी-पत्रकारिता (१८२६–६७ ई०) के आरम्भ का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय का शीर्षक है 'उन्नीसवीं शती (१८६७–१८८३ ई०) में हिन्दी-पत्रकारिता का उत्थान'। भूमिकारूप में धर्म, समाज, शिक्षा, साहित्य, प्रेस, मशीन आदि से सम्बन्धित परिवर्तनों का परिचय देकर मुद्रण, विषय, भाषा, समाचार, साहित्यिकता आदि की विविध दृष्टियों से उस युग की हिंदी-पत्रकार-कला का विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय में सन् १८८३ ई० से १९०० ई० तक की हिन्दी-पत्रकारिता का परिशीलन है। राष्ट्रीय शक्तियों, धार्मिक आंदोलनों, शिक्षा, संचार आदि का प्रास्ताविक विवेचन करके हिन्दी और उर्दू-नीति, हिन्दी-पत्रों की शोचनीय आर्थिक अवस्था, खड़ीबोली-गद्य के विकास में पत्रों का योगदान, उस युग की पत्रकारिता में राष्ट्रभावना और सामाजिक जीवन आदि की व्यापक समीक्षा की गयी है। पांचवें अध्याय का विषय है बीसवीं शती ई० के प्रथम बीस वर्षों में हिन्दी-पत्रकारिता का विकास। आरम्भ में युगीन परिस्थितियों का निरूपण करके हिन्दी प्रेस, पत्रों के विषय, भाषा, साहित्य, हिन्दी और उर्दू-पत्रकारिता की तुलना आदि की विवेचना की गयी है। छठे अध्याय में १९२१ से १९३६ ई०

तक की हिन्दी-पत्रकारिता के विकास का उपर्युक्त पद्धति से ही अध्ययन किया गया है।

सातवें अध्याय का प्रतिपाद्य है 'समसामयिक प्रेस'। आठवें अध्याय में दैनिक पत्रों का अध्ययन करके साप्ताहिक और सचित्र पत्रों पर भी विचार किया गया है। नवें अध्याय में हिन्दी के सामयिक साहित्य और पत्रिकाओं का अनुशीलन है। दसवें अध्याय में हिन्दी पत्रकारिता (१८२६–१६४५ ई०) में राजनैतिक चेतना के विकास का पर्यालोचन है। ग्यारहवें अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए हिन्दी पत्रकारिता के विकास और उपलब्धि पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। पांच परिशिष्टों में दी गयी पत्रकारिता-सम्बन्धी सामग्री भी उपयोगी है।

३६. हिन्दी-संतों पर वेदान्त-सम्प्रदायों का ऋण (विशेषतया तुलसीदास, कबीरदास और सूरदास के सन्दर्भ में)

[१६४८ ई०]

श्रीमती शीलवती मिश्र का प्रबन्ध 'हिन्दी-संतों पर वेदान्त-सम्प्रदायों का ऋण (विशेषतया तुलसीदास, कबीरदास और सूरदास के सन्दर्भ में)' सन् १६४८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध दर्शन-विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था और अभी तक अप्रकाशित है।

इस प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में भक्तिधारा के विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वेद, उपनिषद् पंचरात्र, आलवार और गीता आदि के आधार पर भक्ति के विकास का निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में वेदान्त के पांच सम्प्रदायों (शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व के द्वैतवाद, वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद एवं निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद) का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तीसरे अध्याय में वेदान्त के प्रभाव की दृष्टि से तुलसीदास का अध्ययन है। जिसमें परमार्थ के स्वरूप, मायावाद, जीव और जगत् से ब्रह्म का सम्बन्ध आदि की विवेचना करके अन्त में समाधान प्रस्तुत किया गया है। चौथे अध्याय में कबीरदास का अध्ययन

है। परमार्थ का स्वरूप, मायाविषयक सिद्धान्त, आत्मा और परमात्मा तथा समन्वयवाद—इन शीर्षकों के अन्तर्गत उनके वेदान्तिक सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। सूरदास पर लिखे गए पांचवें अध्याय में उनकी दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है। परमार्थ का स्वरूप माया, ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध, रासलीला, जीवन का परम पुरुषार्थ और प्रेम का सिद्धान्त—इन विषयों की दृष्टि से सूर के विचारों का प्रतिपादन किया गया है। अन्तिम अध्याय उपसंहार है जिसमें नानक, मीरा, दादू, सुन्दरदास और सहजोबाई के दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए संत-कवियों के दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है।

४० मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (प्रारम्भ से वर्तमान समय तक और उस पर अंग्रेजी प्रभाव)

[१९४८ ई०]

श्री जयकान्त मिश्र का प्रबन्ध 'मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (प्रारम्भ से वर्तमान समय तक और उस पर अंग्रेजी का प्रभाव)' सन् १९४८ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मैथिली भाषा और उसके साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रबन्ध की सामग्री पांच खण्डों और उसके अन्तर्गत कई अध्यायों में संकलित की गयी है।

प्रथम खण्ड मैथिली साहित्य की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है। इसके प्रथम अध्याय में मिथिला की सीमा, नामकरण, क्षेत्रफल, निवासी, धार्मिक जीवन, कृतित्व और उनके संगीत तथा नृत्यप्रियता का परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में मैथिली भाषा और उसकी लिपि, बोलने वालों की संख्या, बोली का क्षेत्र तथा उसकी स्वतंत्र भाषा-विषयक मनोवृत्ति का परिचय देते हुए उसकी स्वतन्त्र लिपि का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में मैथिली साहित्य का विकास बताते हुए उसका कालनिर्धारण तथा उसकी विभिन्न विधाओं महाकाव्य, खण्डकाव्य व नाटकों का कालक्रम से विवरण दिया गया है।

द्वितीय खण्ड में प्रारम्भिक मैथिली साहित्य का इतिहास दिया गया है। पहले अध्याय में संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश में मैथिली के स्वरूप का निर्धारण करते हुए 'वर्णरत्नाकर' के रचयिता के समय और उसकी रचनात्मक विशिष्टता पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में ऐतिहासिक और भरपूर साहित्यिक सामग्री के आधार पर विद्यापति के काल और रचना का आलोचनात्मक अध्ययन हुआ है। तीसरे अध्याय में विद्यापति के समकालीन सत्ताइस कवियों में से नाटककार कवियों को छोड़कर सबका अध्ययन किया गया है। और उनके उत्तराधिकारी मिथिला और नेपाल के तेईस कवियों के साहित्यिक योगदान पर विचार हुआ है।

तृतीय खण्ड मध्यकालीन (१७००–१८०० ई०) मैथिली साहित्य का इतिहास उपस्थित करता है। पहले दो अध्यायों में मैथिली वर्नाक्यूलर में नाटकों की उत्पत्ति की परिस्थिति पर विचार किया गया तथा उसकी नेपाल, मिथिला और आसाम शाखा के अनेक नाटककारों का परिचय दिया गया है। तीसरे अध्याय में मध्यकालीन उपलब्ध गद्यसाहित्य की विधाओं पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में मध्यकाल के अनेक छोटे-मोटे गीतिकार और सन्त कवियों का परिचय दिया गया है तथा उनकी स्वतन्त्र और अनूदित रचनाओं पर विचार किया गया है।

चतुर्थ खण्ड में मैथिली लोकसाहित्य का अध्ययन हुआ है। पहले अध्याय में मिथिला की लोककथाओं का विविध दृष्टियों से वर्गीकरण करके उनका अध्ययन सम्पन्न हुआ है। दूसरे अध्याय में लोकगीतों और लोकगाथाओं का समुचित अध्ययन है। तीसरे अध्याय में पालने के गीतों व मुहावरों का तथा चौथे अध्याय में लोकनृत्यगीत का अध्ययन हुआ है।

पंचम खंड अंग्रेजी का मैथिली पर प्रभाव प्रदर्शित करता है। पहले अध्याय में मैथिली पर अंग्रेजी प्रभाव के सूत्रों की छानबीन की गयी है। दूसरे में आधुनिक मैथिली गद्य और पत्रकारिता का विकास प्रदर्शित करते हुए अंग्रेजी और संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से अनूदित मैथिली रचनाओं की चर्चा है। मनोरंजनार्थ रचित कथा, उपन्यास, यात्रा, संस्मरण, निबन्ध आदि की विस्तृत चर्चा है। उपयोगी साहित्य की विधाओं (आलोचना, आत्मकथा, अनुवाद-साहित्य) का भी इतिहास दिया गया है। तीसरे अध्याय में आधुनिक मैथिल कवियों और नाटककारों का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में इस साहित्य की कमियों तथा विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए उसके भविष्य

की सम्भावनाओं पर विचार हुआ है तथा मैथिली को शिक्षा का माध्यम बनाने का आग्रह किया गया है।

४१. हिन्दी काव्य में प्रकृतिचित्रण

[१९४८ ई०]

श्रीमती किरण कुमारी गुप्त को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-कविता में प्रकृतिचित्रण' पर सन् १९४८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध इसी नाम से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, ने सं० २००७ में प्रकाशित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड 'सिद्धान्त और विवेचन' में दो अध्याय हैं। पहले अध्याय 'मानव और प्रकृति' में सबसे पहले मानव और प्रकृति के चिरसाहचर्य का निरूपण करते हुए प्रकृति से मानवहृदय का तादात्म्य प्रदर्शित किया गया है। इसके बाद प्रकृति की दार्शनिक परिभाषा पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् प्रकृति-प्रेम का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए मानवेतर जगत् का महत्वांकन भी किया गया है। प्रकृतिचित्रण में कवि और वैज्ञानिक के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रकृतिचित्रण के विविध रूपों का अध्ययन किया गया है। अनुसन्धात्री ने ये रूप छः प्रकार के माने हैं (१) आलम्बन (२) उद्दीपन (३) अलंकार (४) मानवीकरण (५) नीति और उपदेश का माध्यम (६) परम तत्व के दर्शन।

द्वितीय खंड के चार अध्यायों में हिन्दी काव्य में प्रकृतिचित्रण का अनुशीलन किया गया है। पहले अध्याय में वीरगाथा काल के दो प्रतिनिधि कवियों—चन्द वरदाई और नरपति नाल्ह—के काव्य में प्रकृतिचित्रण का अध्ययन किया गया है। दूसरे अध्याय में भक्तिकाल की निर्गुण और सगुण भक्तिधाराओं के प्रमुख कवियों के काव्य में प्रकृतिचित्रण का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय का प्रतिपाद्य रीतिकाल है। सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, पद्माकर और वेनी प्रवीन आदि रीतिबद्ध तथा घनानंद, आलम और ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवियों के प्रकृतिचित्रण की परीक्षा इस अध्याय में की गयी है। चौथे अध्याय में आधुनिक काव्य की समीक्षा की गयी है। सबसे

पहले भारतेन्दु-काल की परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए भारतेन्दु, पं० श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि के काव्य में प्रकृतिचित्रण की विवेचना की गयी है। इसके बाद द्विवेदी-युग के कवियों (महावीरप्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी और गुरुभक्तसिंह) के प्रकृतिचित्रण का परीक्षण किया गया है। अन्त में द्विवेदी-उत्तर-युग के काव्य में प्रकृतिचित्रण का विस्तृत उपस्थापन है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के काव्य का अध्ययन किया गया है। इस काल में प्रकृतिचित्रण के महत्व और उसके कारणों पर विचार किया गया है। ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए अनुसन्धात्री से हिन्दी के प्रकृति-काव्य का मूल्यांकन किया है।

४२. श्री गुरु गोरखनाथ और उनका युग

[१९४८ ई०]

श्री टी० एन० वी० आचार्य (रांगेय राघव) को उनके प्रबन्ध 'श्री गुरु गोरखनाथ और उनका युग' पर सन् १९४८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

इस ग्रन्थ में 'भारतीय मध्ययुग के सन्धिकाल का मनन' किया गया है। इसमें आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में आलोच्य वस्तु की पृष्ठभूमि का विवेचन है। इसमें बौद्धमत के ह्रास, पतन और क्षय के कारणों की विवेचना की गयी है। तत्पश्चात् हिन्दू धर्म, वैष्णव मत और शैव मत के प्रभावों और उसके भेदों (योग और तन्त्र) का संक्षिप्त अनुसंधान किया गया है। दूसरे अध्याय में गुरु गोरखनाथ की पूर्ववर्ती गुरुपरम्पराओं, किंवदन्तियों, दन्तकथाओं आदि की परीक्षा की गयी है। तीसरे अध्याय में उस युग की मुख्य धार्मिक विचारधाराओं, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवनदर्शन एवं दृष्टिकोण में परिवर्तन के हेतुओं पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में गुरु गोरखनाथ के व्यक्तित्व और उनकी विशेषताओं का निरूपण है। पांचवें अध्याय में गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक और योग सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन, उनकी दार्शनिक देन का निर्धारण एवं वैष्णव तथा शैव मतों से उनके दार्शनिक मत

की तुलना की गई है। छठे अध्याय में गोरखनाथ की हिन्दी रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करके उनका साहित्यिक अनुशीलन किया गया है। सातवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है। उसमें तत्कालीन समाज और समसामयिकों पर गोरखनाथ का प्रभाव दिखलाकर उनके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया का निरूपण किया गया है। इस अध्याय में ही आज के गोरखपंथ और गोरखनाथ के महत्व का भी दिग्दर्शन है। आठवें अध्याय में अनुसन्धाता ने भारतीय सांस्कृतिक धारा तथा इतिहास में गोरखनाथ का स्थान निर्धारित किया है।

४३. सन्त कवि मलूकदास

[१९४८ ई०]

श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित का प्रबन्ध 'सन्त कवि मलूकदास' सन् १९४८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

४४. चन्द वरदायी और उनका काव्य

[१९४८ ई०]

श्री विपिन विहारी त्रिवेदी को उनके प्रबन्ध 'चन्दवरदायी और उनका काव्य' पर सन् १९४८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि मिली। इसका प्रकाशन इसी नाम से सन् १९५२ ई० में हुआ। प्रकाशक है हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

उपर्युक्त प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में कवि का जीवनवृत्त है। इस वृत्त के अन्तर्गत कवि के जन्म, माता-पिता, बाल्यकाल, पुत्र और वंशज, जाति, जीविका, ऐश्वर्य, देवी की सिद्धि, वरदायी नाम की प्रसिद्धि, देवी द्वारा सहायता, मन्त्र-तन्त्र-ज्ञान, भाषा-ज्ञान, दूतत्व, निर्भीकता, युद्ध, मृत्यु आदि

महत्वपूर्ण वातों पर अनुसन्धानात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है ।

दूसरा अध्याय 'वस्तु-वर्णन' है । इसके अन्तर्गत व्यूह, नगर, पनघट, विवाह, युद्धोत्साह एवं युद्ध, उत्सव, ज्योनार, स्त्रीभेद, षड्ऋतु, बारहमासा, नखशिख, शृंगार, कबंध युद्ध, तथा अन्य महत्वपूर्ण वर्णनों का अध्ययन किया गया है ।

तीसरे अध्याय 'भाव-व्यंजना' में उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, हास्य, आश्चर्य, निर्वेद, रति तथा शोक आदि भावों की ('रासो' में) रसरूप में अभि-व्यक्ति का अध्ययन किया गया है ।

चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य 'रासो' की अलंकार-योजना है । अलंकार का सामान्य परिचय देते हुए उसके इतिहास और क्रम-विकास पर विचार किया गया है । तदनन्तर 'रासो' के अंलकारों की समीक्षा की गयी है ।

पांचवां अध्याय 'छन्द-समीक्षा' है । अध्येता ने छन्द का सामान्य परिचय देकर 'रासो' में वर्णित छन्दों का अनुसन्धानपूर्ण अनुशीलन किया है । लेखक ने रासों में प्रयुक्त छन्दों की एक सूची देकर सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थ में मात्रावृत्त, संयुक्तवृत्त, वर्णवृत्त और फुटकर—सब मिलाकप बहत्तर छन्दों का प्रयोग हुआ है । तदुपरान्त इन छन्दों का परिचय दिया गया है। प्रबन्ध का चौहत्तर पृष्ठों का यह अध्याय 'रासो' की छन्द-समीक्षा की दृष्टि से विशेष महत्व-पूर्ण है ।

छठे अध्याय में 'रासो' की भाषा की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है । 'रासो' की भाषा का स्वर, असंयुक्त व्यंजन, संयुक्त व्यंजन, सर्वनाम, कारक-चिह्न, क्रिया, संख्यावाचक विशेषण, शब्दभंडार आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए उसकी विशेषताओं का उपस्थापन किया गया है ।

परिशिष्ट में चन्द वरदायी और उनके काव्य पर गार्सा द तासी, ग्रियर्सन, जेम्स मोरिसन तथा प्रो० बूलर आदि यूरोपीय विद्वानों की कुछ सम्मतियां संकलित कर दी गयी हैं, जिससे प्रबन्ध के महत्व में वृद्धि हुई है ।

४५. हिन्दी साहित्य में महाकाव्य

[१६४६ ई०]

श्री हरिश्चन्द्र राय को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य में महाकाव्य' पर सन् १६४६ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

४६. आधुनिक हिन्दी-काव्य १६००—१६४५ ई० में नारीभावना

[१६४६ ई०]

सुश्री शैलकुमारी का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य (१६००-१६४५ ई०) में नारीभावना' प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिये सन् १६४६ ई० में स्वीकृत हुआ। इसे सन् १६५१ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, ने इसी नाम से प्रकाशित किया।

यह प्रबन्ध बारह अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'पूर्वपीठिका' है। सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी काव्य की नारी-भावना में परिवर्तन के कारणों और प्रेरणा के स्रोतों का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में प्राचीन के प्रति नवजागरणजन्य आकर्षण, पश्चिमी विचारों और साहित्य का प्रभाव, भक्ति-युग और रीतियुग की नारीभावना के प्रति विद्रोह, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव, समाज-सुधार की लहर के प्रभाव, स्त्री-आन्दोलन के प्रभाव तथा इण्डियन नेशनल कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

दूसरे अध्याय में संक्रांति-युग (१६००-१६२० ई०) के साहित्य में नारी-भावना का अनुशीलन है। इस क्रम में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय का विवेचन है। यह नारीभावना, लेखिका के अनुसार, राष्ट्रवादी और सुधारवादी दो प्रकार की है।

तीसरे अध्याय में १६२०-१६३७ ई० में रचित साहित्य को 'परिवर्तन-युग' का साहित्य मानकर उसमें नारीभावना पर विचार किया गया है। 'इस युग में नारीभावना कल्पना और भावुकता से संयुक्त हुई।' 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर

बढ़ने लगी' । इन उद्भाबनाओं के प्रकाश में लेखिका ने छायावादी साहित्य की नारीभावना का अध्ययन किया है ।

चौथे अध्याय में परिवर्तन-युग में नारी के सत् रूप का विवेचन किया गया है । इस सत् रूप की अभिव्यक्ति विविध सम्बन्धों में सम्भव है । प्रेयसी और प्रणयिनी रूप, पत्नीरूप, मातृरूप आदि । यह पाँचवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है । परिवर्तन-युग में नारी के केवल सत्पक्ष का ही चित्रण नहीं हुआ । छठे अध्याय में इस युग की नारी के असत् रूप की अभिव्यक्ति पर भी विचार किया गया है । सातवें अध्याय में परिवर्तन-युग में राष्ट्रीयता तथा समाज-सुधार से प्रेरित नारीभावना का पर्यालोचन किया गया है । लेखिका का मत है कि इस युग की राष्ट्रीय कविताओं में नारी के वीररूप और समाज-सुधार की भावना से समन्वित कविताओं में नारी के मानवी-रूप का स्फुरण हुआ है । आठवें अध्याय में रूपकात्मक (प्रतीकात्मक) भावना का निदर्शन किया गया है । नवें अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि इस परिवर्तन-युग में भी मध्ययुगीन नारीभावना की परम्परा अपने सूत्र को बनाये रही, यद्यपि यह अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही संभव हुआ ।

दसवें अध्याय का विवेच्य प्रगति-युग (१९३७-१९४५ ई०) है । ग्यारहवं अध्याय में प्रगति-युग की समाजवादी तथा क्रान्तिकारी नारीभावनाओं का सिंहावलोकन है । बारहवें अध्याय में पहले प्रगतियुग की मनोविश्लेषणवादी नारीभावना की समीक्षा की गयी है । लेखिका ने इसे चार वर्गों में विभक्त किया है (क) विरोध या विद्वेषमयी (ख) अतीव वासनात्मक (ग) संतुलित यथार्थवादी (घ) प्रकृतिवादी उदासीन । इसी अध्याय में क्षयी रोमांसवादी नारीभावना पर विचार किया गया है । अन्त में ग्रन्थ के उपसंहार में लेखिका का मन्तव्य है कि आलोच्य काल में नारीभावना का विकास गत्यात्मक रहा है, इससे पूर्व वह स्थिर था ।

४७. रामकथा—उत्पत्ति और विकास

[१६४६ ई०]

फ़ादर कामिल बुल्के को प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १६४६ ई० में उनके प्रबन्ध 'रामकथा का विकास' पर डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की। हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वारा 'रामकथा' नाम से सन् १६५० ई० में यह ग्रन्थ किंचित् परिवर्द्धन के साथ प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में प्राचीन रामकथा-साहित्य, द्वितीय में रामकथा की उत्पत्ति, तृतीय में अर्वाचीन रामकथा-साहित्य तथा चतुर्थ में रामकथा के विकास का विवेचन किया गया है। चारों भागों में कुल मिलाकर इक्कीस अध्याय हैं। पहला अध्याय 'वैदिक साहित्य और राम-कथा' है जिसमें वैदिक साहित्य में रामकथा के विभिन्न पात्रों (इच्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, जनक, सीता आदि) का अनुसंधान करने के अनन्तर वैदिक साहित्य में रामकथा का प्रायः अभाव निर्णीत किया गया है। दूसरे अध्याय में वाल्मीकि-रामायण के पाठ तथा रचनाकाल पर विचार किया गया है, साथ ही आदिकवि वाल्मीकि के अस्तित्व एवं जीवनचरित पर भी विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में 'महाभारत' के विभिन्न पर्वों में वर्णित रामकथा का आकलन किया गया है। चौथे अध्याय में जातकों तथा अन्य बौद्ध-साहित्य में रामकथा की शोध की गयी है। पाँचवें अध्याय में जैन-रामकथा की विशेषताओं का अनुशीलन किया गया है। छठे अध्याय में 'दशरथ जातक' में वर्णित राम-कथा की प्रामाणिकता तथा 'रामायण' पर पड़े बौद्ध-प्रभाव की समीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में अनेक विदेशी तथा भारतीय विद्वानों के मतों की आलोचना करते हुए रामकथा के मूलस्रोत का विश्लेषण किया गया है।

आठवें अध्याय में प्रचलित वाल्मीकि-रामायण के मुख्य प्रक्षेपों पर विचार किया गया है। नवें अध्याय में रामकथा के प्रारम्भिक विकास तथा व्यापक प्रसार का निदर्शन हुआ है। दसवें अध्याय में संस्कृत के धार्मिक साहित्य और ग्यारहवें अध्याय में उसके ललित साहित्य में निबद्ध रामकथा का विवेचन है। बारहवें अध्याय में आधुनिक भारतीय भाषाओं में वर्णित रामकथा की विचार-चर्चा की गयी है। तेरहवें अध्याय में तिब्बत, खातोन, हिन्देशिया आदि अन्य देशों में प्रचलित रामकथा का निरूपण है। चौदहवें से लेकर बीसवें अध्याय

में रामायण के सात कांडों की कथावस्तु का विश्लेषण करते हुये रामकथा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार है, जिसमें रामकथा की व्यापकता, विभिन्न रामकथाओं की मौलिक एकता तथा प्रक्षिप्त सामग्री की सामान्य विशेषताओं का परिशीलन और राम-कथा को प्रभावित करने वाले विभिन्न साधनों का उल्लेख करते हुये रामकथा के विकास का सिंहावलोकन किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में रामकथा-साहित्य की एक उपयोगी तालिका भी प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ रामकथा-सम्बन्धी सामग्री का एक विश्व-कोष-सा है जिसमें देश और विदेशों की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में उपलब्ध रामकथा-विषयक प्रभूत सामग्री की छानबीन की गयी है।

४८. तुलसीदास और उनका युग

[१९४९ ई०]

श्री राजपति दीक्षित को उनके शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास और उनका युग' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९४९ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्रदान की। इसी नाम से इस प्रबन्ध का प्रकाशन ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, ने सं० २००९ में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद में तुलसीदास की समकालीन परिस्थितियों का अनुशीलन किया गया है। उस समय वर्णाश्रम-धर्म का ह्रास हो रहा था, चिन्ता और अशान्ति चारों ओर परिव्याप्त थी किन्तु कला की जागृति का अभाव उस समय नहीं था। तुलसी के युग की राजनीतिक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक चेतना के साथ-साथ पूर्ववर्ती तथा समसामयिक कवियों और प्रचारकों पर भी विचार किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में तुलसी के सामाजिक मत का विवेचन किया गया है। आदर्श राज्य, राजा-प्रजा, वर्णाश्रम धर्म, पारिवारिक जीवन का आदर्श, समाज में स्त्रियों का स्थान आदि महत्वपूर्ण विषयों पर तुलसी का मत उपस्थापित करते हुये तुलसी की शास्त्रप्रियता तथा मर्यादावादिता का भी पर्यालोचन किया गया है।

तीसरे परिच्छेद में तुलसी की धर्मभावना पर विचार किया गया है। उन्होंने धर्मभावना में से आडम्बर, भूतप्रेत-पूजा और रहस्यवाद का बहिष्कार करके नैतिक, भाविक और बौद्धिक आधार पर धर्म की स्थापना की। धर्म पर सर्व-सामान्य का अधिकार सिद्ध करते हुए तुलसी ने उसे व्यापक बनाया। वे अहिंसा-वाद को सर्वोच्च स्थान देते थे। उन्होंने सरलतम राम-नाम-जप पर विशेष बल दिया। तुलसी ने एक ओर वैष्णवों और शैवों में ऐक्य-स्थापन किया और दूसरी ओर धर्म की अन्तरात्मा और उसके बाह्य रूप का सामंजस्य किया।

चौथे परिच्छेद में तुलसी की साम्प्रदायिकता का अध्ययन किया गया है। तुलसी के काव्य में वैष्णव, शैव, गाणपत्य आदि सभी सम्प्रदायों के प्रति सहज श्रद्धा को स्वीकार करते हुए अनुसंधाता ने निष्कर्ष निकाला है कि तुलसी की साम्प्रदायिकता कट्टरता और संकीर्णता से विनिर्मुक्त है। उन्होंने साम्प्रदायिकता को वह व्यापक रूप दिया है जिसमें सभी सात्विक मतवादों की अन्तरात्मा का समन्वय शक्य हो सके।

पांचवें परिच्छेद में तुलसी की परम्परागत भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। भक्ति की परिभाषा, भेद आदि का निरूपण करते हुए लेखक ने प्रेमभक्ति का विस्तृत विवेचन किया है। अन्त में दिखाया गया है कि उस नैराश्यकाल में तुलसी की भक्ति की क्या सार्थकता रही।

छठा परिच्छेद 'तुलसी की उपासना-पद्धति' है। तुलसी की उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी तुलना वैरागी तथा अन्य सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति से भी की गयी है।

सातवें परिच्छेद में तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया गया है। समीक्षकों की विभिन्न धारणाओं की आलोचना करते हुए गोस्वामी जी के माया, परमात्मा, जीव, जगत्, साधनमार्ग आदि सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करते हुए यह स्थापना की गयी है कि तुलसी का अभिमत सिद्धान्त द्वैत है, क्योंकि वे उपास्य और उपासक दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं।

आठवें परिच्छेद में तुलसी और प्राचीन राम-साहित्य का अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन-क्रम में 'वाल्मीकि-रामायण' 'महारामायण' 'अध्यात्म-रामायण,' संस्कृत के नाटकों, 'रघुवंश' आदि प्राचीन ग्रन्थों का तुलसी-साहित्य पर प्रभाव निरूपित किया गया है।

नवें परिच्छेद में 'रामचरित मानस' में तुलसी की संदर्भण-कला का दिग्दर्शन किया गया है। इसमें उपक्रम की नवीनता और प्रौढ़ि का परिशीलन किया

गया है। तुलसी की शैली, छन्दोयोजना, ग्रन्थ के उपसंहार आदि का भी अध्ययन है। दसवें परिच्छेद में तुलसी के साहित्यिक उपहार का महत्वाकंन है।

४६. हिन्दी मुहावरे

[१९४६ ई०]

श्री ओमप्रकाश का प्रबन्ध 'हिन्दी मुहावरे' सन् १९४६ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

५०. ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन

[१९४६ ई०]

श्री गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' का प्रबन्ध 'ब्रज-लोकसाहित्य का अध्ययन' सन् १९४६ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसी नाम से इसका प्रकाशन साहित्यरत्न भंडार, आगरा, ने सन् १९४६ ई० में किया।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमें पहले लोकवार्ता के स्वरूप और विषय पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् लोकवार्त्ता-साहित्य के मूल, लोककथा का उद्भव, लोकसाहित्य की रचना के रूप, लोकसाहित्य की मनोभूमि, लोकवार्त्ता की प्रतिष्ठा, इस क्षेत्र के अग्रणी, भारत में लोकवार्त्ता-क्षेत्र में कार्य आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय 'ब्रज-लोकसाहित्य के प्रकार' में संकलन की प्रणाली तथा विवरण का निर्देश करते हुए ब्रज-लोकसाहित्य का वर्गीकरण किया गया है। कहानियों, गीत-साहित्य, कहावतों, खेल में वाणीविलास, शिशुओं के छन्द-खेल, नए लोकसाहित्य आदि का वर्णन करते हुए अध्येता ने प्रसिद्ध लोकगीत-रचयिता सनेहीराम का परिचय

दिया है : तीसरे अध्याय में लोकगीत-साहित्य का अध्ययन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—(अ) जन्म के गीत (आ) विवाह के गीत (इ) त्यौहार, व्रत, देवी आदि के गीत (ई) अन्य विविध गीत तथा (उ) प्रबन्ध गीत। प्रबन्धगीत के अन्तर्गत विविध पंवारों, ब्याहुला, सरमन, ढोला, मदारी का ढोला, लवकुशजन्म, हिरनावती आदि का पर्यालोचन किया गया है।

चौथा अध्याय 'लोककहानियां' हैं। पूर्वपीठिका के अन्तर्गत भारत में लोक-कहानियों और लोककहानियों की साहित्यिक अभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। कहानियों के बीजों का अनुसंधान वैदिक साहित्य में करते हुए उपनिषद् रामायण, महाभारत, बृहत्कथा, जातक और जैनसाहित्य में उसके विकास का विहंगालोकन किया गया है। तदनन्तर हिन्दी में लोकवार्त्ता-कहानी पर विचार किया गया है। अन्त में ब्रज की कहानियों के विविध रूपों का दिग्दर्शन कराया गया है। पहले कहानियों के वर्गीकरण के सिद्धान्तों का कथन है तब इन कथाओं की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए कहानियों का वर्गीकरण किया गया है। इन कहानियों के विविध अभिप्रायों पर भी प्रकाश डाला गया है। पांचवें अध्याय में लघु-छन्द कहानी (Drolls) के साधारण तथा क्रम सम्वर्द्धित दोनों भेदों का अध्ययन है। छठे अध्याय 'लोकोक्ति-साहित्य' में पहेलियों तथा कहावतों का परिशीलन है।

सातवां अध्याय 'उपसंहार' है। कला और उसके स्वरूप पर विचार करते हुए लोककला की मर्यादाओं पर दृष्टिपात किया गया है। इस अध्याय के कुछ प्रमुख प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं—लोकसाहित्य में शैली और सुरुचि, शैली-संविधान, लोकसाहित्य में प्रतीकप्रयोग, अलंकार, रस, लोकसाहित्य में चरित्र, मनोवैज्ञानिक तत्त्व, यौन तत्त्व, जातिविज्ञान तथा नृविज्ञान, लोकसाहित्य का प्रभाव तथा साहित्य का प्रभाव आदि।

५१. जायसी, उनकी कला और दर्शन

[१९४९ ई०]

श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ का प्रबन्ध 'जायसी, उनकी कला और दर्शन' आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९४९ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। 'सूफी महाकवि जायसी' के नाम से इसका प्रकाशन भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, ने सन् १९५७ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'वातावरण' है। इसमें राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का अनुशीलन करते हुए जायसी-काल के वातावरण पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में जायसी का जीवनवृत्त है। अन्तःसाक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्यों पर विचार करते हुए कवि के जन्म, तिथि, जन्मस्थान, बाल्यकाल, सूफ़ीमत की ओर प्रवृत्ति, मित्र तथा सन्तान, अमेठी-प्रस्थान, मृत्यु-तिथि, स्मारक, ज्ञानार्जन, शिक्षा, इस्लाम और हिन्दू धर्म की जानकारी, व्यवहारज्ञान और व्यक्तित्व आदि का अनुसन्धान किया गया है।

तीसरे, चौथे और पांचवें अध्यायों में क्रमशः 'आखिरी कलाम' 'पदमावत' तथा 'अखरावट' का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जायसी की कृतियों का यह अध्ययन अनेक दृष्टियों से विस्तार के साथ किया गया है। इनमें भी 'पदमावत' का अध्ययन कथानक, कल्पना और इतिहास, प्रेरणा, समासोक्ति या अन्योक्ति है या नहीं, रचनाकाल, रचनाशैली, प्रबन्धकाव्य की विशेषता आदि अनेक दृष्टियों से किया गया है।

छठा अध्याय 'काव्यकला' है। इस अध्याय में भाषा, शब्दभंडार, व्याकरण, मुहावरे और कहावतें, गुण, छन्द, संवाद और अलंकार आदि अनेक दृष्टियों से जायसी के कलापक्ष का अनुशीलन किया गया है। इस अध्याय में प्राकृतिक-व्यापार-वर्णन, वैभव-वर्णन, मानव-दशाओं के वर्णन आदि पर विचार करते हुए जायसी की वर्णनशक्ति पर प्रकाश डाला गया है। उनके चरित्र-चित्रण और सूक्तियों का भी विवेचन है।

सातवें अध्याय में जायसी के साहित्यिक विधान का पर्यालोचन किया गया है। पहले विधानों के संगठन एवं महत्व का प्रतिपादन किया गया है। तब जायसी के मुख्य विधानों की चर्चा की गयी है। आठवां अध्याय अनुभूति

पक्ष है। इसमें रस तथा भाव की दृष्टि से विचार किया गया है। शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ पक्ष के अतिरिक्त करुण, वीर, भयानक, रौद्र आदि रसों के अनुशीलन का प्रयास किया गया है।

नवें अध्याय का विवेच्य 'सूफीमत' है। सबसे पहले सूफ़ीमत की रहस्य-भावना, सूफ़ीमत और इस्लाम, मत के आचार्य, प्रचार आदि बातों का विवरण है। तब उसकी विभिन्न 'अवस्थाओं और मुकामात' का उपस्थापन है। सूफ़ीमत की प्रतीक-योजना पर भी विचार किया गया है और तब दिखाया गया है कि भारतीय वातावरण में आने पर किस प्रकार इसकी भेंट योगधारा से हुई और उसका इस पर क्या प्रभाव पड़ा। भारतीय भावों से इसका सामंजस्य भी दिखाया गया है।

दसवें अध्याय में जायसी के 'दर्शन' का प्रतिपादन है। दर्शन का यह प्रतिपादन उनकी तीनों कृतियों (आखिरी कलाम, पदमावत और अखरावट) के आधार पर क्रमशः किया गया है। ईश्वर, जीव, संसार, शरीररचना, अवस्थाएं, गुरु-महत्व, प्रेम-मार्ग, रहस्य-गोपन, साधन, भारतीय प्रभाव आदि अनेक दृष्टियों से जायसी के दर्शन का अध्ययन किया गया है। जायसी की साधनात्मक और भावनात्मक रहस्य-भावना का अनुशीलन करते हुए अन्य सूफियों से उसकी तुलना भी की गयी है। सूफी साहित्य को उनकी देन का भी मूल्यांकन किया गया है।

ग्यारहवाँ अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है। इसमें कवि का महत्व प्रतिपादित करते हुए हिन्दी-साहित्य में उसके योगदान पर विचार किया गया है। दार्शनिक विचारधारा में भी उसका योग दिखाया गया है। उसकी सामंजस्य-भावना की भी चर्चा की गयी है।

५२. अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि

[१९४९ ई०]

श्री सरयू प्रसाद अग्रवाल का प्रबन्ध 'अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि' सन् १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। इसी नाम से इसका प्रकाशन सं० २००७ वि० में लखनऊ

विश्वविद्यालय ने किया।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। पहला अध्याय भूमिका के रूप में लिखा गया है। इसमें मध्ययुग की कतिपय सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन किया गया है। इसके बाद अकबर का व्यक्तित्व, अकबरी दरबार में कला का आश्रय, भारतवर्ष में यवनसाम्राज्य आदि पर विचार करते हुए यह बतलाया गया है कि अकबरी दरबार में हिन्दी का कितना सम्मान था। इस क्रम में दरबार में आने जाने वाले और अकबर के सम्पर्क में आये हुए तथा स्थायी वृत्ति पाने वाले हिन्दी-कवियों का संक्षिप्त परिचय देने के अनन्तर अकबरी दरबार के प्रतिष्ठित हिन्दी-कवियों की चर्चा की गयी है।

इन्हीं लब्धप्रतिष्ठ कवियों का जीवन-चरित दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य है। इस अध्याय में नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग और अब्दुर्रहीम खानखाना का जीवन-चरित प्रस्तुत किया गया है।

तीसरा अध्याय 'रचनाएं' हैं। इसमें पूर्वोक्त कवियों की रचनाओं का अनुसंधानपूर्वक अध्ययन किया गया है। खोज-रिपोर्टों, विविध पुस्तकालयों और इतिहास-ग्रन्थों में उपलब्ध रचनाओं की प्रामाणिकता आदि पर विचार करते हुए कवियों के काव्यों के वर्ण्य विषय का विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय 'काव्य-विवेचन' में काव्य के अन्तरंग और बहिरंग पक्षों का परिशीलन है। रूपवर्णन, संयोग और विप्रलंभ वर्णन, नायिका-भेद, भक्तिकाव्य, वीरकाव्य, प्रकृतिवर्णन, नीति-उपदेश, उक्तिवैचित्र्य आदि का विवेचन है। इस अध्याय में इन कवियों के काव्य पर विदेशी शब्दों के प्रभाव पर भी विचार किया गया है। शब्दावली के प्रयोग और उनके रूप, कन्नौजी, बुन्देली, खड़ीबोली, अवधी-शब्दों के प्रयोग, वृत्तियों के आश्रय, लाक्षणिक प्रयोग, मुहावरे और लोकोक्तियों आदि का भी अध्ययन किया गया है। अन्त में छन्दोयोजना तथा अलंकार-प्रयोग का भी पर्यालोचन है।

पांचवां अध्याय 'सामाजिक जीवन एवं ऐतिहासिक तथ्य' है। पहले इन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त अकबरकालीन भारतीय रहन-सहन, विश्वास, उपासना, उत्सव, वेशभूषा आदि का अध्ययन किया गया है। तदनन्तर उन काव्यकृतियों में निबद्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार किया गया है। इस दृष्टि से नरहरि, तानसेन और गंग के काव्य का अनुशीलन किया गया है।

परिशिष्ट में नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग, सूरदास मदनमोहन, राजा

आसकरण और राजा टोडरमल आदि अकबरी दरबार के कवियों की अप्रकाशित अथवा दुष्प्राप्य रचनाएं संकलित कर दी गयी हैं जिससे अनुसंधान की दृष्टि से प्रबन्ध का मूल्य बढ़ गया है।

५३. हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव (१४००—१६०० ई०)

[१९४९ ई०]

श्री सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' का प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव (१४००–१६०० ई०)' सन् १९४९ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। 'हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव' नाम से इस प्रबन्ध का प्रकाशन रामनारायण लाल, प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, ने सन् १९५२ ई० में किया।

इस प्रबन्ध में ग्यारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में हिन्दी के सम्बन्ध से संस्कृत-साहित्य का सामान्य पर्यवेक्षण किया गया है। वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र-ग्रन्थ—का पर्यवेक्षण करते हुए हिन्दी से उसके सम्बन्ध का अनुमान किया गया है। इसके बाद संस्कृत-साहित्य—दर्शन स्मृति, पुराण, तन्त्र, महाकाव्य, नाटक तथा काव्य-शास्त्र—का परिचय देते हुए हिन्दी से उसका सम्वन्ध-निर्देश किया गया है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी-काव्य के रूप (प्रबन्ध, मुक्तक आदि), वर्ग और शाखाओं आदि पर संस्कृत-साहित्य की परम्परा का प्रभाव आंका गया है: प्रबन्धकाव्यों तथा मुक्तक-संग्रहों के नामकरण पर भी अध्येता ने संस्कृत-साहित्य का प्रभाव बतलाया है।

तीसरा अध्याय 'कथावस्तु और आधार' है। इस अध्याय में विस्तार के साथ आलोच्य काल (१४००-१६०० ई०) में रचे गये महाकाव्यों तथा खंड-काव्यों की कथावस्तु, पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव निरूपित किया गया है। उन रचनाओं पर भी विचार किया गया है जिन्हें भ्रम से प्रबन्धत्व प्रदान किया जाता है।

चौथे अध्याय में हिन्दी-कवियों की वैराग्य-वृत्ति पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव निर्दशित किया गया है। पाचवें अध्याय में सदाचार-निरूपण (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्संग, सहनशीलता और क्षमा, संतोष, अस्तेय, मौन, परोपकार, दया, परनिन्दा त्याग आदि) पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव दिखलाया गया है।

छठे अध्याय में मन और उसके प्रकार तथा सातवें अध्याय में योग-साधना पर संस्कृत-प्रभाव का आकलन है। हिन्दी में योग-प्रवाह के स्रोत का अध्ययन करते हुए आसन-मुद्रा, नाड़ी-जाल, षट्चक्र, कुंडलिनी, प्राणायाम, सहजावस्था, अजपा, शब्द, शून्य आदि की (हिन्दी साहित्य में) अभिव्यक्ति पर संस्कृत साहित्य (विशेषकर तन्त्र साहित्य) का प्रभाब दिखाया गया है।

आठवें अध्याय में भक्तिभावना पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव का प्रतिपादन है। भक्ति के उदय और विकास, स्वरूप, साधन, प्रकार, नाम की महिमा, भक्त के गुण व कोटियां, भक्ति के अन्तराय, उत्कृष्टता, भक्ति और ज्ञान, योग तथा कर्म, भक्ति और प्रपत्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर संस्कृत के प्रभाव का पर्यवेक्षण किया गया है।

नवें अध्याय में सत्य, आत्मा, जीव, ब्रह्म, जगत्, माया आदि तथा अनवच्छेद-वाद, प्रतिबिम्बवाद, विवर्तवाद और परिणामवाद आदि से सम्बद्ध संस्कृत-साहित्य का हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्त दार्शनिक विचारों पर प्रभाव निरूपित किया गया है।

दसवें अध्याय में नीति-निरूपण तथा ग्यारहवें अध्याय में हिन्दी-काव्यशास्त्र पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव निर्दशित किया गया है। रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, दोष, वृत्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर संस्कृत के काव्य-शास्त्र-साहित्य के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है।

परिशिष्ट में १४००—१६०० ई० तक की प्रमुख हिन्दी-रचनाओं की सूची दे दी गयी है।

५४. भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन

[१६५० ई०]

श्री विश्वनाथ प्रसाद का प्रबन्ध 'भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन' सन् १६५० ई० में लंदन विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

५५. रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम

[१६५० ई०]

कु० सी० वॉदवील को 'रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम' का अध्ययन प्रस्तुत करने पर सन् १६५० ई० में पेरिस (सारबोन) विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिली थी। यह ग्रंथ सन् १६५२ में फ्रेंच में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित होने जा रहा है।

५६. हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी-प्रभाव

[१६५० ई०]

श्री विश्वनाथ मिश्र का प्रबन्ध 'हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी-प्रभाव' सन् १६५० ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

इस प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में विषय-प्रवेश है। जिसमें यह बतलाया गया है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य के (अमेरिकन और यूरोपमहाद्वीपीय लेखकों के भी) प्रभाव का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में अंग्रेजी प्रभाव के आगमन और उसके आरंभिक संपर्कों तथा अंग्रेजी शासन, संस्कृति आदि की विचारचर्चा की

गयी है। चौथे अध्याय में अंग्रेजी प्रभाव के विभिन्न माध्यमों (शिक्षा संस्थाओं, ईसाई मिशनरियों, धार्मिक और राजनैतिक आंदोलनों, प्रेसों, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाओं आदि) के आधार पर अंग्रेज़ी प्रभाव का अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि अंग्रेज़ी प्रभाव के कारण हिन्दी के विकास की प्रक्रिया में काफी प्रगतिशीलता आयी। भाषा का स्तर ऊंचा हुआ; नए साहित्यिक केन्द्रों की स्थापना हुई; कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यरूपों में अनेक परिवर्तन हुए।

छठे अध्याय में अंग्रेजी भाषा की प्रमुख विशेषताएं बतलाते हुए यह निर्दशित किया गया है कि अंग्रेजी प्रभाव के कारण शब्दसमूह, मुहावरों और कहावतों, व्याकरण, विरामचिह्न, कारक, शैली आदि की दृष्टि से हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति में वृद्धि हुई है। सातवें अध्याय में हिन्दी-कविता पर अंग्रेजी प्रभाव की समीक्षा है। आरम्भ में अंग्रेजी कविता की प्रमुख विशेषताओं और अंग्रेजी से हिन्दी में किये गये अनुवादों का उल्लेख है। तदनन्तर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक, लोचन प्रसाद पांडेय, जयशंकर प्रसाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों पर पड़ने वाले अंग्रेजी प्रभाव का विश्लेषण है। आठवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय नाटक है। अंग्रेजी के प्रभाव के पूर्व हिन्दी नाटक, अंग्रेजी प्रभाव के स्रोत, अंग्रेजी के अनूदित नाटक आदि शीर्षकों के अन्तर्गत अध्याय की भूमिका प्रस्तुत करके भारतेन्दु से प्रसाद तक के नाटककारों पर अंग्रेज़ी प्रभाव का अनुशीलन किया गया है। नवें अध्याय में हिन्दी-उपन्यास और दसवें अध्याय में हिन्दी-कहानी पर अंग्रेजी प्रभाव का निरूपण है।

ग्यारहवें अध्याय में अन्य साहित्यरूपों पर अंग्रेज़ी प्रभाव का अनुसंधान किया गया है। उस अध्याय में मुख्यतया हिंदी के निबन्ध-साहित्य और आलोचना-साहित्य तथा गौण रूप से जीवनचरित, इतिहास, आचारशास्त्र, सामयिक साहित्य आदि पर अंग्रेजी के प्रभाव की आलोचना है। बारहवां अध्याय 'उपसंहार' है जिसमें हिन्दी पर अंग्रेजी-प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनका मूल्यांकन किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्टों में दी गयी सामग्री ('अवध अखबार' से उद्धरण, हिन्दी-प्रदेश के पाठ्यक्रमों में निर्धारित अंग्रेजी के लेखकों और कृतियों की सूची, अंग्रेजी और बंगला के अनूदित ग्रन्थों की सूची) प्रस्तुत अध्ययन के लिए उपयोगी है।

५७. गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी-साहित्य में उसकी परम्परा

[१९५० ई०]

श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' को उनके प्रबन्ध 'गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी-साहित्य में उसकी परम्परा' पर सन् १९५० ई० में काशी विश्व-विद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की।

प्रथम प्रकरण में गीतिकाव्य का उद्गम और विकास प्रदर्शित किया गया है। इसमें चार परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में गीतों की आदिम अभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे परिच्छेद में गीतिकाव्य के स्वरूप और विकास का विवेचन है। तीसरे परिच्छेद में विषय की दृष्टि से विभाजन किया गया है और चौथे परिच्छेद में गीतिकाव्य के आलोचनात्मक मानदंडों का निरूपण हुआ है।

द्वितीय प्रकरण में पाली और प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत गीति-तत्वों की छानबीन की गयी है। ऋग्वेद में गीतात्मक प्रसंगों की स्थिति है। बौद्ध-साहित्य के नवोन्मेष के साथ-साथ नव्योद्भावना हुई। पाली के अनन्तर प्राकृत नाटकों के अन्तर्गत प्राकृत-गीतों में भी गीतितत्वों का पोषण होता रहा। तृतीय प्रकरण में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की भूमिका में गीतितत्व का विकास दिखाया गया है।

चतुर्थ प्रकरण 'वज्रयानी सिद्धों के गाथा और दोहों का स्वरूप' है। इन सिद्धों में कुछ प्रमुख कवियों (सरहपा, गुंडरीपा, कण्हपा आदि) के साम्प्रदायिक गीतों का विवेचन किया गया है। सिद्धकाव्य के अन्तर्गत गीतिकाव्य के बाह्य स्वरूप का निरूपण भी है।

पंचम प्रकरण में नाथपंथी योगियों की साधनात्मक पदावली पर विचार किया गया है। गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथपंथी सिद्धों के साधनापरक पदों का साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा था—इस प्रकरण में यह भी प्रदर्शित किया गया है।

षष्ठ प्रकरण में हिन्दी-काव्य-विकास का प्रारम्भिक रूप प्रदर्शित किया गया है। इस युग में प्रबन्ध और मुक्तक दोनों धाराओं का विकास हुआ। अमीर खुसरो ने साहित्य और संगीत के समन्वित विकास द्वारा हिन्दी-काव्य में एक

नवीन युग का समारंभ किया। इस युग का साहित्य अनेक महान् व्यक्तित्वों से प्रभावित हुआ। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति आदि महान् गीतकारों का प्रभाव इस दिशा में अविस्मरणीय है।

सप्तम प्रकरण में सन्त-साहित्य के अन्तर्गत गीतात्मक उन्मेष का अध्ययन किया गया है। इस युग में पद-साहित्य का महत्वपूर्ण सृजन हुआ। यह सृजन दक्षिण के नामदेव आदि सन्त कवियों से प्रभावित हुआ। कबीर, धरमदास, नानक, मलूकदास, दादू तथा सुन्दरदास आदि अनेक निर्गुणमार्गी कवियों द्वारा विपुल साहित्य रचा गया। दादू और कबीर आदि के गीतों में भावना की तीव्रतम व्यंजना पायी जाती है। वस्तुतः सन्तकाव्य में गीतिकाव्य के विकास के प्रचुर संकेत उपलब्ध होते हैं।

अष्टम प्रकरण में रामभक्ति-काव्य के अन्तर्गत गीतिकाव्य पर विचार किया गया है। तुलसी के गीतिकाव्य का विशेष अध्ययन किया गया है। नवम प्रकरण में कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत गीतिकाव्य की विवेचना की गयी है। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, छीतस्वामी आदि अष्टछाप के कवियों का प्रमुख रूप से अध्ययन किया गया है।

दशम प्रकरण में यह बतलाया गया है कि रीतिकाल गीतिकाव्य के ह्रास का युग है। इस युग में लोकसाहित्य के स्थान पर परवर्ती संस्कृत-काल की प्रवृत्तियों की परम्परा उपलब्ध होती है, अर्थात् इस युग में तीव्रतम भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के स्थान पर उक्तिवैचित्र्य के प्रति ही अधिक मोह रहा। हाँ, स्वच्छन्द कवियों की परम्परा में गीतिकाव्य का विकास अवश्य उपलब्ध होता है।

५८. आचार्य केशवदास—एक अध्ययन

[१९५० ई०]

श्री हीरालाल दीक्षित का प्रबन्ध 'केशवदास—एक अध्ययन' सन् १९५० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। केशवदास-विषयक अनुसंधान पर उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया वह सर्वप्रथम प्रबन्ध है। लखनऊ विश्वविद्यालय ने इस प्रबन्ध का प्रकाशन सं०

२०११ में 'आचार्य केशवदास' के नाम से किया।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि का अध्ययन है। इसमें केशव के काव्य-क्षेत्र, उनकी पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा, तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों एवं केशव के काव्य पर पड़ने वाले प्रभावों का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में अन्तःसाक्ष्य, बहिःसाक्ष्य तथा किंवदन्तियों के रूप में उपलब्ध आधारभूत सामग्री की परीक्षा करके केशवदास के जीवनवृत्त की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। साथ ही उनके विविध-विषयक ज्ञान का निदर्शन किया गया है। तृतीय अध्याय में केशवदास के ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विचार करके उनके प्रामाणिक ग्रन्थों (रसिकप्रिया, नखशिख, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेवचरित, रतनबावनी, विज्ञान-गीता और जहांगीरजसचन्द्रिका) का संक्षिप्त परिचय है। इसी में उन ग्रंथों का काव्यस्वरूप तथा विषय के अनुसार वर्गीकरण प्रस्तुत करके उनके रचना-क्रम तथा उनकी टीकाओं पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में केशव-दास की काव्य-कला—उनकी प्रबन्धरचना, चरित्रचित्रण, भावव्यंजना, वर्णन-शैली, संवादयोजना, भाषाशैली, छन्दोविधान तथा अलंकारप्रयोग—का विवेचन है। पंचम अध्याय में केशवदास के आचार्यत्व की समीक्षा है। आरम्भ में पूर्ववर्ती रीतिग्रन्थों की परम्परा और केशवदास द्वारा किये गये गण-अगण-विषयक विचार, कविभेद-वर्णन तथा कवि रीति-वर्णन का संक्षिप्त निरूपण करके उनके ग्रन्थों में किये गये अलंकारभेद-वर्णन, रसविवेचन तथा नायक-नायिका-भेद-वर्णन की विस्तारपूर्वक आलोचना की गयी है। अध्याय के अन्त में भूषण, भिखारीदास, मतिराम आदि अन्य रीतिकारों के साथ आचार्य केशव-दास का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में केशव की विचार-धारा का निरूपण है। उनके ब्रह्म, जीव, माया सृष्टि, मोक्ष, साधन आदि से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक विचारों, उनकी रामभावना, नारीभावना, राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों का विश्लेषण करके 'विज्ञानगीता' की 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि संस्कृत-ग्रन्थों से तुलना की गयी है। सप्तम अध्याय में केशवदास की कृतियों में निबद्ध ऐतिहासिक सामग्री की परीक्षा करके उनके एतद्विषयक योगदान का मूल्यांकन है। अध्याय के अन्त में उपसंहार करते हुए कवि, आचार्य तथा 'इतिहासकार' केशवदास के महत्व का आकलन है।

१६. द्विवेदीयुगीन हिन्दी-कविता (१६०१-१६२० ई०) में युगान्तर—एक अध्ययन

[१६५० ई०]

श्री ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र' को उनके प्रबन्ध 'द्विवेदीयुगीन हिन्दी-कविता (१६०१-२० ई०) में युगान्तर—एक अध्ययन' पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। 'हिन्दी-कविता में युगान्तर' नाम से इस प्रबन्ध का प्रकाशन आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, ने १६५० ई० में किया। सन् १६५७ ई० में इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में इस पुनरुत्थान का पूर्वाभास दिया गया है। लेखक का मत है कि इस नव-जागरण का श्रेय पाश्चात्य सम्पर्क को है और इस सम्पर्क के माध्यम अंग्रेज़ शासक थे। इस अध्याय में आलोच्य विषय का विहंगावलोकन है।

दूसरा अध्याय 'जीवन की पृष्ठभूमि' है। विवेच्यकाल की सांस्कृतिक पीठिका, राजनीतिक गतिविधि, सामाजिक स्थिति, कला और साहित्य तथा साहित्य की प्रेरक युगप्रवृत्तियों का अनुशीलन इस अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय में कविता के सर्वोदय का प्रतिपादन किया गया है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने प्राचीन कविता में नवजीवन-संचार द्वारा नवीनता और आधुनिकता का श्रीगणेश किया था। यह काव्योत्थान का प्रथम चरण था। इस प्रसंग में भारतेन्दु-काल का मूल्यांकन किया गया है। इस क्रांति का द्वितीय चरण द्विवेदी-काल था। लेखक का विचार है कि इस काल की भाषायी क्रांति के 'द्रष्टा' और 'अधिनायक' दोनों महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। तदनन्तर द्विवेदी जी की इस क्रान्ति-साधना का अध्ययन किया गया है। 'कवि-कर्तव्य' द्वारा द्विवेदी जी ने कविता-क्षेत्र में एक सर्वांगीण क्रांति का बीजवपन किया था। बहिरंग अर्थात् रूप और अन्तरंग अर्थात् रंग दोनों ही क्षेत्रों में क्रान्ति के अनुष्ठान का आरम्भ उन्होंने किया।

चौथा अध्याय कविता के क्रम-विकास का अध्ययन प्रस्तुत करता है। अनुसंधाता ने इस क्रम को निम्नलिखित चार कोटियों में रखा है :

(क) चमत्कारात्मक कोटि : 'सूक्तिकाव्य'
(ख) वर्णनात्मक कोटि : 'इतिवृत्तात्मक काव्य'
(ग) उपदेशात्मक कोटि : 'नीति-काव्य'
(घ) भावनात्मक कोटि : 'भाव-काव्य'

पाँचवां अध्याय 'अन्तरंग-दर्शन' है। इस दर्शन के अन्तर्गत लेखक ने सात कविता-धाराओं का अध्ययन किया है। सबसे पहले आख्यानक-कविता-धारा का विवेचन है। ये आख्यान पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक तीन प्रकार के हैं। इन विविध आख्यानों के प्रणयन में कारण-भूत प्रेरणाओं का भी अनुशीलन किया गया है। इसके बाद इन त्रिविध आख्यानों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। दूसरी धारा सामाजिक काव्य-धारा है। समाज की प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों पर विचार करते हुये इस कविता-धारा के नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक पक्षों का विवेचन किया गया है। तीसरी धारा आदर्शवाद की है। चौथी काव्यधारा राष्ट्रीय है। इस अध्याय में इस धारा की व्यवस्थित विवेचना प्रस्तुत की गयी है। चौथी धारा के रूप में प्रकृति और प्रेमविषयक रचनाओं पर और पाँचवीं के रूप में 'भक्ति' और 'रहस्य' विषयक रचनाओं पर विचार किया गया है। इसी प्रकार प्रतीक और संकेत को छठी तथा रहस्यवाद और छायावाद को सातवीं काव्यधारा मानकर उनका अध्ययन किया गया है।

छठे अध्याय में कला-समीक्षा की गयी है। यह विस्तृत समीक्षा भाषा, सजीवता, शब्दनिर्माण, छन्द-विकास, गीति-विन्यास आदि अनेक दृष्टियों से की गयी है। इसी अध्याय में 'द्विवेदीकाल-चक्र' प्रस्तुत किया गया है जो विवेच्य-युग की विशेष महत्वपूर्ण कृतियों तथा घटनाओं का सूचक है।

६०. प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

[१९५१ ई०]

श्रीरामसिंह तोमर को उनके प्रबन्ध 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९५१ ई० में डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग के भी दो उपभाग किये गये हैं। (क) उपभाग में प्राकृत-साहित्य और (ख) उपभाग में अपभ्रंश-साहित्य का विवेचन किया गया है। (क) के पहले अध्याय में जैन प्राकृत-साहित्य की समीक्षा की गयी है। दूसरे अध्याय में साहित्यिक प्राकृत का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन के विषय इस प्रकार हैं—मुक्तक-साहित्य,प्रबन्धात्मक साहित्य, नाटकीय प्राकृत, उत्तर-पश्चिम-सीमान्त की प्राकृत और शिला-लेखों की प्राकृत। (ख) के पहले अध्याय में अपभ्रंश भाषा तथा अपभ्रंश के भेदों का दिग्दर्शन कराया गया है। दूसरे अध्याय में 'अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण' है। तीसरे अध्याय में जैन अपभ्रंश-साहित्य की मुक्तक, रहस्यवादी तथा उपदेशात्मक काव्यधारा और चौथे में जैन अपभ्रंश-साहित्य की प्रबन्धात्मक रचनाओं का अनुशीलन किया गया है। पांचवें अध्याय में बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाओं की समीक्षा की गयी है। छठे अध्याय में शैवों के अपभ्रंश-भाषा में लिखे गये धार्मिक साहित्य का विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में ऐहिकता-परक अपभ्रंश-साहित्य का परिचय दिया गया है।

द्वितीय भाग में हिन्दी पर प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य के प्रभाव का आकलन किया गया है। पहले अध्याय में यह प्रदर्शित किया गया है कि इस साहित्य ने हिन्दी के काव्यरूपों को किस प्रकार प्रभावित किया है। दूसरे अध्याय में रचनाशैली, छन्दों, अलंकारों आदि पर प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव दिखलाया गया है। तीसरे अध्याय में कथानकों पर पड़े प्रभाव का निर्देश किया गया है। चौथा अध्याय 'भावधारा और उपसंहार' है।

हिन्दी साहित्य पर प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। वीरगाथाकाल और भक्तिकाल के हिन्दी-साहित्य पर यह प्रभाव अत्यन्त मुखर

एवं स्पष्ट है। हिन्दी-काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों को ही प्राकृत-अपभ्रंश के समृद्ध साहित्य के गम्भीर रूप ने प्रभावित किया है। चन्द, विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे हिन्दी के सभी महान् कवि किसी न किसी रूप में प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य के प्रति ऋणी हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस ऋण का आकलन एवं महत्वांकन किया गया है।

६१. आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन

[१९५१ ई०]

श्री हरिहर प्रसाद गुप्त को उनके प्रबन्ध 'आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन' पर सन् १९५१ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबन्ध 'गामोद्योग और उनकी शब्दावली' के नाम से सन् १९५९ ई० में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, से प्रकाशित हुआ।

हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाने एवं हिन्दी के ऐतिहासिक विकास तथा उसके तुलनात्मक अध्ययन के लिए और भारतीय संस्कृति की सम्यक् जानकारी के लिए जनपदीय शब्दों, वाक्यांशों, मुहावरों तथा कहावतों का वैज्ञानिक संग्रह एवं अनुशीलन अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर आज़मगढ़ ज़िले की तहसील फूलपुर की ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन किया गया है। यह क्षेत्र जौनपुर और फैजाबाद की सीमा से लगा हुआ है। यहां की बोली पश्चिमी भोजपुरी होते हुए भी अवधी से किंचित् प्रभावित है। इसी क्षेत्र की शब्दावली का सीमित परन्तु वैज्ञानिक तुलनात्मक अध्ययन इस प्रबन्ध में इष्ट है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। उद्योग-धन्धों की शब्दावली विशेष (टेकनिकल) अर्थों में प्रयुक्त होती है अत: उनको समझाने के लिए उद्योग-धन्धों की प्रत्येक प्रक्रिया का पूर्ण विवरण अपेक्षित है। इसीलिए प्रबन्ध के प्रथम खंड में खेती तथा अन्य समस्त उद्योगों का विवरणात्मक परिचय दिया गया है।

प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में मिट्टी और खेत सम्बन्धी शब्दावली का

अध्ययन हुआ है। द्वितीय अध्याय में खेती की साधारण बातों खोदना, जोतना, हेंगाना, सींचना, खेत रखाना, खाद डालना, बोना, गोड़ना, निराना, काटना, ढोना, ओसाना इत्यादि विषयक शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। यत्र तत्र सम्बद्ध मुहावरों आदि की भी चर्चा है।

तृतीय अध्याय में जौ, गेहूं, मटर, चना, अरहर, सरसों, तीसी, धान, सनई, ईख, मक्का, ज्वार, सांवां, पान, आलू, प्याज, मिरचा, मूली व पोस्त आदि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी शब्दावली का उनके विभिन्न प्रकारों के साथ अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में गाय, भैंस, पशुओं के रोग, पशुओं का भोजन, पशु चराना, दूध, घी, दही, घी का काम आदि जो पशुपालन से सम्बन्धित विषय है, उनकी शब्दावली का अध्ययन हुआ है।

पंचम अध्याय में अन्य ग्रामोद्योग कुआं बनाना, मकान बनाना, मिट्टी का काम, लकड़ी का काम, लोहे का काम, गुड़ शक्कर चीनी का काम, कपड़े का काम, ऊन का काम, तेल का काम, बांस का काम, सोने चांदी का काम, गहना गुहने का काम और बाल बनाने का काम एतद्विषयक शब्दसमूहों, वाक्यांशों और मुहावरों का अध्ययन हुआ है।

षष्ठ अध्याय में पुरुषों से सम्बन्धित गृहोद्योग सुतली कातना, रस्सी बनाना, चारपाई बुनना, झौआ बनाना, खाँचीं बुनना, गोनरी बुनना और स्त्रियों से सम्बन्धित गृहोद्योग मिट्टी के सामान बनाना, सूत कातना, जांत पीसना, सीना-पिरोना इत्यादि की शब्दावली का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

प्रबन्ध के द्वितीय खंड में समस्त पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका अकारादि क्रम से दी गयी है। शब्दों के साथ उनके प्रयोग के अनुच्छेदों की संख्या देते हुए उनका व्याकरण और उनकी व्युत्पत्ति भी दी गयी है। इसमें लगभग २५०० शब्द हैं।

६२. भारतीय साधना और सूर-साहित्य
[१९५१ ई०]

पं० मुंशीराम शर्मा का प्रबन्ध 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' सन् १९५१ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इस ग्रन्थ का प्रकाशन आचार्य साधना सदन, १९।४४, पटकापुर, कानपुर, ने सं० २०१० में किया।

इस प्रबन्ध में ग्यारह अध्याय हैं। सूर-साहित्य की भक्तिभावना के पृष्ठाधार रूप में लिखित पहले अध्याय में भारतीय साधना की विशेषताओं, उसके विविध प्रकारों, भक्ति के विकास और सगुणोपासना के आधार पर प्रतिष्ठित भागवत भक्ति का विश्लेषण है। दूसरे अध्याय में सूर-साहित्य का विवेचन है। सूर-साहित्य को दो भागों—वल्लभाचार्य से भेंट होने के पूर्व रचित विनय-पद एवं उनकी भेंट के उपरान्त रचित हरिलीला के पद—में विभाजित करके उसका अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में उस पर नाथपंथी, कबीरपंथी तथा वैष्णव आदि सम्प्रदायों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ने वाले प्रभावों का आकलन किया गया है।

चौथे अध्याय के ग्यारह परिच्छेदों में हरिलीला के स्वरूप, पुष्टिमार्गीय भक्ति से उसके सम्बन्ध, प्राचीन एवं मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति आदि का निरूपण है। वेदों, पुराणों, तन्त्र-ग्रन्थों, पुष्टिमार्ग, आधुनिक विज्ञान आदि के अनुसार भी हरिलीला की व्याख्या की गयी है। पांचवें अध्याय में सूरदास और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त-पक्ष तथा सेवा-पक्ष की विस्तृत व्याख्या है। छठे अध्याय में सूरदास द्वारा वर्णित हरिलीला के सृजन-पक्ष एवं ध्वंस-पक्ष—दोनों का कवि के पदों के आधार पर उद्घाटन किया गया है, सूर के काव्य में चित्रित हरि-लीला, दावानल-पान, असुर-वध आदि की समालोचना है।

सातवें अध्याय में साख्यों, शैवों, वेदान्तियों आदि के शक्ति-शक्तिमत्-सम्बन्धी मतों की भूमिका में सूरदास के राधाकृष्ण का स्वरूप-निरूपण है। आठवें अध्याय में भागवत, पद्मपुराण आदि में अंकित शृंगारी हरि-लीला से प्रभावित सूरकाव्यगत शृंगार रस की समीक्षा है, सूर की मौलिक एवं स्वतंत्र उद्भावना-शक्ति की ओर भी संकेत किया गया है। नवें अध्याय में सूर-साहित्य में उपस्थापित ब्रज-संस्कृति का विवेचन है। दसवें अध्याय में सूर-साहित्य में अभिव्यक्त

पुष्टिमार्गीय सेवा, भक्ति और हरिलीला का जो प्रभाव परवर्ती हिन्दी-कृष्णकवियों (देव, बिहारी आदि) पर पड़ा उसकी समीक्षा की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में सूर-साहित्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराकर हिन्दी-काव्यक्षेत्र में उनका स्थान निर्धारित किया गया है। परिशिष्ट में वायुपुराण तथा पद्मपुराण में वर्णित कृष्णलीला के कुछ उद्धरण हैं और अन्त में सूर-सम्बन्धी साहित्य की विवेचना की गयी है।

*

६३. कबीर की विचारधारा

[१९५१ ई०]

श्री गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसंधान का विषय था 'कबीर की विचारधारा'। उक्त प्रबन्ध पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५१ ई० में उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। उपाधि के लिए स्वीकृत मूल प्रबन्ध का किंचित् परिवर्तित रूप 'कबीर की विचारधारा' नाम से ही साहित्य निकेतन, कानपुर, द्वारा सं० २००९ में प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ में आठ प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण 'विषय-प्रवेश' है। इसमें कबीर के विषय में प्रचलित अनेक भ्रांतिपूर्ण धारणाओं का निराकरण करके बहि:साक्ष्य एवं अन्त:साक्ष्य का विवेचन है। कबीर के सम्बन्ध में लिखित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के आलोचनात्मक ग्रन्थों की परीक्षा करके प्रस्तुत अध्ययन के लक्ष्य का स्पष्टीकरण है। द्वितीय प्रकरण में कबीर की विचारधार को प्रभावित करने वाले उपादानों—तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों, कबीर के व्यक्तित्व, विविध धर्म-दर्शन आदि—का विश्लेषण किया गया है। तृतीय प्रकरण में कबीर द्वारा किये गये ब्रह्मनिरूपण, उनके ब्रह्मवर्णन की विशेषताओं, उनकी आत्मा-सम्बन्धी भावात्मक एवं विचारात्मक उक्तियों तथा उनकी रहस्य-साधना की समीक्षा है। चतुर्थ प्रकरण में कबीर के अध्यस्त तत्व सम्बन्धी विचारों का विवेचन है, जिसमें माया और जगत् की व्याख्या की गयी है, संक्षेप में उनके आध्यात्मिक सिद्धान्त का निरूपण करके उनकी दार्शनिक पद्धति, आध्यात्मिक साधनों (योग और भक्ति) आदि क अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पंचम प्रकरण में कबीर के धार्मिक तथा

सामाजिक विचारों का अनुशीलन है। षष्ठ प्रकरण में कबीर के विचारों की साहित्यिकता और अभिव्यक्ति, उनकी प्रतीक-पद्धति, उलटबाँसियों, अन्योक्ति, समासोक्ति, शब्द, रस, अलंकार और गुण की रमणीयता, भाषा तथा छन्द पर विचार किया गया है। सप्तम प्रकरण में मध्यकाल के रूढ़िवादी, सामंजस्यवादी और स्वतन्त्र विचारकों में कबीर का स्थान निर्धारित किया गया है। अष्टम प्रकरण में कबीर की अलौकिक प्रतिभा और सत्यानुभूति पर आधृत उनकी विचारधारा-सम्बन्धी विशेषताओं, उनकी क्रान्तिकारिणी तथा प्रेम-सम्बन्धी भावनाओं का उपसंहारात्मक निरूपण है। परिशिष्ट में कबीर-पंथ की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करके कबीर के कुछ दुरूह शब्दों (शून्य, निरंजन, नाद-बिन्दु, खसम, उन्मनि आदि) का ऐतिहासिक विवेचन है।

६४. हिन्दी-साहित्य में अलंकार

[१९५१ ई०]

श्री ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ का प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य में अलंकार' सन् १९५१ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। वही प्रबन्ध परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ दो स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हुआ है। पहला ग्रन्थ 'हिन्दी अलंकार साहित्य' है जो सन् १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ। दूसरा ग्रन्थ है 'हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य' जो सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ। दोनों का प्रकाशन भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली, से हुआ है।

मूल प्रबन्ध में दो भाग थे। आरम्भ में काव्य का जन्म, काव्य तथा अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार, अलंकार तथा जीवन, अलंकार-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास और प्रस्तुत अध्ययन—इन विषयों पर संक्षेप में विचार किया गया था। ग्रन्थ के प्रथम भाग के विभाग इस प्रकार थे—वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, संतकाव्य, सूफीकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, रीतिकाव्य और गद्ययुगीन काव्य। द्वितीय भाग का विभाजन इस प्रकार किया गया था—आचार्यकर्म, हिन्दी आचार्यों का वर्गीकरण, प्राचीन परम्परा के आचार्य, चन्द्रालोक-शैली, मतिराम-भूषण-शैली, काव्यप्रकाश-शैली और गद्ययुगीन आचार्य (अलंकारों के आचार्य,

आलोचकों के अलंकार-विषयक विचार तथा शोधकार्यकर्ताओं के अलंकार-विषयक विचार)। अन्त में 'उपसंहार' था।

प्रकाशित ग्रन्थ 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' के आरम्भ में संस्कृत-अलंकार-साहित्य का संक्षिप्त निरूपण है। जिसमें वैदिक साहित्य से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक भरत आदि तेईस आचार्यों के अलंकार-साहित्य का हिन्दी-अलंकार-साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में पर्यालोचन प्रस्तुत किया गया है। उसके बाद हिन्दी-अलंकार-साहित्य का संक्षिप्त परिचय तथा वर्गीकरण है। तदनन्तर हिन्दी के चौबीस मध्ययुगीन अलंकार-शास्त्रियों (केशवदास, जसवंतसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति मिश्र, देवकवि, श्रीधर कवि, रसिक सुमति, रघुनाथ, गोविन्द कवि, दूलह, दास कवि, ऋषिनाथ, रामसिंह, सेवादास, पद्माकर, ब्रह्मदत्त, काशिराज, गिरिधरदास, लेखराज, लछिराम, गुलाबसिंह और गंगाधर) एवं सात गद्ययुगीन अलंकार-निरूपकों (मुरारिदान, भानुकवि, भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया, बिहारीलाल भट्ट, कन्हैयालाल पोद्दार और रामदहिन मिश्र) के अलंकार-साहित्य का विवेचन है। परिशिष्टरूप में संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार संकलित कर दिये गये हैं।

'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य' आठ शीर्षकों में विभक्त है। पहला विषय-प्रवेश है। दूसरे में वीरगाथा काव्य की पृष्ठभूमि बतलाकर 'पृथ्वीराज-रासो', 'परमालरासो' और 'वीसलदेवरासो' के सौन्दर्य का अध्ययन है। तीसरे में सूफीकाव्य की पृष्ठभूमि का निर्देश करके 'पदमावत' 'इन्द्रावत' आदि सूफी-कवियों के काव्यों के काव्यसौन्दर्य की समीक्षा की गयी है। इसी प्रकार चौथे, पाँचवें और छठे शीर्षकों के अन्तर्गत क्रमशः निर्गुणकाव्य, कृष्णकाव्य और रामकाव्य के सौन्दर्य का विवेचन है। सातवें में बिहारीलाल और घनानंद के शृंगार-काव्य में अभिव्यक्त सौन्दर्य की विवेचना है। आठवां शीर्षक परिशिष्ट है जिसमें संस्कृत, अंग्रेजी, बंगाली तथा अन्य सहायक पुस्तकों की सूची दी गयी है।

६५. हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५१ ई०]

श्री उमेशचन्द्र त्रिपाठी को आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५१ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली। उनका शोध-विषय था 'हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन'। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में साहित्य और उसके अंगों का संक्षिप्त विवेचन करके साहित्य में निबन्ध का स्थान और महत्व बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में निबन्ध के तत्वों और प्रकारों की विवेचना है। तीसरे अध्याय में हिन्दी-निबन्ध की पृष्ठभूमि का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में भारतेन्दु-युग को हिन्दी-निबन्ध का प्रस्तावना-काल मानकर तत्कालीन निबन्धों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पांचवें अध्याय में द्विवेदी-युगीन निबन्धों की आलोचना है। यह हिन्दी-निबन्ध का संवर्धन काल है। छठे अध्याय में आधुनिक युग के निबन्धों का अनुशीलन किया गया है। यह हिन्दी-निबन्ध का प्रौढ़ काल है। सातवें अध्याय में हिन्दी-निबन्ध-साहित्य पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों का आकलन है। उपसंहार में हिन्दी के निबन्ध-साहित्य का मूल्यांकन किया गया है।

६६. हिन्दी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास

[१९५१ ई०]

श्री भगवत्स्वरूप मिश्र का प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास' आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५१ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। 'हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास' के नाम से साहित्य सदन, देहरादून, ने इसे सन् १९५४ ई० में प्रकाशित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सोलह अध्याय हैं। पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमें साहित्य-समीक्षा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय में साहित्य-समीक्षा के प्रकारों की भी चर्चा की गयी है। दूसरे अध्याय में संस्कृत-साहित्य में समीक्षा के स्वरूप का निरूपण है। सौ से अधिक पृष्ठों के इस

अध्याय में संस्कृत-साहित्य-समीक्षा के मानदंडों का विशद विवेचन है। यह अध्ययन हिन्दी-समीक्षा के अध्ययन की पृष्ठभूमि को समझने में सहायक है। तीसरे अध्याय 'हिन्दी में रीतिग्रन्थ और साहित्यसमीक्षा' में हिन्दी के प्रमुख रीतिग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों पर विचार किया गया है। इसमें रस तथा अलंकार सम्प्रदाय से सम्बद्ध हिन्दी के रीतिकारों का भी विवेचन है।

चौथा अध्याय 'आधुनिक समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ' है। इस अध्याय में भारतेन्दु-युग की समीक्षा का सिंहावलोकन किया गया है। पाँचवें अध्याय का प्रतिपाद्य 'द्विवेदी-काल में आलोचना का स्वरूप' है। इस प्रकरण में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों का भी अध्ययन किया गया है।

छठे अध्याय में मिश्रबन्धुओं की समीक्षा-पद्धति पर विचार किया गया है। अध्येता की मान्यता है कि मिश्रबन्धुओं ने ही हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। सातवें अध्याय में तुलनात्मक समालोचना का अध्ययन किया गया है। इस क्रम में पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन और छन्नूलाल द्विवेदी आदि की समीक्षा-शैली का विवेचन किया गया है। आठवें अध्याय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कृतित्व का अनुशीलन है। इस अध्याय में शुक्ल जी की समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं तथा उन मान्यताओं के विषय में हिन्दी के अन्य आलोचकों के विचारों की विवेचना की गयी है। शुक्ल जी के कृतित्व पर विस्तार से विचार करते हुए अनुसंधाता ने बतलाया है कि शुक्ल जी के सिद्धान्त-निरूपण में युग के व्यापक साहित्य-दर्शन के आधारतत्व हैं और शुक्ल जी युग-प्रतिनिधि सिद्धान्तकार हैं।

नवें अध्याय में समीक्षा की वर्तमान शैलियों का विवेचन है। दसवें अध्याय में सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का परिशीलन किया गया है। इस क्रम में प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र आदि समीक्षकों पर विचार किया गया है। ग्यारहवें अध्याय 'मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा' में मुख्यतया इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' की समीक्षा-शैली का अध्ययन है। बारहवां अध्याय 'मार्क्सवादी समीक्षा' है। तेरहवें अध्याय में समीक्षा की अन्य शैलियों का निरूपण किया गया है। इसमें प्रधानतया प्रभाववादी आलोचना का अध्ययन है। चौदहवें अध्याय का प्रतिपाद्य चरितमूलक समीक्षा है। इस क्रम में गंगाप्रसाद पांडेय की कृति 'महाप्राण निराला' का विवेचन है। सोलहवें अध्याय में 'आधुनिक काल में साहित्यशास्त्र'

का विवेचन है। उपसंहार में हिन्दी-समीक्षा के भविष्य पर विचार किया गया है।

६७. कृष्णकाव्य-धारा (सोलहवीं शती ई०) के प्रसिद्ध मुस्लिम कवि आलम का 'स्याम सनेही'

[१९५१ ई०]

श्री सरनदास भणोत को उनके प्रबन्ध "कृष्णकाव्य-धारा (सोलहवीं शती ई०) के प्रसिद्ध मुस्लिम कवि आलम का स्याम सनेही" पर पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५१ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में हस्तलिखित प्रतियों का विवरण है। दूसरे अध्याय में 'स्याम स्नेही' के रचयिता पर विचार किया गया है। इस अध्याय में तीन परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में आलम-विषयक विभिन्न वाद-विवादों का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दूसरे परिच्छेद में आलम के विषय में स्थापित की गयी विभिन्न मान्यताओं की परीक्षा की गयी है। तीसरे परिच्छेद में आलम की जीवनी और विचारधारा का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में आलम के अप्रकाशित ग्रन्थों का अनुसंधानात्मक अध्ययन है। चौथे अध्याय में आलम की प्रकाशित कृतियों की विवेचना की गयी है। पांचवें अध्याय में आलम के 'स्याम स्नेही' और उसकी प्रतिपाद्य वस्तु का निरूपण है। छठे अध्याय में 'स्याम स्नेही' और 'श्रीमद्भागवत' का तुलनात्मक अध्ययन है। सातवें अध्याय में छः परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः नन्ददास के 'रुक्मिणी मंगल', पृथ्वीराज राठौर-कृत 'वेली', हृदयराम के 'रुक्मिणी मंगल,' 'प्रेमसागर', रघुराज सिंह के 'रुक्मिणी परिणय,' और 'कृष्णायन' की तुलना में 'स्याम स्नेही' की समीक्षा की गयी है। आठवें अध्याय में 'स्याम स्नेही' की भाषा, शैली और छन्द का अनुशीलन है। नवें अध्याय में हिन्दी-साहित्य में आलम का स्थान निर्धारित किया गया है।

६८. भारतीय नाटकों का उद्भव और विकास (हिन्दी नाटकों का विशेष अध्ययन)

[१९५१ ई०]

श्री शिवनन्दन पांडेय को सन् १९५१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से उनके प्रबन्ध 'भारतीय नाटकों का उद्भव और विकास' प्रस्तुत करने पर डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

६९. भोजपुरी लोक-साहित्य

[१९५१ ई०]

श्री कृष्णदेव उपाध्याय का प्रबन्ध 'भोजपुरी लोक-साहित्य' सन् १९५१ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

७०. हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यान (सं० १०००-१९१२)

[१९५१ ई०]

लखनऊ विश्वविद्यालय से श्री हरिकान्त श्रीवास्तव का प्रबन्ध 'हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यान (सं० १०००-१९१२)' सन् १९५१ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५५ ई० में इसका प्रथम संस्करण हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित किया गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध के एक तिहाई भाग में सामान्य विवेचन है और बाद के दो तिहाई भाग में प्राप्य ग्रन्थों का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सामान्य अध्ययन सोलह शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। अनुसंधाता ने सर्वप्रथम भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा का निर्देश करते हुए मध्यकालीन प्रेमाख्यानों को ऋग्वेद के यम-यमी-संवाद और पुरुरवा-उर्वशी के प्रेमाख्यान से जोड़ा है। इसके

बाद हिन्दी-साहित्य के सन्धिकाल के रूप में अपभ्रंश-साहित्य और उसके प्रेमाख्यानों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् लेखक ने हिन्दुओं के प्रेमाख्यान ग्रन्थों का परिचय देते हुए प्रेमाख्यानों पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों का अनुशीलन किया है। तदनन्तर प्रेम-व्यंजना पर विचार किया गया है। अगले दो शीर्षकों के अन्तर्गत प्रेमाख्यानों के लोकपक्ष और आध्यात्मिक पक्ष का पर्यालोचन किया गया है। तदनन्तर अध्येता ने इन प्रेमाख्यानों की (काव्यतत्व की दृष्टि से) समीक्षा प्रस्तुत की है। रस के विषय में अनुशीलक का अभिमत है कि हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यानों में शृंगार रस का प्राधान्य है, वीर उसका सहायक है। इससे बाद भाषा-शैली की दृष्टि से विवेचना की गयी है। भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए प्रेमख्यानों की भाषा का परिचय दिया गया है। हिन्दू प्रेमाख्यानकों में प्रकृति-चित्रण की समीक्षा की गयी है। तत्पश्चात् प्रेम-व्यंजना के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है। अगले शीर्षक में हिन्दू प्रेमाख्यानकारों की मुसलमान कवियों से समानताओं और भिन्नताओं का प्रतिपादन है और इस सामान्य विवेचन के अन्तिम शीर्षक के अन्तर्गत अन्वेषक ने हिन्दू कवियों की देन का महत्वांकन किया है।

प्रबन्ध के शेष दो तिहाई भाग में प्राप्य ग्रन्थों का विशिष्ट अध्ययन है। शुद्ध प्रेमाख्यान के रूप में इन बाईस ग्रन्थों का अध्ययन किया गया है—'ढोला मारू रा दोहा', 'बेलि क्रिस्न रुक्मिणी री', 'रस रतन', 'छिताई वार्ता', 'माधवानल कामकन्दला' शीर्षक से विभिन्न रचनाकारों द्वारा रचित छः ग्रन्थ, 'बीसलदेव-रासो', 'प्रेमविलास प्रेमलता कथा', 'चन्द्र कुंवरि री बात,' 'राजा चित्र मुकुट रानी चन्द्रकिरन की कथा', 'उषा की कथा', 'ऊषा चरित', 'उषाहरण', 'उषा चरित', (जनकुंज) 'रमणशाह छबीली भटियारी की कथा', 'बात सायणी चारिणीरी' 'नल दमयन्ती कथा', 'प्रेम पयोनिधि' और 'रुक्मिणी परिणय'। अन्यापदेशिक काव्य मानकर निम्नलिखित आठ ग्रन्थों का अनुशीलन किया गया है—'पुहुपावती', 'नल चरित्र', 'नलदमन', 'नलदमयन्ती चरित', 'लैला मजनू', और 'रूपमंजरी'। नीति-प्रधान प्रेम-काव्य के अन्तर्गत 'मधुमालती' (चतुर्भुजदास-रचित), 'माधवानल कामकन्दला चौपाई' और 'सत्यवती की कथा' का विवेचन किया गया है। 'माधवानल आख्यान' (आनन्दधरकृत) और आलमकृत 'माधवानल कामकन्दला' पर परिशिष्ट में विचार किया गया है।

७१. सूफीमत और हिन्दी-साहित्य

[१९५१ ई०]

'सूफीमत और हिन्दी साहित्य' दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया सर्वप्रथम प्रबन्ध है। उपर्युक्त प्रबन्ध पर सन् १९५१ ई० में श्री विमलकुमार जैन को पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, ने सन् १९५५ ई० में इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त-सा है। प्रथम छः अध्यायों में सूफीमत के उद्भव और विकास का विवेचन है। शेष अध्यायों में भारतीय वातावरण में पले हुए सूफियों की हिन्दी-रचनाओं के आधार पर सूफी सिद्धान्तों की खोज की गयी है। इस प्रबन्ध में कुल मिलाकर अठारह पर्व (अध्याय) हैं। पहले पर्व में विदेशी एवं भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी विविध व्याख्याओं तथा परिभाषाओं की परीक्षा करके सूफीमत का सैद्धान्तिक निरूपण और उसके आविर्भाव का संक्षिप्त ऐतिहासिक पर्यालोचन किया गया है। दूसरे पर्व में सूफी-मत के विकास का अनुसन्धान है। तीसरे पर्व में सूफियों की ईश्वर, जगत् आदि से सम्बन्ध रखने वाली आस्थाओं और चौथे पर्व में सूफी साधना की विवेचना की गयी है। पांचवें पर्व में सूफीमत के भारत-प्रवेश के समय की परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराया गया है। छठे पर्व में यह बतलाया गया है कि भारत में भक्ति का स्रोत कैसे प्रवाहित हुआ और आगे चलकर उसका सूफीमत से क्या सम्बन्ध स्थापित हुआ। सातवें पर्व में हिन्दी के सूफी कवियों (कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेखनवी, कासिमशाह और नूरमुहम्मद) तथा उनकी काव्यकृतियों की विस्तारपूर्वक आलोचना करके अन्त में सूफी काव्य की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। आठवें पर्व में हिन्दीकाव्यगत सूफी सिद्धान्तों का उपस्थापन है। नवें से पन्द्रहवें पूर्व तक क्रमशः हिन्दी सूफी काव्य में निरूपित निराकार देव की उपासना, सृष्टि, जीव, गुरु, प्रेम और विरह, साधना तथा आचार का विवेचन है। सोलहवें और सत्रहवें पर्वों में हिन्दी तथा उर्दू साहित्य पर सूफीमत के प्रभाव का निर्धारण किया गया है। अठारहवें पर्व में विषय का उपसंहार करते हुए सूफीमत के साहित्यिक योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

इस कृति में सूफीमत की उत्पत्ति और उद्भास से लेकर आधुनिक हिन्दी-

काव्य पर उसके प्रभाव तक की आलोच्य वस्तु का अनुसन्धान है। भारतीय सूफियों की हिन्दी रचनाओं के आधार पर सूफी सिद्धान्तों के अनुशीलन का प्रयास है। 'निर्गुण' 'सगुण' आदि परिभाषिक शब्दों एवं प्रचलित विश्वासों की व्याख्या है। मध्यकालीन कवयित्री मीरां और आधुनिक छायावाद, हालावाद आदि पर सूफी प्रभाव का अध्ययन भी है।

७२. मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियां

[१९५१ ई०]

श्रीमती सावित्री सिन्हा का प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां' सन् १९५१ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९५३ ई० में किया।

यह प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमें नारी-साहित्य-विषयक सामग्री की प्राप्ति के साधनों एवं उनमें उल्लिखित कवयित्रियों की चर्चा करके उपलब्ध सामग्री का विभाजन किया गया है। युग प्रवृत्तियों के अनुसार उनके तीन वर्ग किये गये हैं—डिंगल की कवयित्रियां, मध्यकालीन लेखिकाएं तथा आधुनिक युग की प्रमुख लेखिकाएं। दूसरे अध्याय में आलोच्य विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। हिन्दी-पूर्व काल (वैदिक युग से लेकर ह्वेनसांग की यात्रा तक) में भारतीय नारी-जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। तीसरे अध्याय में तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका में डिंगल की नौ कवयित्रियों का अध्ययन है। चौथे अध्याय में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का निर्देश करके निर्गुण-काव्य-धारा की (उमा, मुक्ताबाई आदि) छः कवयित्रियों की समीक्षा की गयी है। पांचवें अध्याय में कृष्णकाव्य-धारा की कवयित्रियों, विशेषकर मीरांबाई का अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचन है। छठे अध्याय का विषय है 'रामकाव्य-धारा की कवयित्रियां'। सातवें अध्याय में रीतिकाल (शृंगार-काव्य-काल) की परिस्थितियों का संक्षिप्त निर्देश करके

शृंगार काव्य की लेखिकाओं (प्रवीणराय पातुर, रूपमती बेगम, तीन तरंग, शेख रंगरेजिन और सुन्दर कली) का अध्ययन किया गया है। आठवें अध्याय में उन स्फुट काव्य-लेखिकाओं का विवेचन है जिन्होंने नीति, पतिसेवा, नारीधर्म आदि फुटकर विषयों पर रचनाएं की हैं। नवें अध्याय में विषय का उपसंहार करते हुए निष्कर्षरूप में यह बतलाया गया है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नारी केवल प्रेरणा करने वाली वस्तु ही नहीं रही है अपितु उसने साहित्य-सृजन में भी पर्याप्त सहयोग दिया है। हिन्दी-काव्य की प्रायः सभी प्रवृत्तियों में उस काल की नारियों की कृतियां उपलब्ध हैं। उनका योगदान, रचनाओं की मात्रा तथा काव्यगुणों की दृष्टि से, काफी महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट हैं। पहले परिशिष्ट में सं० १६०० से १६५० तक की लेखिकाओं का संक्षिप्त परिचय है। दूसरे में आधुनिक युग की लेखिकाओं के साहित्य का संक्षिप्त आभास दे दिया गया है। ये दोनों परिशिष्ट हिन्दी-कवयित्रियों के अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने की दृष्टि से जोड़े गये हैं।

७३. पाश्चात्य (अंग्रेजी) नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव

[१९५१ ई०]

श्री धर्म किशोर लाल का प्रबन्ध 'पाश्चात्य (अंग्रेजी) नाटकों का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव' १९५१ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा अंग्रेजी की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में पाश्चात्य नाटकों का आधुनिक हिन्दी-नाटक साहित्य पर प्रभाव दिखाया गया है। पाश्चात्य साहित्य की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और शैक्षणिक विचारधाराओं ने हिन्दी-साहित्य को पुनरुत्थान की ओर अभिमुख करने में अधिक योग दिया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम प्राचीन संस्कृत नाटकों की परम्परा को अपनाते हुए भी पाश्चात्य नाटकों का अनुवाद किया और उसकी टेकनीक की प्रेरणा प्रत्यक्ष रूप से तथा बंगला-साहित्य के माध्यम से ग्रहण की। इसी प्रकार रूपनारायण पांडेय, लाला सीताराम, जी० पी० श्रीवास्तव, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, रामकुमार वर्मा, गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर प्रसाद और उदयशंकर भट्ट ने

अंग्रेज़ी-नाटक-साहित्य से प्रेरणा लेकर अपनी रचना का टेकनीकल सम्भार जुटाया। प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी साहित्य के नाटककारों पर शेक्सपीयर, इब्सन, मोलरे, मैटरलिंक और बर्नार्ड शा का विचारगत और टेक्नीकल प्रभाव पूर्ण रूप से विवेचित है।

संपूर्ण प्रबन्ध की सामग्री दस अध्यायों में संकलित है। पहले अध्याय में संस्कृत-नाटक-तत्त्वों और ग्रीक-नाट्य-तत्त्वों की पृष्ठभूमि में रूपक की कोटियों और विशेषताओं को सविस्तार विवेचित किया गया है। संस्कृत-नाटकों के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए उसके जीवन-विषयक दृष्टिकोण का दार्शनिक प्रतिपादन किया गया है और रूपक की कथावस्तु, नायक, शैली आदि का परिचय दिया गया है। ग्रीक नाटकों की यथार्थता के संदर्भ में नाटक के पाश्चात्य तत्वों, चरित्र, संघर्ष, कथोपकथन आदि पर विचार किया गया है। तथा सुखांत और दुःखांत नाटकों की तात्विक विवेचना की गयी है। साथ ही इब्सन की प्रकृतिवाद-विषयक विचारधारा के गुणदोष का विवेचन भी इष्ट है। भारतेन्दुपूर्व युग के नाटकों पर संस्कृत नाटकों के प्रभाव की और अनूदित नाटक-साहित्य की आलोचनात्मक व्याख्या भी की गयी है।

दूसरे अध्याय में संस्कृत रूपकों की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनका अंग्रेज़ी के साथ सम्पर्क में आना विवेचित है। ईसाई मिशनरियों और पारसी थियेटरों के माध्यम से राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से जो प्रभाव तमिल, मराठी, बंगला, गुजराती, उर्दू और हिन्दी नाटकों पर पड़े उनका भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

तीसरे अध्याय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन नाटककारों की चर्चा है। भारतेन्दु को संस्कृत-परम्परा में आस्था थी। वे पाश्चात्य नाटकों की ओर भी अभिमुख थे और अंग्रेज़ी नाटकों से प्रभावित होकर बंगला और अंग्रेज़ी की टेकनीक लेकर उन्होंने जितनी रचनाएं कीं, उन सब की व्याख्या की गयी है।

चौथे अध्याय में अनुवादों के माध्यम से पाश्चात्य नाटकों का हिन्दी-नाटक पर प्रभाव प्रदर्शित किया गया है। बंगला के नाटककारों द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीश घोष आदि तथा अंग्रेज़ी के शेक्सपीयर, गाल्सवर्दी आदि के अनूदित नाटकों पर विचार किया गया है। 'सम्मिलित अनुवाद और उपस्थापना' शीर्षक से अनेक अंग्रेज़ी प्रभावों को प्रत्यक्ष किया गया है।

पांचवें अध्याय में बाबू जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों

का प्रभाव दिखलाया गया है। छठे अध्याय में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्द वल्लभ पन्त और उदयशंकर भट्ट पर पाश्चात्य नाटक-तत्वों का प्रभाव दिखाया गया है। सातवें अध्याय में लक्ष्मीनारायण मिश्र की नौ रचनाओं पर पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव (प्रमुखतः इब्सन के संदर्भ में) विवेचित है। आठवें अध्याय में सेठ गोविन्ददास की रंगमंच-विषयक विचारधारा को ध्यान में रखते हुए उनके नाट्यग्रंथों पर पाश्चात्य प्रभाव की समीक्षा की गयी है। नवें अध्याय में हिन्दी-एकांकी नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों का सामान्य प्रभाव प्रदर्शित करते हुए रामकुमार वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, सद्‌गुरु शरण अवस्थी, गणेश प्रसाद, उदयशंकर भट्ट और 'अश्क' की रचनाओं की समीक्षा की गयी है। दसवें अध्याय में सिनेमा का नाटकीय प्रभाव, रंगमंच का प्रभाव और हिन्दी-नाटक के रंगमंच के भविष्य की संक्षिप्त चर्चा की गयी है। परिशिष्ट भाग में सहायक मूल रचनाओं और आलोचनात्मक ग्रंथों की एक विस्तृत सूची दी गयी है।

७४- हिन्दी-वीर-काव्य (१६००-१८०० ई०)

[१९५२ ई०]

श्री टीकमसिंह तोमर का प्रबन्ध 'हिन्दी-वीर-काव्य' सन् १९५२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। इसका प्रथम संस्करण १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रकाशक है हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड 'साहित्यिक अध्ययन' है। इसमें आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय 'ग्रन्थ-परिचय' में केशवदास, जटमल, मतिराम, भूषण, लाल (गोरेलाल), श्रीधर, सदानन्द, सदन, गुलाब, पद्माकर, जोधराज आदि कवियों के ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में इन ग्रन्थों के कथानक का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में वीरकाव्य के चरित्रचित्रण का पर्यालोचन है। चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य रस है। पहले सामान्य स्थिति पर विचार करके फिर वीरकाव्य में रसनिरूपण का विवेचन किया गया है। पांचवें से लेकर आठवें अध्याय तक

प्रत्येक अध्याय में क्रमशः वीरकाव्य के अलंकार, छन्द, प्रकृति-चित्रण और भाषाशैली का परिशीलन किया गया है। क्रम वही है—पहले सामान्य स्थिति का परिचय तब वीरकाव्य-कृतियों में प्रतिपाद्य विषय का अनुसन्धान।

द्वितीय खंड 'ऐतिहासिक अध्ययन' है। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में केशवदास द्वारा रचित 'वीरसिंहदेवचरित' का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में 'गोरा बादल की कथा' और तीसरे अध्याय में 'भूषण-ग्रन्थावली' की ऐतिहासिकता की परीक्षा की गयी है। इसी प्रकार चौथे अध्याय में 'राजविलास', पांचवें में 'छत्रप्रकाश' और छठे अध्याय में 'जंगनामा' की ऐतिहासिकता पर विचार किया गया है। सातवें अध्याय का प्रतिपाद्य 'राजा भगवन्तसिंह' की ऐतिहासिकता है। आठवें अध्याय में 'सुजान चरित्र' की ऐतिहासिकता का अध्ययन किया गया है। नवें अध्याय में 'करहिया को रायसौ', दसवें अध्याय में 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और ग्यारहवें अध्याय में 'हम्मीर रासो' की ऐतिहासिकता का अनुशीलन किया गया है। इस ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत वीरकाव्य में वर्णित तिथियों, पात्रों और घटनाओं का इतिहास के प्रकाश में प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

७५. हिन्दी-साहित्य (१९२६-४७ ई०)

[१९५२ ई०]

श्री भोलानाथ का प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य (१९२६-४७)' सन् १९५२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसका प्रकाशन हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, ने सन् १९५४ ई० में किया।

यह प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय 'भूमिका' में १९२६ ई० से पहले के साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन किया गया है। इसके बाद १९२६-४७ ई० तक के साहित्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करके दोनों कालों की प्रवृत्तियों के अन्तर और उस अन्तर के कारणों का उल्लेख है।

साहित्य की गतिवर्द्धक और अवरोधक शक्तियों की चर्चा भी इस अध्याय में की गयी है।

दूसरा अध्याय 'गद्य' है। पहले पृष्ठभूमि का निर्देश किया गया है। इसके बाद गद्य के स्वरूप और स्थिति का अध्ययन किया गया है। तदनन्तर लेखक ने शब्द-भांडार और शैलियों का विवेचन किया है।

तीसरे अध्याय का विवेच्य नाटक है। इस अध्याय में सबसे पहले स्वरूप की दृष्टि से नाटकों के दो भेद किये गये हैं—एकांकी और अनेकांकी। एकांकी के भी दो भेद हैं—एक दृश्य के एकांकी और कई दृश्य के एकांकी। इसके बाद एकांकी नाटक की कला का उपस्थापन किया गया है। अनेकांकी नाटकों के अंकविभाजन, दृश्यविभाजन, उद्देश्य और तीन अंक, शैली, प्रस्तावना, नायक, वर्जित बातें, काव्यात्मकता, संगीत, नृत्य और गीत, कथावस्तु, विदूषक, स्वगत कथन, आदि की विवेचना की गयी है। नाटकों के अनेक प्रकारों का निर्धारण किया गया है—नाट्यरूपक, गीतनाट्य, 'भावनाट्य', मोनोड्रामा या एकपात्री नाटक, झांकी, फ़ैन्टेसी, रेडियो-नाटक आदि। इन रूपों के भेद और कला पर भी विचार किया गया है। 'उपादान' शीर्षक से अध्येता ने विस्तार से दिखाया है कि इन नाटकों में वर्ण्य सामग्री का प्रयोग किस प्रकार किया गया है।

चौथा अध्याय 'उपन्यास' है। इस अध्याय में पहले उपन्यास के तत्वों—कथावस्तु, पात्र, भाषा, शैली, वातावरण और उद्देश्य—का निर्धारण किया गया है। तब इनमें से प्रत्येक की अवधानपूर्वक आलोचना करते हुए उपन्यास के स्वरूप के विकास का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर विविध दृष्टियों से उपन्यासों का वर्गीकरण किया गया है। हास्य की दृष्टि से रचित उपन्यासों का भी अनुशीलन है।

पांचवें अध्याय में कहानी के कलारूप में विकास का अध्ययन करते हुए अनुसन्धाता ने कहानी का वर्गीकरण और शैलियों का विवेचन किया है। छठे अध्याय में समालोचना तथा साहित्य के इतिहास पर विचार किया गया है। समालोचना के विकास, प्रकार और सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण करने के अनन्तर साहित्य के इतिहास का भी इसी क्रम में अध्ययन किया गया है। सातवें अध्याय में निबंध के स्वरूप, प्रकार और उद्देश्य को स्पष्ट किया गया है। आठवें अध्याय में कविता के वादों या प्रवृत्तियों की समीक्षा करते हुए कविता के विषय और उपादान तथा रूप और शैली पर भी विचार किया गया है।

नवां अध्याय उपसंहार है। इसमें उपयोगी साहित्य, बालसाहित्य, अनूदित साहित्य, सम्पादित साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं आदि का पर्यालोचन है। अन्त में आलोच्य काल (१९२६–४७ ई०) में रचित साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए भविष्य की ओर संकेत किये गये हैं।

७६. अभिधान-अनुशीलन अर्थात् हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक विवेचन

[१९५२ ई०]

श्री विद्याभूषण विभु को उनके शोध-प्रबन्ध 'अभिधान-अनुशीलन अर्थात् हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक विवेचन' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में डी० फिल० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध इक्कीस प्रकरणों में विभक्त है। पहले चौदह प्रकरणों में धार्मिक प्रवृत्ति का अनुशीलन किया गया है। ईश्वर, त्रिदेव, त्रिदेववंश, लोकपाल, विष्णु के अवतार, अन्य देव-देवियां, तीर्थंकर, महात्मा, तीर्थ, धर्मग्रन्थ, मंगल-अनुष्ठान, ज्योतिष, सम्प्रदाय और अन्धविश्वास नामक प्रकरणों में हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार धार्मिक प्रवृत्ति ने नामकरण को प्रभावित किया है।

पन्द्रहवें प्रकरण में दार्शनिक प्रवृत्ति का अध्ययन किया गया है। इस क्रम के अन्तर्गत अध्यात्मविद्या, मनोविज्ञान और नैतिक गुण आये हैं। सोलहवें प्रकरण में राजनीति और इतिहास के प्रकाश में हिन्दुओं के नामों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सत्रहवें प्रकरण में सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन किया गया है। समाज की विभिन्न संस्थाओं का इन नामों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। कुछ नामों पर समाज में प्रचलित शिष्ट प्रयोगों का भी प्रभाव पड़ता है। आजीविका भी इस दिशा में एक प्रभावशाली प्रवृत्ति है। स्मारकों और भोग-पदार्थों के अनुसार भी अनेक पुरुषों का नामकरण कर दिया जाता है, इसका विवेचन भी इस अध्याय का विषय है। समाज की कलात्मक प्रवृत्तियों तथा सुधारात्मक प्रतृत्तियों का हिन्दू पुरुषों के नामों पर जो प्रभाव पड़ा है, उसकी भी समीक्षा की गयी है।

अठारहवें से लेकर बीसवें प्रकरण तक अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है। दुलार का प्रभाव तो विश्व के सभी प्रदेशों के नामों पर पड़ता है, कभी-कभी उपाधि ही इतनी प्रमुख बन बैठती है कि असली नाम लुप्तप्राय हो जाता है। इस दिशा में व्यंग्य का प्रभाव भी निर्विवाद है।

अन्तिम प्रकरण में अभिधानाश्रित सांस्कृतिक रूपरेखा को स्पष्ट किया गया है। भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन कराते हुए हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों पर उसके प्रभाव का आकलन किया गया है।

७७. हिन्दी-कहानियों की शिल्पविधि का विकास और उद्गमसूत्र

[१९५२ ई०]

श्री लक्ष्मीनारायण लाल का प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास और उद्गमसूत्र' सन् १९५२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ने इसका प्रकाशन 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' के नाम से सन् १९५३ ई० में किया।

इस प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। विषय-प्रवेश में सामग्री, अध्ययन के दृष्टि-कोण तथा विषय के विस्तार का निर्देश है। पहला अध्याय 'पूर्व परिचय' है। इसमें उपनिषदों की कथाओं से भक्तिकालीन 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' तक के कहानी-साहित्य की शिल्पविधि का सिंहावलोकन किया गया है। दूसरे अध्याय 'आविर्भाव-युग' में पहले भारतेन्दु से पूर्व की हिन्दी-कथाओं—प्रेमसागर, नासिकेतोपाख्यान, रानी केतकी की कहानी—का अनुशीलन है। इसके बाद भारतेन्दु-युग में कथा-विकास का पर्यालोचन करके हिन्दी-कहानी की उत्पत्ति, प्रारंभिक प्रयत्न और प्रयोग आदि का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय 'विकास-युग' में प्रसाद तथा प्रेमचन्द की भावगत तथा शिल्पगत प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानियों की कथानक, चरित्र, शैली आदि की दृष्टि से समीक्षा की गयी है।

चौथे अध्याय में प्रेमचन्द की कहानियों के रचनाकाल की (राजनैतिक,

सामाजिक, व्यक्तिगत) परिस्थितियों का विवेचन करते हुए उनकी कहानियों की शिल्पविधि की समीक्षा की गयी है। प्रेमचन्द की शिल्पविधि का यह अध्ययन आरम्भ, विकास तथा उत्कर्ष—इन तीन कालों के अन्तर्गत किया गया है। अध्याय के उपसंहार में प्रेमचन्द-संस्थान के कहानीकारों (विश्वम्भरनाथ जिज्जा, जी० पी० श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा, गोविन्द वल्लभ पंत, सुदर्शन, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि) की कहानियों का अध्ययन है। पांचवें अध्याय में प्रसाद के साहित्यिक संस्कार, साहित्यिक परिस्थितियां, समन्वयात्मक भावना आदि पर विचार करते हुए उनकी कहानियों की शिल्पविधि के विकास का अध्ययन किया गया है। प्रसाद-संस्थान के कहानिकारों के अन्तर्गत चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, बेचन शर्मा 'उग्र', वाचस्पति पाठक, विनोद शंकर व्यास आदि की कहानियों का अध्ययन किया गया है। छठे अध्याय 'संक्रान्ति-काल' में युगीन प्रवृत्तियों (दर्शन, मनोविज्ञान, यौनवाद, साम्यवाद आदि) का अनुशीलन करने के अनन्तर युगीन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कहानीकारों जैनेन्द्र कुमार, सियारामशरण गुप्त, 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, 'अश्क', पहाड़ी आदि की विशिष्ट शैली के आधार पर संक्रान्ति-काल की कहानियों की शिल्पविधि के विकास की समीक्षा की गयी है।

सातवां अध्याय 'उद्गम और विकास-सूत्र' है। इस अध्याय में हिन्दी-कहानी के विकास पर पड़ने वाले हिन्दीतर प्रभावों (संस्कृत-नाटकों की कथा-वस्तु, शेक्सपियर के नाटकों की कथावस्तु, उर्दू किस्सों और अफ़सानों, रूसी, फ्रांसीसी, अमेरिकन, अंग्रेजी और बंगला कहानी-धारा के प्रभावों) का परि-शीलन किया गया है। सातवें अध्याय में कहानी-कला की समीक्षा की गयी है। कहानी-कला के विकासोन्मुख रूप पर प्रकाश डालते हुए अध्येता ने कहानी के तत्व, वर्गीकरण आदि महत्वपूर्ण पक्षों का अनुशीलन किया है। उपसंहार में कहानीकला और साहित्य के अन्य प्रकारों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहानी के शिल्पविकास की मान्यता को स्पष्ट किया गया है।

७८. नायक-नायिका-भेद

[१९५२ ई०]

डा० छैलबिहारी गुप्त 'राकेश' को उनके प्रबन्ध 'नायक-नायिका-भेद' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में संस्कृत-साहित्य में नायक और दूसरे अध्याय में संस्कृत-साहित्य में नायिका के वर्गीकरण का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में हिन्दी-नायक-भेद और चौथे में हिन्दी-नायिका-भेद का विवेचन किया गया है।

द्वितीय खंड के चार अध्यायों में पौराणिक, धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक परम्पराओं का निदर्शन करते हुये हिन्दी-नायक-नायिका-भेद की सामाजिक पृष्ठभूमि निर्दिष्ट की गयी है। पहले अध्याय में कृष्ण और गोपियों की पौराणिक प्रेम-गाथा, दूसरे में आलवार और धार्मिक सम्प्रदाय, तीसरे में भक्त कवियों के काव्य में कृष्ण की प्रेमगाथा और चौथे में हिन्दी के नायक-नायिका-भेद-साहित्य का अध्ययन किया गया है।

तृतीय खंड में विभिन्न वर्गीकरणों का मनोवैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक परीक्षण किया गया है। इस खंड में पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय में रूढ़िगत सीमाओं तथा वर्गीकरण के कुछ सामान्य दोषों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में नायक तथा तीसरे अध्याय में नायिका के वर्गीकरण की परीक्षा की गयी है। चौथे अध्याय में सन्देशवाहकों तथा दूतियों के वर्गीकरण पर विचार किया गया है। पाँचवें अध्याय में नायिका के अलंकारों तथा हावों और नायक के सात्विक गुणों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रबन्ध के अन्त में सात परिशिष्ट भी दिये गये हैं। इन परिशिष्टों के अन्तर्गत संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में नायक-नायिका-भेद की योजना, हिन्दी-काव्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद की योजना, तेलगु में नायक-नायिका-भेद की योजना, वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में नायक-नायिका-भेद-विषयक सामग्री, प्रबन्ध-लेखक द्वारा प्रस्तावित नायक-नायिका-भेद की योजना, नायक-नायिका-भेद के हिन्दी-ग्रन्थों की पूर्ण सूची, सहायक ग्रंथ सूची आदि हैं।

७६ सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों की अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन

[१९५२ ई०]

श्री आनन्द प्रकाश माथुर का प्रबन्ध 'सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों की अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन' सन् १९५२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा इतिहास की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में १६वीं और १७वीं शताब्दियों की सामाजिक अवस्था का चित्रण तत्कालीन हिन्दी-साहित्य की उपलब्ध रचनाओं के आधार पर किया गया है। प्रारम्भ में परिचय वाले भाग में तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का सामान्य परिचय उपलब्ध रचनाओं के आधार पर कराया गया है जिनमें भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों की रचनाएँ प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, रहीम, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानन्द, आदि कवियों की रचनाओं से उक्त परिस्थितियों को स्पष्ट करने में अधिक सहायता मिली है।

दूसरे भाग में उत्तर भारत के तत्कालीन शासकों की वंशपरम्परा, लेखकों की सूची तथा उनके स्थान और भाषा का विवरण दिया गया है। गिनाये गये वंशों में लोदी, मुगल और सूर हैं जिनका काल क्रमशः सन् १४५२-१५२६, १५२६-१५४०, १५४०-१५५५ मान्य है। १५५५ से लेकर १८५७ ई० के मध्य के मुगल शासकों का नामांकन भी किया गया है। लेखकों के नाम, स्थान और तिथि के अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध साहित्य और सहायक साहित्य का विस्तृत विवरण दिया गया है।

प्रबन्ध का तीसरा भाग मुख्य रूप से विषय के प्रतिपादन से सम्बद्ध है। इसमें सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के कवियों कबीर, जायसी, रैदास, नानक, सूरदास, मीरांबाई, हितहरिवंश, नन्ददास, तुलसीदास, दादूदयाल, केशवदास, हरिदास, रसखान, आलम, सेनापति, नाभादास, बिहारी, चिन्तामणि, भूषण, उस्मान, दरिया साहेब, मतिराम, सुन्दरदास, लाल, देव, मान, घनानन्द, घाघ, जटमल, नैसानी और बनारसीदास की रचनाओं के संदर्भ में विभिन्न अध्यायों में निम्नलिखित विषयों पर क्रमशः विचार और विवेचन किया गया है तथा इनकी पुष्टि में आये हुए विदेशी विद्वानों की मतावली का

खंडन-मंडन किया गया है। विवेचित विषय इस प्रकार हैं :—

(१) सामाजिक स्थिति
(२) परिवार
(३) स्त्रियों का परिवार में स्थान
(४) घर और उसकी सज्जा, पहनावे, खिलौने, गहने, भोजन।
(५) त्यौहार
(६) व्रत और पर्व
(७) शिक्षा
(८) व्यवसाय और जीविका
(९) ललित कलाएं
(१०) खेलकूद और मनोरंजन

८०. हिन्दी-काव्यरूपों का उद्भव और विकास

[१९५२ ई०]

श्री शकुन्तला दुबे को उनके अनुसंधान-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्यरूपों का उद्भव और विकास' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध 'काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास' नाम से सन् १९५८ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड के प्रथम परिच्छेद में काव्य के सामान्य रूप पर विचार किया गया है। काव्य के आत्मतत्व और शरीरतत्व की विवेचना की गयी है। काव्य में अनुभूति और प्रज्ञा का सम्बन्ध-निर्देश किया गया है। काव्यरूप और छन्दोमय रूप का भेद-निरूपण करके काव्याभिव्यक्ति के बाह्य रूप में अनेकरूपता का दिग्दर्शन कराया गया है। कठिन नियम-निर्धारण की परिपाटी की भ्रान्तियों की ओर संकेत है। रूप-विकास में देशकाल के अनुरूप नवीनता की अपेक्षा पर बल दिया गया है। काव्य के रूपभेदों के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न काव्यरूपों के स्रोत की चर्चा की गयी है। द्वितीय परिच्छेद में काव्य के विभाजन पर

विचार किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी में काव्य-विभाजन का सिंहावलोकन करते हुए काव्य को प्रबन्ध, अबन्ध तथा बन्धाबन्ध शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।

द्वितीय खंड के प्रथम परिच्छेद में महाकाव्य का उद्भव और विकास प्रदर्शित किया गया है। वैदिक संहिताओं में ही महाकाव्य के बीज का दर्शन होता है। दानस्तुति, गाथा नाराशंस, कुन्तापसूक्त, पुराण आदि संस्कृत-महाकाव्यों के स्रोत हैं। अनुसन्धात्री ने रामायण और महाभारत से लेकर, अश्वघोष, माघ, कालिदास आदि लौकिकमहाकाव्यकारों तथा पालि, प्राकृत और संस्कृत के परवर्ती महाकवियों का अनुशीलन करते हुए महाकाव्य की परम्परा को अपभ्रंश-साहित्य के चरितकाव्यों के माध्यम द्वारा हिन्दी के महाकाव्यों (पृथ्वीराजरासो, पदमावत, रामचरितमानस, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि) में विकसित होते हुए दिखलाया है। द्वितीय परिच्छेद में महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है। लक्षण-ग्रन्थों में विद्वानों (भामह, दंडी, रुद्रट, हेमचन्द्र) द्वारा निर्धारित महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए पाश्चात्य विचारकों (अरस्तू, एबरक्राम्बी, गनर, डिक्सन) के मतों की भी परीक्षा की गयी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की धारणा पर भी विचार किया गया है। तृतीय परिच्छेद के अन्तर्गत खंडकाव्य के दो प्रकार माने गये हैं—(१) लोक से उद्भूत, लोकरंजन के लिए निर्मित और (२) देशी या विदेशी काव्य-परम्परा से उद्भूत तथा साहित्यमर्मज्ञ के लिए निर्मित। इन दोनों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए इन वर्गों में खंडकाव्यों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी हैं। चौथे परिच्छेद में खंडकाव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है।

तीसरे खंड 'अबन्ध काव्य' के पहले परिच्छेद में गीतिकाव्य के उद्भव और विकास का पर्यालोचन किया गया है। दूसरे परिच्छेद में उसके स्वरूप का निरूपण है। तीसरे परिच्छेद में गीतिकाव्य का वर्गीकरण है। चौथे परिच्छेद में विस्तार से मुक्तक के उद्भव और विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पांचवें परिच्छेद में मुक्तक के स्वरूप, अन्य काव्यरूपों से उसका सम्बन्ध, मुक्तक में दृश्य-विधान, कथा आदि का महत्व एवं स्वरूप, रसाभिव्यंजना आदि अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। छठे परिच्छेद में अनेक दृष्टियों से मुक्तक का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

चौथे खंड में बन्धाबन्ध काव्य का विवेचन है। इस खंड में एक ही अध्याय है—'बन्धाबन्ध काव्य और उसके प्रकार'। इसमें बन्धाबन्ध काव्य

के स्वरूप आदि का विवेचन करते हुए उसकी दो कोटियां—नाट्यात्मक काव्य और (२) स्वानुभूतिप्रधान काव्य मानकर हिन्दी के बन्धाबन्ध-काव्य का परिशीलन किया गया है। अन्त में प्रबन्ध का उपसंहार है।

८१. रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला

[१९५२ ई०]

श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट को उनके प्रबन्ध 'रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इसी नाम से इस ग्रंथ का प्रकाशन दिल्ली पुस्तक सदन, नई, दिल्ली, ने सन् १९५७ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में रत्नाकर की संक्षिप्त जीवनी दी गयी है। जन्म, बाल्यकाल तथा प्रारंभिक जीवन, यौवन काल, नौकरी, पर्यटन, चरित्र-निर्माण तथा ज्ञानार्जन, व्यक्तित्व और प्रभाव, अभिरुचि तथा मनोरंजन, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन, विभिन्न संस्थाओं से संबन्ध, गार्हस्थ जीवन, मैत्री तथा परिचय आदि विषयों से सम्बद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय में रत्नाकर-युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और साहित्यक परिस्थितियों का अनुशीलन किया गया है। तीसरे अध्याय में रत्नाकर के साहित्यिक मंडल का परिचय दिया गया है। रत्नाकर ने अपने व्यक्तित्व से विभिन्न कवि-समाजों को प्रभावित किया था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और रसिक-मंडल, प्रयाग, का भी इस प्रसंग में उल्लेख किया गया है। चौथे अध्याय में रत्नाकर के गद्य-लेखों का अध्ययन किया गया है। गद्य-लेखक रत्नाकर पर द्विवेदी-युग का प्रभाव था। उनकी गद्यशैली का भी विवेचन किया गया है। पांचवें अध्याय में रत्नाकर की अनुवाद-शैली एवं संपादन-कला की परीक्षा की गयी है।

छठे अध्याय में विविध दृष्टिकोणों से रत्नाकर की विचारधारा पर प्रकाश डाला गया है। कवि के राजनीतिक, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक, दार्शनिक, भक्ति-भावना-परक और धार्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है। सातवें अध्याय में

रत्नाकर के काव्य-कलाप की समीक्षा की गयी है। इस अध्याय में उनके काव्य-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आठवें अध्याय में रत्नाकर के काव्य-कल्प की आलोचना की गयी है। अलंकार-सौंदर्य, छन्द-संघटन और भाषा-शैली का विशद विवेचन किया गया है। नवें अध्याय 'रत्नाकर का भाव-वैभव' के अन्तर्गत उनकी रस-व्यंजना पर विचार किया गया है। रत्नाकर के काव्य में सभी रस और प्रकृति-चित्रण उपलब्ध हैं। इस अध्याय में उनके प्रतिभा-प्रकर्ष और बहुज्ञान पर भी प्रकाश डाला गया है।

दसवां अध्याय उपसंहार-रूप में लिखा गया है। इसमें व्रजभाषाकवियों में रत्नाकर जी का स्थान निर्धारित करते हुए हिन्दी-साहित्य के विकास में उनका योग प्रदर्शित किया गया है।

८२. बीसवीं शती के महाकाव्य

[१९५२ ई०]

श्री प्रतिपालसिंह को 'बीसवीं सती के महाकाव्य' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत करने पर आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई० में पी–एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रबन्ध का प्रकाशन ओरियन्टल बुकडिपो, नई सड़क, दिल्ली, ने सन् १९५५ ई० में किया। ग्रन्थ का नाम है 'बीसवीं शती पूर्वार्द्ध (१९००-१९५० ई०) के महाकाव्य'।

यह प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में काव्य की आत्मा, काव्य-विषयक प्राचीन, पाश्चात्य एवं आधुनिक विचारधाराओं तथा काव्य के विभिन्न रूपों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में श्रव्य-काव्य के अंग महाकाव्य के लक्षण देते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य परम्परानुसार महाकाव्य के लक्षणों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डाली गयी है। तदनन्तर आधुनिक मान्य आदर्शों की चर्चा की गयी है।

तीसरे अध्याय में संस्कृत-साहित्य के प्रमुख महाकाव्यों की विशेषताओं का उल्लेख है। 'रामायण' और 'महाभारत' के पश्चात् कालिदास के महाकाव्यों पर विचार किया गया है। कालिदास के परवर्ती महाकाव्यों पर भी दृष्टि डाली गयी है। तदनन्तर पाश्चात्य महाकाव्यों का परिचय देते हुए भारतीय और

पाश्चात्य महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके आदर्शों में साम्य और वैषम्य को स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त हिन्दी-जगत् में महाकाव्यों की परम्परा का निदर्शन है। आदि युग में भारत की दशा का प्रबन्ध-काव्य-रचना पर प्रभाव निरूपित करने के पश्चात् भक्ति एवं रीति युग की प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में पहले आधुनिक महाकाव्यों के इतिहास और उनके विकास का अध्ययन है और तब आधुनिक काल के तथाकथित महाकाव्यों की परीक्षा की गयी है। लेखक द्वारा की गयी इस परीक्षा में केवल ग्यारह महाकाव्य खरे उतरते हैं—'प्रियप्रवास', 'रामचरितचिन्तामणि', 'साकेत', 'कामायनी', 'नूरजहां', 'सिद्धार्थ', 'वैदेहीवनवास', 'दैत्यवंश', 'कृष्णायन', 'साकेत-सन्त', और 'विक्रमादित्य'।

पांचवें अध्याय में आधुनिक महाकाव्यों के विषय और उपादानों का विस्तृत अनुशीलन किया गया है। छठे अध्याय में आधुनिक महाकाव्यों की प्रेरक शक्तियों तथा उन पर पड़े हुए विभिन्न प्रभावों का निरूपण किया गया है।

सातवें अध्याय में द्विवेदी-काल के महाकाव्यों में 'प्रिय-प्रवास', 'रामचरित-चिन्तामणि' और 'साकेत' का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आठवें अध्याय में अनुसन्धाता ने प्रसुमनकाल के महाकाव्यों के रूप में 'कामायनी', 'नूरजहां', 'सिद्धार्थ', 'वैदेही-बनवास' और 'दैत्यवंश' का परिशीलन किया है। इसी प्रकार वर्तमान काल के महाकाव्यों 'कृष्णायन', 'साकेत-सन्त' और 'विक्रमादित्य' का अनुशीलन नवें अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है।

दसवें अध्याय में हिन्दी-काव्य में आधुनिक महाकाव्यों का स्थान निर्धारित किया गया है। मानवता के लिए महाकाव्य का मूल्य दिखलाया गया है। इसी अध्याय में महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम में चरित्रचित्रण, प्रकृतिचित्रण, रसनिरूपण, कलापक्ष आदि का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में महाकाव्यों पर एक विहंगम दृष्टि डाली गयी है।

८३. हिन्दी कविता (१६००–१८५० ई०) में शृङ्गार रस का अध्ययन

[१९५२ ई०]

श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का प्रबन्ध 'हिन्दी कविता (१६००-१८५० ई०) में शृङ्गार रस का अध्ययन' आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन' शीर्षक से इसका प्रकाशन सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, ने सन् १९५३ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। सबसे पहले शृंगार रस और उसके भेदों का विवेचन किया गया है। रस के महत्व और संख्या का प्रतिपादन करते हुए शृंगार को ही आदि रस माना गया है। इसके पश्चात् शृंगार रस के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, भेद आदि पर विचार किया गया है। शृंगार रस में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता सिद्ध करते हुए विरह के विभिन्न तत्वों की समीक्षा की गयी है। वियोग-शृंगार के लौकिक पक्ष पर प्रकाश डालने के अनन्तर शृंगार रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन भी किया गया है।

दूसरा अध्याय 'हिन्दी के रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि' है। अनुसन्धाता ने इस अध्याय में रीतिकाव्य पर संस्कृत, वैष्णव एवं गौडीय साहित्य के प्रभाव का आकलन किया है। विभिन्न प्रथाओं, आचार्यों तथा कवियों का विवरण देते हुए रीतिकाव्य पर उनका प्रभाव दिखाया गया है।

तीसरे अध्याय में हिन्दी के रीतिकाव्य के स्वतन्त्र विकास का अध्ययन किया गया है। पहले नायिका-भेद की परम्परा और विस्तार का विस्तृत निरूपण किया गया है तब शृङ्गाररस-निरूपण का परीक्षण है।

चौथे अध्याय में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा तत्कालीन वातावरण का अध्ययन करते हुए, लेखक ने मुसलमानों के आगमन और निवास, नवीन युग के प्रवर्तन आदि पर प्रकाश डालने के साथ-साथ उस युग की धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का दिग्दर्शन भी कराया है।

पांचवें अध्याय 'प्रतिनिधि कवियों की समीक्षा' में पहले रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का अनुशीलन है। इसके बाद रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों को दो

वर्गों में विभक्त करके उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। पहले विभाग में सेनापति, बिहारी तथा घनानंद हैं और दूसरे विभाग में मतिराम, पद्माकर आदि। अन्त में इस समीक्षा के निष्कर्षों का निरूपण है।

छठा अध्याय 'उपसंहार' है। इसमें शास्त्रीय निरूपण की दृष्टि से शृङ्गार-रस-वर्णन का हिन्दी-काव्य में स्थान निर्धारित किया गया है। शृंगार रस का समाज और धर्मभावना पर प्रभाव निर्दशित किया गया है। विज्ञान और अर्थ के वर्तमान युग में शृंगार की स्थिति का स्पष्टीकरण है और नायिका-भेद के कथन की आवश्यकता पर विचार किया गया है। अन्त में सिद्ध किया गया है कि शृंगार सत्साहित्य का स्रष्टा है।

८४. हिन्दी-साहित्य में विविध वाद

[१९५२ ई०]

श्री प्रेमनारायण शुक्ल का प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद' सन् १९५२ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। पद्मजा प्रकाशन, १०४ ए/३४४, रामबाग, कानपुर, से यह ग्रन्थ सं० २०१० वि० में प्रकाशित हुआ।

सम्पूर्ण प्रबन्ध ग्यारह भागों में विभक्त है। पहले भाग में मानव-मन की वाह्य एवं ऐकान्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन करके यह बतलाया गया है कि मानव-प्रवृत्तियां ही साहित्य के विविध वादों की मूल हैं। दूसरे भाग में पाश्चात्य और भारतीय मतों के आधार पर मानव की प्रकृत प्रवृत्तियों के निर्माण की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण है। तीसरे भाग में कला और सौन्दर्य, सौन्दर्य की परिभाषा, कला के मनोवैज्ञानिक स्वरूप, उसके सुखात्मक मूल्य, उसके द्वारा दमित वासनाओं के उन्नयन, उसके उद्देश्य आदि की व्याख्या है। चौथे भाग में भारतीय तथा पश्चिमीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित साहित्य की विभिन्न परिभाषाओं की परीक्षा की गयी है। पांचवें भाग में बाह्य और आभ्यन्तर प्रेरणाओं की विवेचना करते हुए 'साहित्य'-गत प्रकृत शब्द 'हित' के विभिन्न स्वरूपों का निरूपण है। छठे भाग में वादों के उदय का निर्देश करके उनका चतुर्धा विभाजन किया गया है—स्वजगत्सम्बन्धी वाद, स्व-स्वत्व-सम्बन्धी वाद, स्व-पर-

भिन्न-प्रभावित वाद और शैलीगत वाद। सातवें भाग में स्व-जगत्-सम्बन्धी (अर्थात् समाजगत) वादों (आचारवाद, औचित्यवाद, आदर्शवाद, राष्ट्रीयतावाद, यथार्थवाद, सुधारवाद, प्रगतिवाद और प्रकृतिवाद) का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक परिशीलन है। इसी पद्धति के अनुसार, आठवें भाग में स्व-स्वत्व (अर्थात् वैयक्तिकता) से सम्बद्ध प्रयोगवाद, भावुकतावाद, उत्तेजनावाद, बुद्धिवाद आदि की समीक्षा है। नवें भाग में, इसी ढंग पर, स्व-पर-भिन्न स्वत्व (अर्थात् अध्यात्म) से प्रभावित एकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि तथा रहस्यवाद, छायावाद और प्रतीकवाद का अध्ययन किया गया है। दसवें भाग में भारतीय काव्यशास्त्र के विविध वादों की विवेचना है। ग्यारहवें भाग में लोकमंगल की दृष्टि से साहित्यगत विविध वादों का मूल्यांकन किया गया है। परिशिष्टरूप में कुछ अन्य वादों (ताटस्थ्यवाद, हालावाद, प्राकृतवाद आदि) का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

८५. उपन्यासकार प्रेमचन्द—उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन

[१९५२ ई०]

श्री शंकरनाथ शुक्ल को सन् १९५२ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से उनके प्रबन्ध 'उपन्यासकार प्रेमचन्द—उनकी कला, सामजिक विचार और जीवन-दर्शन' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबन्ध प्रकाश में नहीं आया।

इस प्रबन्ध में कुल मिलाकर आठ प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय की पीठिका प्रस्तुत की गयी है। दूसरे प्रकरण में प्रेमचन्द के आविर्भाव का निरूपण है। तीसरे प्रकरण में उन पर पड़ने वाले प्रभावों का आकलन है। चौथे और पांचवें प्रकरणों में प्रेमचन्द की कला और उनकी कलागत विशेषताओं का अनुशीलन है। छठे प्रकरण में उनके जीवन-दर्शन की विचार-चर्चा है। सातवें प्रकरण में उनके सामाजिक विचारों (ग्रामसमस्या, नारीसमस्या, धार्मिक विचार, हिन्दू-मुस्लिम-समस्या, पूंजीवाद, रियासतों की समस्या तथा स्फुट

विचार) की विवेचना की गयी है। 'उपसंहार' नामक आठवें प्रकरण में उपन्यासकार प्रेमचन्द के योगदान का मूल्यांकन है।

८६. हिन्दी-नाटक का उद्भव और विकास
[१९५२ ई०]

श्री वेदपाल खन्ना 'विमल' का प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास' सन् १९५२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। मूल प्रबन्ध अंग्रेजी में लिखा गया था। इसका हिन्दी-रूपान्तर 'हिन्दी-नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' के नाम से श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली-७, से सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

इस प्रबन्ध में सत्ताईस अध्याय हैं। पहले अध्याय में नाटकों के अभाव के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में हिन्दी-नाटकों के पूर्वरूप रामलीला, रासलीला, नौटंकी और हिन्दी-नाटक पर उनके प्रभाव पर विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में भारतेन्दु-पूर्व काल के हिन्दी-नाटकों की विशेषताएं बतलाते हुए हिन्दी-नाटक के उदय का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक-अनूदित नाटकों, प्रहसनों तथा उनके नाटकों के कला-विधान आदि की विस्तृत समीक्षा की गयी है।

पांचवें अध्याय में उन्नीसवीं शती के अन्य प्रमुख तथा सामान्य नाटककारों का विवेचन है। छठे अध्याय में इन नाटककारों के प्रहसनों तथा अनुवादों पर विचार किया गया है। सातवें अध्याय में रंगमंचीय नाटकों और उनके कला-विधान तथा आठवें अध्याय में हिन्दी-नाटक के ह्रास-काल (१८८५-१९१२ ई०) का अध्ययन है। नवें अध्याय का प्रतिपाद्य 'उन्नीसवीं शती का नाट्य-विधान' है।

दसवें अध्याय में १९००-१९१२ ई० के काल को हिन्दी-नाटक का अभाव-काल मानकर तत्कालीन मौलिक तथा अनूदित नाटकों की आलोचना की गयी है। हिन्दी-नाटक के पुनरुत्थान की ओर भी संकेत किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में इस पुनरुत्थान-काल का व्यवस्थित अध्ययन है। प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए रासलीला और रामलीला तथा श्रृंगारी थिएट्रिकल नाटकों पर भी विचार किया गया है। बारहवें अध्याय में पारसी रंगमंच, भट्ट-धारा

तथा प्रसाद-धारा के पौराणिक नाटकों का परिशीलन किया गया है। तेरहवें अध्याय में भट्ट-धारा और प्रसाद-धारा के ऐतिहासिक नाटकों का पर्यालोचन है।

चौदहवें अध्याय में जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों, उनके कलाविधान तथा दोष आदि की विवेचना है। पन्द्रहवें अध्याय में प्रहसन और व्यंग्य तथा यथार्थवादी नाटकों एवं सोहलवें अध्याय में प्रतीकवादी तथा अनूदित नाटकों का अनुशीलन है।

सत्रहवें से छब्बीसवें अध्याय तक आधुनिक काल (१९३३-४८ ई०) के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सत्रहवें अध्याय में प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। अठारहवें और उन्नीसवें अध्यायों में ऐतिहासिक तथा बीसवें अध्याय में पौराणिक नाटकों का अनुशीलन है। इक्कीसवें और बाईसवें अध्याय के प्रतिपाद्य समस्या-नाटक तथा गीति-नाटक हैं। तेईसवें अध्याय में प्रतीकवादी नाटकों की समालोचना है। चौबीसवें अध्याय में हिन्दी एकांकी, उसके कला-विधान तथा प्रमुख एकांकीकारों का अध्ययन है। पच्चीसवें अध्याय में आधुनिक नाट्यविधान पर विचार किया गया है। छब्बीसवें अध्याय में रंचमंग की अवश्यकता बतलाते हुए हिन्दी-रंचमंग का सिंहावलोकन किया गया है। हिन्दी-नाटक के भविष्य के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए अनुसन्धाता ने हिन्दी-जनता एवं सरकार के समक्ष एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत की है।

सत्ताईसवाँ अध्याय मूल प्रवन्ध में नहीं था। प्रबन्ध को अप-टू-डेट बनाने के उद्देश्य से यह अध्याय हिन्दी-रूपान्तर में जोड़ दिया गया। इसमें १९४१ ई० से आज तक के हिन्दी-नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

८७. ब्रजभाषा-साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल-साहित्य)

[१९५२ ई०]

श्री मोतीलाल मेनारिया को राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् १९५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। एक विद्वान् ने बतलाया कि उनके शोधकार्य का विषय था 'राजस्थान का प्राचीन डिंगल (हिन्दी) साहित्य'।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी से पता चला कि उनके प्रबन्ध का विषय 'राजस्थान का प्राचीन हिन्दी साहित्य' था। स्व० डा० सुधीन्द्र ने बतलाया था कि उनके प्रबन्ध का शीर्षक था 'राजस्थान का पिंगल काव्य'। पं० मोहन वल्लभ पन्त से सूचना मिली कि मेनारिया जी के अनुशीलन का विषय था 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य'। यह ग्रन्थ सन् १९५२ ई० में हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर, से प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के निवेदन में शोधकर्ता ने स्वीकार किया है कि पन्त जी ने उनका 'पथप्रदर्शन' किया तथा 'पुस्तक की पांडुलिपि को आद्योपान्त पढ़ने का कष्ट उठाया और उसमें अनेक संशोधन किये'। अतएव पन्त जी का कथन ही अधिक प्रामाणिक है। डा० गायत्री देवी वैश्य ने राजस्थान विश्वविद्यालय के स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की एक प्रामाणिक सूची भेजी है, उसमें इस प्रबन्ध का विषय दिया है 'ब्रजभाषा साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल-साहित्य)'।

'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में पृष्ठभूमि का निरूपण है। राजस्थान की राजनैतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक स्थिति का परिचय दिया गया है। इस अध्याय में डिंगल (मारवाड़ी) और पिंगल (ब्रजभाषा) का तुलनात्मक परिचय भी दिया गया है। दूसरे अध्याय में राजस्थान के पिंगल-साहित्य के प्रारम्भ-काल (सं० १५५०-१७००) का अनुशीलन है। अध्याय के आरम्भ में 'पृथ्वीराजरासो' पर विस्तार-पूर्वक और 'विजयपालरासो' पर संक्षेप में विचार किया गया है। तत्पश्चात् राजस्थान के ब्रजभाषा-कवियों (मीरांबाई, कृष्णदास पयहारी, कील्ह जी, अग्रदास, नाभादास, जल्ह, पृथ्वीराज, परशुराम देव और 'तत्ववेत्ता') के साहित्यिक कृतित्व का निरूपण है। अध्याय के अन्त में एक परिशिष्ट भी है जिसमें नौ कवियों के विषय में संक्षिप्त सूचना दी गयी है। यह काल भक्तिकाव्यप्रधान था।

तीसरे अध्याय में राजस्थानी पिंगल-साहित्य के मध्यकाल (सं० १७००-१९००) का अध्ययन है। इस काल में भक्तिकाव्य के साथ ही रीतिकाव्य और चरितकाव्य का निर्माण हुआ। रीतिकाव्य की प्रधानता रही। इस अध्याय के आरम्भ में रीतिकाव्यों एवं चरितकाव्यों की कालक्रमानुसार सूची दी गयी है। तत्पश्चात् जसवंत सिंह, बिहारी, डूंगरसी, केहरी, बृन्द, उदयचन्द, नंदराम, नरहरिदास, मानजी, कुलपति मिश्र आदि छप्पन कवियों की संक्षिप्त समीक्षा है। इस अध्याय के परिशिष्ट में एक सौ चवालीस कवियों के विषय में संक्षिप्त सूचना भी दी गयी है। चौथे अध्याय में संत-साहित्य के चौंतीस कवियों (दादू-

दयाल, सुन्दरदास आदि) की संक्षिप्त समीक्षा तथा उसके परिशिष्ट में बावन संत-कवियों के विषय में सूचना है। पांचवें अध्याय में आधुनिक काल (सं० १६००-२००६) के पैंतीस कवियों की संक्षिप्त समीक्षा तथा परिशिष्ट में एक सौ तेईस कवियों की सूचना है। छठे अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए राजस्थान के ब्रजभाषा-साहित्य एवं ब्रजभाषा-साहित्य के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में राजस्थान में उपलब्ध ब्रजभाषा की हस्तलिखित प्रतियों के उद्धार और प्रकाशन के लिए राजस्थानवासियों से अपील की गयी है।

८८. ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—शब्दशक्तिविवेचन

[१६५२ ई०]

'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—शब्दशक्ति-विवेचन' पर श्री भोला-शंकर व्यास को राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १६५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इसी शीर्षक से इस प्रबन्ध का प्रकाशन सन् १६५६ ई० में हुआ। प्रकाशक है नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

इस प्रबन्ध में ग्यारह परिच्छेद हैं। सबसे पहले आमुख में साहित्य के लिए देशकाल-मुक्त कसौटी की आवश्यकता, काव्य कला है या विद्या, काव्य की महत्ता, शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत, अर्थ के प्रकार, ध्वनि की काव्यालोचन-पद्धति का मनोवैज्ञानिक आधार, पाश्चात्य काव्यशास्त्र से भारतीय काव्यशास्त्र की महत्ता आदि पर विचार किया गया है।

पहला परिच्छेद 'शब्द और अर्थ' है। मानवजीवन में वाणी का महत्व प्रतिपादित करते हुए भाषा और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के विषय में आदिम विचारों का विवेचन किया गया है। शब्द की उत्पत्ति के विषय में अतिप्राचीन भारतीय विचारों का परिचय दिया गया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में तीन वादों—उत्पत्तिवाद, व्यक्तिवाद तथा ज्ञप्तिवाद—पर विचार किया गया है। शब्द की प्रतीकात्मकता, शब्द का संकेत-ग्रह, शब्दसमूह के रूप, शब्द का भौतिक स्वरूप, शब्द के सम्बन्ध में विभिन्न वाद तथा शब्द के प्रकार आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे परिच्छेद 'अभिधा शक्ति और वाच्यार्थ' के अन्तर्गत शब्द की विभिन्न शक्तियों तथा अमिधा और अभिधेयार्थ पर विचार किया गया है। 'संकेत' के

स्वरूप और वर्गीकरण का विवेचन है। अभिधा की परिभाषा, वाच्यार्थ-ग्रहण, शक्ति-ग्रह आदि पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। तीसरा परिच्छेद 'लक्षणा एवं लक्ष्यार्थ' है। लक्षणा की परिभाषा, हेतु, भेद आदि का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए पाश्चात्य विद्वानों के शब्दशक्ति-विवेचन का भी उपस्थापन किया गया है। चौथे परिच्छेद में तात्पर्यवृत्ति और वाक्यार्थ की विवेचना है। वाक्य की परिभाषा, वाक्यार्थ, वाक्यार्थ के निमित्त के विषय में विभिन्न मतों का आलोचनात्मक उपस्थापन इस परिच्छेद के प्रतिपाद्य विषय हैं।

पांचवें परिच्छेद 'व्यंजना वृत्ति (शाब्दी व्यंजना)' के अन्तर्गत व्यंजना की परिभाषा, लक्षणा से इसकी भिन्नता, व्यंजना शक्ति में प्रकरण का महत्व आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। तदनन्तर शाब्दी व्यंजना का विवेचन है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना और श्लेष का भेदनिरूपण करके अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के सम्बन्ध में महिमभट्ट के मत की समीक्षा की गयी है। शाब्दी व्यंजना के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ के मतों पर भी विचार किया गया है।

छठे परिच्छेद में आर्थी व्यंजना का प्रतिपादन है। इसके वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्यसंभवा आदि भेदों का परिचय देते हुए अर्थव्यंजना के साधनों का विवेचन किया गया है। व्यंग्य के प्रकारों की चर्चा करते हुए ध्वनि और व्यंजना के भेद पर प्रकाश डाला गया है। व्यंग्यार्थ के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के मत पर भी विचार किया गया है।

सातवां परिच्छेद 'अभिधावादी तथा व्यंजना' है। इस अध्याय में दिखाया गया है कि व्यंजना और स्फोट का ऐतिहासिक विकास एक-सा है। अभिहितान्वयवादी, तात्पर्यवादी मतों तथा व्यंजना के विषय में उनकी मान्यताओं का परिचय दिया गया है। प्रसंगानुसार अभिधावादियों के खंडन का अध्ययन किया गया है।

आठवें परिच्छेद 'लक्षणावादी तथा व्यंजना' में लक्षणावादियों के मत का संक्षिप्त परिचय है। मम्मट द्वारा दिए गए लक्षणावादियों के विरोध तथा व्यंजना के अन्य विरोधी मतों का भी उपस्थापन तथा खंडन किया गया है। नवें परिच्छेद में अनुमानवादी मत का विवरण है। उनके लक्षणाविषयक मत का परिहार किया गया है। दसवां परिच्छेद 'व्यंजना तथा साहित्यशास्त्र से इतर आचार्य' है। भर्तृहरि, कौण्ड, नागेश, गदाधर और जगदीश तर्कालंकार के मतों की इस प्रसंग में समीक्षा की गयी है। ग्यारहवें परिच्छेद में व्यंजना को ही काव्य की

कसौटी माना गया है । इस विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य मतों का विवेचन करते हुए अनुसन्धाता ने अपना मत भी प्रस्तुत किया है । अन्त में प्रस्तुत विषय का सिंहावलोकन किया गया है । इस प्रसंग में संस्कृत से लेकर हिन्दी के काव्य-शास्त्रियों तक के शब्दशक्ति-विवेचन की समीक्षा की गयी है ।

परिशिष्ट में भारतीय साहित्यशास्त्र के अलंकार-सम्प्रदाय तथा प्रमुख आलंकारिकों का ऐतिहासिक परिचय है ।

८९. भक्तवर नागरीदास : उनकी कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन

[१९५२ ई०]

श्री फैयाजअली खां का प्रबन्ध 'भक्तवर नागरीदास : उनकी कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन' सन् १९५२ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया । इसकी विषय-सूची इस प्रकार है :

६०. अपभ्रंश-साहित्य

[१९५२ ई०]

श्री हरिवंश कोछड़ को उनके प्रबन्ध 'अपभ्रंश-साहित्य' पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, की ओर से भारतीय साहित्य मन्दिर, फ़व्वारा, दिल्ली, ने सन् १९५६ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में चार अध्याय हैं जिनमें अपभ्रंश भाषा का परिचय दिया गया है। पहले अध्याय में अपभ्रंश-विषयक निर्देश उपस्थापित किये गये हैं। इसमें संस्कृत के अनेक ग्रन्थों तथा अपभ्रंश-के दानपत्रों आदि में अपभ्रंश के निर्देशों का अनुशीलन किया गया है। दूसरे अध्याय में अपभ्रंश भाषा का विकास प्रदर्शित किया गया है। तीसरे अध्याय में अपभ्रंश और हिन्दी भाषा पर विचार किया गया है। वर्तमान प्रान्तीय आर्य-भाषाओं का विकास अपभ्रंश से ही हुआ है, इस अध्याय में इन दोनों भाषाओं के विकासात्मक सम्बन्ध का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में अपभ्रंश साहित्य की पृष्ठभूमि निर्दिष्ट की गयी है। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए इस पृष्ठभूमि का निदर्शन किया गया है।

दूसरे भाग के तेरह अध्यायों में अपभ्रंश-साहित्य का अनुशीलन किया गया है। पाचवें अध्याय में अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। छठे अध्याय में अपभ्रंश-महाकाव्यों का अध्ययन किया गया है। इस अध्ययनक्रम में मुख्यतः 'पउम चरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ', 'महापुराण', 'भविसयत्त-कहा', 'हरिवंश पुराण' आदि अपभ्रंश-महाकाव्य आये हैं। सातवें अध्याय में अपभ्रंश के धार्मिक खंडकाव्यों का विवेचन है। आठवें अध्याय में लौकिक खंडकाव्यों की समीक्षा की गयी है। नवें अध्याय मैं अपभ्रंश के उन मुक्तक काव्यों का परिशीलन किया गया है जो जैन कवियों ने रचे हैं। इसी प्रकार दसवें अध्याय में बौद्ध सिद्धों के मुक्तक-साहित्य की विवेचना की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में अपभ्रंश भाषा में रचित प्रेम, शृंगार, वीर रस आदि के फुटकर पद्यों पर विचार किया गया है। बारहवें अध्याय में अपभ्रंश-रूपकाव्य की मीमांसा की गयी है। तेरहवें अध्याय में अपभ्रंश के कथा-साहित्य का अवलोकन किया

गया है। चौदहवें अध्याय में अपभ्रंश के स्फुट साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। पन्द्रहवें अध्याय का आलोच्य विषय 'अपभ्रंश-गद्य' है। सोलहवें अध्याय में संस्कृत-साहित्य और अपभ्रंश-साहित्य का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सत्रहवें अध्याय में हिन्दी पर अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव निरूपित किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट हैं, पहले में ग्रन्थकार, ग्रन्थ, रचनाकाल, तथा विषय का प्रतिपादन है और दूसरे में कतिपय प्रसिद्ध सूक्तियों, लोकोक्तियों तथा वाग्धाराओं का परिचय है।

९१. हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास

[१९५२ ई०]

दिल्ली विश्वविद्यालय ने श्री दशरथ ओझा को उनके शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास' पर सन् १९५२ ई० में पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की। हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के तत्वावधान में राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, ने सं० २०११ में इस ग्रंथ का प्रकाशन किया।

इस प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में कला और उसकी उपयोगिता तथा प्राचीन नाटकीय सिद्धांतों एवं प्रयोगों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में लोक-नाटक का अनुसंधान है। स्वांग की परम्परा, यात्रा-नाटक के उद्भव और विकास, संस्कृत तथा देशी नाटकों पर उसके प्रभाव आदि का आकलन करते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के यात्रा-नाटकों की समीक्षा की गयी है। तीसरे अध्याय में मैथिली नाटकों की उत्पत्ति आदि पर प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में राजस्थानी नाटकों का उद्भव, 'रास' शब्द की व्युत्पत्ति, लक्षण-ग्रन्थों और संस्कृत-साहित्य में रासक आदि विषयों का विवेचन है। पांचवें अध्याय में हिन्दी के आदिम साहित्यिक नाटकों, पश्चिमी राजस्थानी में रास-नाटक की परम्परा, हिन्दी-नाटकों में रासशैली के विकास एवं उसकी विशेषताओं का उपस्थापन है। छठे अध्याय में वैष्णव आन्दोलन के प्रभाव तथा 'रामायण नाटक', 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि नाटकों की समीक्षा है। सातवें अध्याय में संस्कृत-शैली के प्रथम हिन्दी नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' पर

विचार किया गया है। आठवें अध्याय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक एवं अनूदित नाटकों की विस्तारपूर्वक समालोचना की गयी है। नवें अध्याय में भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाट्यकारों एवं उनकी नाट्यप्रवृत्तियों का पर्यालोचन है। दसवें अध्याय में आधुनिककाल के प्रमुख साहित्यकार जयशंकर प्रसाद की नाट्यकला की विविध दृष्टियों से परीक्षा की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में रंग-मंचीय नाटकों पर विचार हुआ है। बारहवें अध्याय में गीतिनाट्य, सांस्कृतिक नाटक, एकांकी नाटक, रेडियो-नाटक, समस्यानाटक आदि के विकास और मंडनशिल्प की विवेचना है। ग्रंथ के उपसंहार में हिन्दी-नाटक के उत्थान के पांच सोपानों और तद्गत नवीन प्रवृत्तियों का अनुशीलन करके अन्त में हिन्दी-नाटक के मंगलमय भविष्य की ओर संकेत किया गया है। सात परिशिष्टों में प्रस्तुत की गयी रासों, रासमंडलियों, नाटकों आदि से सम्बद्ध सामग्री भी उपयोगी है।

९२. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य

[१९५२ ई०]

श्री वीरेन्द्र कुमार शुक्ल का प्रबन्ध 'भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य' सन् १९५२ ई० में सागर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सागर विश्वविद्यालय से हिन्दी-डॉक्टरेट के लिए स्वीकृत यह सर्वप्रथम प्रबन्ध है। मूल प्रबन्ध कुछ आवश्यक परिवर्तन और काटछांट के साथ उसी शीर्षक से सन् १९५५ ई० में रामनारायण लाल, प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में कुल चौदह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भारतेन्दु काल के राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक वातावरण का अध्ययन किया गया है। द्वितीत अध्याय 'जीवन-परिचय तथा साहित्यिक कृतियां' है। आरम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का संक्षिप्त जीवन-परिचय देकर उनकी नाट्यकृतियों का परिचय दिया गया है। अध्याय के अन्त में भारतेन्दु की नाट्येतर रचनाओं (काव्य, इतिहास, धर्मग्रन्थ और स्फुट रचनाओं) की सूची भी दे दी गयी है। तृतीय अध्याय में भारतेन्दु के पूर्ववर्ती हिन्दी-नाटक और

रंगमंच का ऐतिहासिक अनुसंधान किया गया है। रंगमंच के विकासक्रम में लोकनाट्य, नाटक-कम्पनियों तथा नाटक-मंडलियों के योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में भारतेन्दु के स्वतन्त्र नाट्यविधान की चर्चा करके उस युग के नाटकों का निम्नांकित छः वर्गों के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है :—

१. पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर चलने वाला घटनाक्रम तथा उसका विकास।
२. ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के जीवन तथा घटनाओं का राष्ट्रीय स्वरूप।
३. राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित नाट्यसाहित्य।
४. उद्देश्य-प्रधान नाटक जिनका जन्म धार्मिक तथा सामाजिक उद्धार की भावनाओं को लेकर हुआ था।
५. प्रेम-प्रधान धारा से ओतप्रोत प्रेमाख्यान-नाट्य-साहित्य।
६. प्रहसन का उदय और परम्परा।

अध्याय के अन्त में रूपान्तरित नाटकों का भी संक्षिप्त विवेचन है।

पंचम अध्याय में भारतेन्दु के नाटकों के क्रमिक विकास का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय में भारतेन्दु के नाटकों का वर्गीकरण किया गया है। ये दोनों अध्याय एक में ही सम्मिलित हैं। सप्तम अध्याय में भारतेन्दु के अनूदित नाटकों और अष्टम अध्याय में उनके रूपान्तरित नाटकों का विवेचन किया गया है। नवम अध्याय में उनके मौलिक नाटकों का कलात्मक विकास दिखलाकर उनका वर्गीकरण किया गया है। दशम अध्याय में भारतेन्दु जी के प्रहसनों का शास्त्रीय अध्ययन है। एकादश अध्याय में उनके यथार्थवादी सामाजिक चित्र (प्रेमयोगिनी) तथा प्रेमप्रधान नाटिका (चन्द्रावली) की समीक्षा की गयी है। द्वादश अध्याय में भारतेन्दु जी के पौराणिक तथा ऐतिहासिक मौलिक नाटकों 'सती प्रताप', एवं 'नीलदेवी' का अनुशीलन है। त्रयोदश अध्याय में भारतेन्दु के सामाजिक तथा राजनीतिक नाटकों 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' की समालोचना करके यह निष्कर्ष स्थापित किया गया है कि इन नाटकों में भारतेन्दु की नाट्यकला का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। चतुर्दश अध्याय में उनके मौलिक नाटकों की भाषा, संवाद और गीतों का अध्ययन है। उपसंहार में साहित्यकार भारतेन्दु के कृतित्व का मूल्यांकन है।

६३. हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (१५वीं, १६वीं, १७वीं शती ई०)

[१९५३ ई०]

श्री जगदीश गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन (१५वीं, १६वीं, १७वीं शती ई०)' सन् १९५३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, ने इसका प्रकाशन सन् १९५८ ई० में किया।

इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का शीर्षक है 'कवि और काव्य' जिसमें कवियों के समय से सम्बन्धित प्रमाण देते हुए उनके कृष्णपरक काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में वर्ण्य वस्तु का विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है। सारी सामग्री ब्रजलीला, मथुरालीला तथा द्वारकालीला—इन तीन भागों में विभाजित की गयी है। इन भागों के अन्तर्गत अवान्तर विभाजन करते हुए वर्ण्य वस्तु की सूक्ष्म तुलना करने का प्रयास किया गया है। तुलनात्मक स्थिति को पूर्ण बनाने के लिए प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के स्रोतों का यथास्थान निर्देश भी है।

तृतीय अध्याय में 'सिद्धान्तपक्ष' शीर्षक से दोनों भाषाओं के कवियों द्वारा ब्रह्म, जीव, जगत्, माया तथा भक्ति के सम्बन्ध में व्यक्त की गयी मान्यताओं का उपस्थापन है। साम्प्रदायिक मान्यताओं तथा प्राचीन स्रोतों का भी आवश्यकतानुसार प्रसंग के अनुकूल उल्लेख कर दिया गया है परन्तु प्रधानता कवियों के अपने विचारों को ही दी गयी है। चतुर्थ अध्याय में कवियों के भावपक्ष का तुलनात्मक निरूपण किया गया है जिसका आधार साहित्य का स्वाभाविक मानदण्ड है, रूढ़िगत शास्त्रीय परिपाटी नहीं। पंचम अध्याय का शीर्षक 'कलापक्ष' है। इसमें 'कला' का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए अलंकारविधान के अतिरिक्त दृश्य-चित्रण, स्वभाव-चित्रण, प्रकृति-चित्रण तथा प्रबन्ध-निर्वाह का भी समावेश कर लिया गया है जिससे दोनों भाषाओं के कृष्णकाव्य के लगभग सभी प्रमुख पक्ष सामने आ जाते हैं।

षष्ठ अध्याय में आलोच्य कवियों के प्रबन्ध, पद और मुक्तक तीनों शैलियों में व्यवहृत छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। छन्दों के सूक्ष्म भेदों, लक्षणों, समानताओं एवं विषमताओं के निर्देश के बाद अन्त में दोनों भाषाओं

के काव्य में स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट मुख्य रागों की सूची भी दे दी गयी है। सप्तम अध्याय का विवेच्य विषय भाषा-शैली है। अध्याय के प्रारम्भ में तत्सम, तद्भव, देशज अथवा लोक-प्रचलित शब्दों के वैभव का परिचय दिया गया है और पर्याय शब्दों के उदाहरणरूप में कृष्ण के लिए दोनों भाषाओं में प्रचलित शब्दों का संकलन प्रस्तुत किया गया है। लोकोक्तियों और मुहावरों की सूची देकर दोनों भाषाओं की भावाभिव्यंजन-शक्ति की तुलना की गयी है। तदनन्तर भाषा की शैलीगत विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस अध्याय के उत्तरांश में भाषा-मिश्रण की विवेचना करते हुए कुछ ऐसे स्थलों का उदाहरण-सहित निर्देश किया गया है जहाँ गुजराती कवियों के काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा-काव्य में गुजराती से प्रभावित जो प्रयोग मिलते हैं उनकी ओर भी संकेत कर दिया गया है।

उपसंहार में दोनों भाषाओं के कृष्णकाव्य में मिलने वाले बहुमुखी साम्य और वैषम्य के आधार को प्रकट करने के लिए, गुजरात और ब्रज के युगों पुराने सांस्कृतिक सम्बन्धों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए उनके अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थ के अन्त में गुजराती कवियों के समय को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न इतिहासकारों द्वारा दिये गये उनके समय को एक स्वतन्त्र तालिका-चित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है; साथ ही तीन तालिका-चित्र और दे दिये गये हैं, जिनसे प्रत्येक शती में गुजराती और ब्रजभाषा दोनों के कवियों और काव्यों की तुलनात्मक परिस्थिति तत्काल एक ही दृष्टि में विदित हो सकती है।

९४. सिद्ध-साहित्य

[१९५३ ई०]

श्री धर्मवीर भारती को उनके शोध-प्रवन्ध 'सिद्ध-साहित्य' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९५३ ई० में डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध के परिवर्द्धित रूप का प्रकाशन किताब महल, प्रयाग, द्वारा सन् १९५५ में किया गया।

प्रस्तुत प्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय विषय-प्रवेश है। इस अध्याय में सबसे पहले आधार-सामग्री का विवेचन किया गया है। तदनन्तर दोहाकारों तथा पद-कर्ताओं के कालक्रम और जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् इन सिद्धों के साधना-केन्द्र तथा राज्याश्रय की गवेषणा की गयी है। अन्त में सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया गया है।

दूसरे अध्याय में वज्रयान की परम्परा प्रदर्शित की गयी है। महायान के विकास पर विचार करते हुए समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाओं का अनुशीलन किया गया है। पांचरात्र, पाशुपत, काश्मीरी शैवमत, वीरशैव, काल-मुख, कापालिक, रसेश्वर, शक्ति और जैन आदि सम्प्रदायों की तान्त्रिक साधनाओं का सिंहावलोकन करते हुए लेखक ने इन तन्त्रों की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश दिखाते हुए वज्रयान के विकास का विवेचन किया गया है।

तीसरे अध्याय में सिद्ध-साहित्य के सिद्धान्तपक्ष का अध्ययन किया गया है। सिद्धों के तत्व-चिन्तन, साधना-पद्धति और उपलब्धि पर विस्तार से विचार किया गया है। इस अध्याय में सिद्धों के तत्वचिन्तन और साधना-पद्धति के अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का विशद प्रतिपादन किया गया है।

चौथे अध्याय में सिद्ध-साहित्य के काव्यपक्ष का अनुशीलन किया गया है। भावपक्ष के अन्तर्गत महाराग, सहजरस, नायक-नायिका, नीतिपक्ष आदि का विवेचन किया गया है। शैलीपक्ष के अन्तर्गत सिद्धों की संधा भाषा और उनके प्रतीकों पर विचार किया गया है। भाषा और छन्द की दृष्टि से सिद्धों की विभिन्न भाषाशैलियों तथा छन्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पांचवें अध्याय में सिद्धों की साम्प्रदायिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद परवर्ती सम्प्रदायों का विकास प्रदर्शित किया गया है। वज्रयानी शब्दों की परम्परा का अन्वेषण किया गया है। अन्त में पर्याप्त विस्तार के साथ साधना-पद्धति की वज्रयानी प्रवृतियों तथा शब्दावली की समीक्षा की गयी है।

९५. भोजपुरी लोकगाथा का अध्ययन

[१९५३ ई०]

श्री सत्यव्रत सिन्हा को उनके प्रबन्ध 'भोजपुरी लोकगाथा का अध्ययन' पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने सन् १९५३ ई० में डी० फ़िल० की उपाधि प्रदान की। सन् १९५८ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहबाद, ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन 'भोजपुरी लोकगाथा' नाम से किया।

भूमिका में लेखक ने लोकसाहित्य, भोजपुरी साहित्य और भोजपुरी लोक-साहित्य का विवेचन किया है। मूल प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में नामकरण की समस्या उठायी गयी है। अनेक देशी और विदेशी विद्वानों के एतदर्थ प्रयुक्त अनेक शब्दों की छानबीन करते हुए अनुसन्धाता ने डा० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा प्रयुक्त 'लोकगाथा' शब्द को ही समीचीन माना है। तदनन्तर जी० एल० कितरेज, फ़्रैंक सिजविक, डा० मरे तथा विभिन्न विश्वकोषों द्वारा निर्धारित लोकगाथा की परिभाषाओं का विवेचन किया गया है। लोकगाथा की उत्पत्ति के विषय में भी जैकब ग्रिम, एफ़० बी० गुमरे, स्तैन्थल, चाइल्ड, श्लेगेल आदि विदेशी तथा रामनरेश त्रिपाठी, डा० कृष्णदेव उपाध्याय आदि भारतीय विद्वानों के मतों की परीक्षा की गयी है। इसके उपरान्त लोकगाथाओं की भारतीय परम्परा का निर्देश किया गया है। लोकगाथा की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उसके प्रकारों का भी विवेचन किया गया है, साथ ही लोकगाथा तथा लोकगीतों का अन्तर स्पष्ट किया गया है।

दूसरे अध्याय में भोजपुरी लोकगाथाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। भोजपुरी लोकगाथाओं के एकत्रीकरण का इतिहास बतलाया गया है। गाथाओं तथा गायकों की कुछ समान विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। भोजपुरी लोकगाथाओं का वर्गीकरण किया गया है और उनका उद्देश्य भी स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय में भोजपुरी वीरकथात्मक लोकगाथा का अध्ययन किया गया है। इस वर्ग के अन्तर्गत चार गाथाएं आती हैं—आल्हा, लौरिकी, विजय-प्रयत्न और बाबू कुंवरसिंह। चौथे अध्याय में भोजपुरी प्रेमकथात्मक लोकगाथा का अध्ययन किया गया है। इसके अन्तर्गत केवल एक गाथा 'शोभानयका बनजारा' आती है।

भोजपुरी रोमांचकथात्मक लोकगाथा का अध्ययन पांचवें अध्याय में प्रस्तुत

किया गया है। सोरठी और विहुला ऐसी ही गाथाएं हैं। छठे अध्याय का प्रतिपाद्य योगकथात्मक लोकगाथा है। अनुसंधाता ने ही इस वर्ग को मान्यता दी है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय आदि ने इस वर्ग का उल्लेख नहीं किया। अनुसंधाता ने राजा भरथरी और गोपीचन्द की गाथाओं को इस वर्ग के अन्तर्गत रखा है। सातवें अध्याय में भोजपुरी लोकगाथा में अंकित संस्कृति एवं सभ्यता का निदर्शन किया गया है। इन गाथाओं में अपने युग के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है।

आठवें अध्याय में भोजपुरी लोकगाथा में भाषा और साहित्य तथा नवें अध्याय में धर्म के स्वरूप का विवेचन किया गया है। निष्कर्षरूप में, इन लोक-गाथाओं में धर्म का समन्वितरूप ही उपलब्ध होता है। दसवें अध्याय में भोजपुरी लोकगाथा में अवतारवाद तथा अमानवतत्वों का अनुसंधान किया गया है। तदुपरान्त, भोजपुरी लोकगाथा में कुछ समानता का कारणपूर्वक निर्देश करते हुए अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि भोजपुरी लोकगाथा वस्तुतः एक जातीय साहित्य है।

परिशिष्ट के अन्तर्गत प्रमुख भोजपुरी लोकगाथाओं के मौखिक रूप को लिपिबद्ध किया गया है।

९६. आधुनिक हिन्दी कविता और कालोचना पर अंग्रेजी प्रभाव

[१९५३ ई०]

श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी कविता और आलोचना पर अंग्रेजी प्रभाव' सन् १९५३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अंग्रेजी विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था। इसका हिन्दी-रूपान्तर संवत् २०११ में 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' के नाम से पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, से प्रकाशित हुआ।

इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। प्रथम भाग में तीन प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में आंग्ल प्रभाव से पहले के हिन्दी काव्य, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति तथा रीतिकालीन काव्य की

मुख्य प्रवृत्तियों का निरूपण है। दूसरे प्रकरण में नवीन प्रभाव तथा उसकी प्रतिनिधि संस्थाओं—फ़ोर्ट विलियम कालिज, शिक्षा, प्रेस तथा साहित्यिक संस्थाओं—का अध्ययन है। तीसरे प्रकरण में सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों तथा आधुनिक भारतीय साहित्य में हुए युगान्तर का परिशीलन है।

चौथे प्रकरण से लेकर सातवें तक के चार अध्याय द्वितीय भाग के अन्तर्गत हैं। चौथे प्रकरण में भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि का विवेचन करके उस युग के काव्य के वर्ण्य विषय, रूप और भाषा पर अंग्रेजी के प्रभाव की समीक्षा की गयी है। इसी प्रकरण में अंग्रेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद का भी उल्लेख है। पांचवें प्रकरण में द्विवेदी-युग की नवीन शक्तियों का दर्शन कराकर उस युग के काव्य की गतिविधि, विपयों तथा उपादानों (बुद्धिवाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयतावाद, प्रकृति-चित्रण) रूप, छंद तथा भाषा पर अंग्रेजी के प्रभाव का अनुशीलन किया गया है। छठे प्रकरण में छायावादी युग की पृष्ठभूमि का विवेचन करके पाश्चात्य रोमान्टिसिज़्म, **प्रतीकवाद** आदि का संक्षिप्त **परिचय** दिया गया है। तदनन्तर छायावाद-युग की कविता के विषयों, उपादानों और प्रवृत्तियों (सौन्दर्यवाद, प्राकृतिक-सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य, विद्रोहात्मक आदर्शवाद, निराशावाद, रहस्यवाद आदि), भाषा-शैली, रूप और छन्द पर अंग्रेजी के प्रभाव की समालोचना है।

सातवें प्रकरण में प्रगतिवादी युग (संवत् १९९६ के बाद का काल) की कविता पर अंग्रेजी के प्रभाव का अध्ययन है। प्रकरण के आरम्भ में नवीन वातावरण, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि की विवेचना है। तत्पश्चात् उस युग की कविता के विषयों पर उपादानों (प्रगतिवादी धारा, मनोविश्लेषणवादी धारा तथा सांस्कृतिक समन्वय की धारा) एवं काव्यरूपों पर अंग्रेजी के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। उपसंहार में अंग्रेजी के प्रभावों से प्रेरित हिन्दी-परिवर्तनों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन पर बल दिया गया है। अनुसन्धाता की मान्यता है कि इस प्रकार का अध्ययन-अध्यापन भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध बनाने का कार्य करेगा और उसे नवीन रूपरेखा और दिशा प्रदान करके साहित्यकारों के दृष्टिकोण को विकसित करने में सहायक सिद्ध होगा।

६७. श्रीमद्भागवत और सूरदास

[१६५३ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १६५३ ई० में श्री हरवंश लाल शर्मा को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। उनके शोध-प्रबन्ध का विषय था 'श्रीमद्भागवत और सूरदास'। यह ग्रन्थ अप्रकाशित है।

इस प्रबन्ध में कुल मिलाकर पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय के आरम्भ में श्रीमद्भागवत के स्वरूप पर विचार किया गया है। भागवत की प्राचीनता, उसकी टीकाओं एवं उसमें निरूपित विषयों का अनुसन्धान किया गया है। तत्पश्चात् इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि क्या सूरसागर श्रीमद्भागवत का अनुवाद है। स्कन्धों के क्रम से सूरसागर तथा भागवत का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त भी 'सूरसागर' के आधार-ग्रन्थ हैं। अध्याय के अन्त में उन आधारों का भी उल्लेख किया गया है। दूसरे अध्याय में पहले कृष्ण-भावना का विकास दिखलाया गया है। भागवत में निबद्ध कृष्ण के विभिन्न रूपों और उनकी लीलाओं का निरूपण करके सूर के गोपी-कृष्ण के स्वरूप और उनकी लीलाओं की विवेचना की गयी है। आगे चलकर सूर के राधाकृष्ण का अध्ययन है। सूर के भ्रमर-गीत और भागवत के भ्रमरगीत की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। इस प्रकरण में राधा का विकास भी दिखलाया गया है। अध्याय के अन्त में भागवत और सूर के पात्रों के चरित्र-चित्रण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे अध्याय में दार्शनिक सिद्धान्तों का परिशीलन है। श्रीमद्भागवत और वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है। सूरदास पर उनके प्रभाव का उपस्थापन करते हुए सूर की मौलिकता की परीक्षा की गयी है। चौथे अध्याय का विषय श्रीमद्भागत और सूरदास का भक्तिपक्ष है। आरम्भ में भक्ति का विकास दिखाकर उसके स्वरूप की व्याख्या की गयी है। तदनन्तर सूरसागर में निरूपित भक्ति की विचार-चर्चा है। सूर पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों का निर्देश किया गया है। भागवत और सूरदास के भक्तिपक्ष की तुलनात्मक विवेचना की गयी है। अन्त में सूर की मौलिकता का निरूपण है। पाँचवें अध्याय के आरम्भ में पुष्टिमार्ग का व्याख्यान किया गया है। पुष्टिमार्गीय भक्ति

के सिद्धान्तपक्ष और आचरणपक्ष की मीमांसा की गयी है। तत्पश्चात् श्रीमद्भागवत में अभिव्यक्त पुष्टिभक्ति का निर्देश करते हुए सूरदास और पुष्टिमार्ग का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है।

९८. आचार्य भिखारीदास

[१९५३ ई०]

श्री नारायणदास खन्ना का प्रबन्ध 'आचार्य भिखारीदास' सन् १९५३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सं० २०१२ वि० में इसी नाम से इसका प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय ने किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खंडों में विभाजित है। पहले खंड में कवि के जीवन-वृत्त का निरूपण है। यह निरूपण अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य दोनों दृष्टियों से किया गया है। बहिःसाक्ष्य के अन्तर्गत 'प्रताप सोमावली' (सोमवंशियों का इतिहास) खोजरिपोर्टों तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों का आधार लिया गया है।

दूसरे खंड में भिखारीदास की साहित्यिक रचनाओं का विवेचन है। पूर्वार्द्ध में दास की समकालीन ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का पर्यालोचन है और उत्तरार्द्ध में दास के ग्रन्थों तथा उनकी प्रामाणिकता का विवेचन है। इस विवेचन के तीन भाग हैं—(१) सूत्रों का विवेचन (२) ग्रन्थों की प्रामाणिकता और (३) प्रामाणिक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय। प्रामाणिकता के विवेचन में अनुसन्धाता ने भिखारीदास के प्रायः प्रत्येक ग्रंथ में उपलब्ध होने वाली कुछ सामान्य विशेषताओं की खोज की है। इस खंड के अन्त में लेखक ने निष्कर्षरूप में भिखारीदास के प्रामाणिक, सन्दिग्ध तथा अप्रामाणिक ग्रन्थों की सूची दे दी है।

तीसरे खंड में भिखारीदास की काव्यकला, भक्तिभावना और सामाजिक नीति का परिशीलनहै। लेखक ने पहले उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया है। तदनन्तर शैलीपक्ष के विवेचन के अन्तर्गत उनकी भाषागत प्रवृत्तियों, शब्द-भंडार, व्याकरण और काव्य दोषों की समीक्षा की है। तदुपरान्त उनकी

भक्तिभावना की मीमांसा है। इस प्रसंग में भिखारीदास के विनय तथा नीति से सम्बद्ध काव्य की विवेचना की गयी है।

चौथे खंड के पूर्वार्द्ध में लेखक ने भिखारीदास के आचार्य-रूप पर प्रकाश डाला है। काव्यशास्त्र के विविध अंगों (काव्य-प्रयोजन, गुरण, पदार्थ, ध्वनि, तुक, काव्यदोष, छन्द-निरूपरण, रस तथा अलंकार) के सम्बन्ध में उन के विचारों का संस्कृत-हिन्दी के अन्य प्रमुख काव्यशास्त्रियों के प्रतिपादन के प्रकाश में अध्ययन करते हुए उनकी मौलिक उद्भावनाओं, अन्य आचार्यों से साम्य तथा वैषम्य आदि का पर्यवेक्षरण किया गया है। लेखक का मत है कि भिखारीदास की प्रतिभा नायिका-भेद में विशेष रूप से निखरी है।

प्रबन्ध के अन्त में 'उपसंहार' है। इसमें लेखक ने भिखारीदास पर मिश्रबन्धुओं द्वारा लगाये गये अपहरण-विषयक आक्षेप का निराकरण किया है। अन्त में उन की विशिष्ट साहित्यिक स्थिति का मूल्यांकन किया गया है।

९९. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना

[१९५३ ई०]

श्री पुत्तूलाल शुक्ल का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना' सन् १९५३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। विश्वविद्यालय की ओर से ही इसका प्रकाशन सन् १९५८ ई० में हुआ। प्रकाशित कृति में आधुनिकतम प्रकाशित पुस्तकों का उपयोग करके यत्र-तत्र अपेक्षित परिवर्द्धन भी किया गया है।

इस ग्रंथ में चार अध्याय हैं। पहले अध्याय के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—आधुनिक छन्दोविधान की समस्या, पूर्व परम्परा और आधुनिक छन्द, छन्दो-विषयक धारणाएं एवं परिभाषाएं, पश्चिमी धारणा, बंगला छान्दसिक धारणा, मराठी छान्दसिक धारणा, हिन्दी छान्दसिक धारणाएं, परिभाषा, छन्द का जन्म, छन्द:स्फोट, छन्द:शास्त्र और छन्द, छन्दोविषयक शेष प्रकीर्ण विचार एवं गद्य और गद्यच्छन्द। दूसरे अध्याय में भारतीय छन्दों के विकास, विभिन्न आर्य-भाषाओं की मूल लयों की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन और आधुनिक युग में हिन्दी में प्रयुक्त वृत्तों की विवेचना की गयी है। छन्दों का विकास और विस्तार,

प्रगति और छन्दस्वातन्त्र्य, ग्रीक छन्द, अरबी-फ़ारसी-उर्दू के छन्द, बंगला छन्द, मराठी छन्द, तमिल छन्द संस्कृत वृत्त, वृत्त-विवेचन, घनाक्षरी, सवैया छन्द, अनुष्टुप् वृत्त, वृत्तप्रयोग की आलोचना और नवीनता—इन विषयों पर इस अध्याय में व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है।

तीसरे अध्याय के आरम्भ में मात्रिक छन्दों के विकास और छन्दों के विभिन्न तत्वों का विवेचन है। तुकान्त के इतिहास के साथ अतुकान्त छन्द-प्रयोग का इतिहास दिया गया है। इसके पश्चात् खड़ीबोली में प्रयुक्त समस्त आधुनिक छन्दों के भेदों का विश्लेषण किया गया है। अध्याय में विवेचित विषयों का विभाजन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है—आधुनिक काव्य में मात्रिक छन्द, हिन्दी-छन्दों की मात्रिक परम्परा और उसका आधुनिक युग में विकास, छन्द के विभिन्न तत्व—यति, अन्त्यानुप्रास या यति, अन्त्यानुप्रास या तुक, अन्त्यानुप्रास के क्रमायोजन, मुक्तछन्द में अन्त्यानुप्रास,अन्तरनुप्रास और अन्तर्यति समछन्द-वर्ग, अर्द्धसम मात्रिक छन्द, त्रिसम वर्ग, मित्रवर्ग के छन्द, प्राचीन मिश्र-छन्दों का अर्वाचीन प्रयोग, नव विकर्षाधार, छन्दक और गीत, हिन्दी छन्दक और सम्पद तथा निश्चित मात्रिक छन्दों का सिंहावलोकन।

चौथे अध्याय के आरम्भ में अतुकान्त वर्णिक और मात्रिक छन्दों का विश्लेषण है। इसके पश्चात् युगांतरकारी और महत्वपूर्ण मुक्तछन्दों या स्वच्छन्द छन्दों का पर्विक विश्लेषण करके उन्हें वर्गीकृत किया गया है। इस अध्याय की विषय-सूची इस प्रकार है—आधुनिक हिन्दी-कविता में स्वच्छन्दता का आगमन, अतुकान्त छन्द, विषम-छन्द या मुक्तछन्द, मुक्तछन्द और लय, मुक्तछन्द और अन्त्यानुप्रास-कला, मुक्तछन्द और लयखंड, वर्णिक लयाधार, अन्तमुक्त शुद्ध घनाक्षरी आधार, अक्षरमात्रिक मुक्त छन्द, मात्रिक लयाधार छन्द की प्रवह-मानता में पर्वों का योग, त्रिक पर्व, चतुष्क पर्व, पंचक पर्व, षट्क पर्व, सप्तक पर्व, अष्टक पर्व, नवक पर्व और उपसंहरण। परिशिष्ट में छन्द-पाठ, छन्द और गायन, छन्दःशास्त्र की सीमा, छान्दसिक आनन्द और संस्कार तथा छन्द और ताल का संक्षिप्त निरूपण भी किया गया है।

१००. तुलसीदास का दर्शन

[१९५३ ई०]

सन् १९५३ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने श्री रामदत्त भरद्वाज को उनके प्रबन्ध 'तुलसीदास का दर्शन' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। अंग्रेजी में लिखित यह प्रबन्ध 'फ़िलॉसफ़ी ऑव तुलसीदास' दर्शन-विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था। इसका हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित होने जा रहा है।

इस ग्रन्थ में चौदह अध्याय हैं। पहले अध्याय में तुलसीदास की जीवनी और कृतियों पर विचार किया गया है। तुलसीदास की जीवनी और जन्मस्थान के विषय में विविध मतों की परीक्षा करके अनुसंधाता ने यह स्थापना की है कि सोरों (जिला एटा) ही तुलसीदास की जन्मभूमि थी। तत्पश्चात् उनकी पत्नी रत्नावली, उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली दन्तकथाओं, उनकी प्रामाणिक ग्यारह कृतियों आदि पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रमाण-मीमांसा की चर्चा करते हुए यह बतलाया गया है कि तुलसीदास को चार प्रमाण 'प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और अनुभव' मान्य हैं। गुरु की आसता का स्थान विशेष गौरवपूर्ण है।

तीसरे अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है। इस अध्याय के प्रथम भाग में वेदोपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करके तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूपों की विवेचना की गयी है। अन्त में राम में निर्गुण और सगुण का समन्वय बतलाकर राम-नाम की महिमा का उल्लेख किया गया है। चौथे अध्याय में माया का विवेचन है। माया की विशेषताएं, ब्रह्म और माया का सम्बन्ध, शंकर तथा वैष्णव आचार्यों के अनुसार माया आदि की व्याख्या करके तुलसीदास की माया-सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) तथा छठे अध्याय में अवतारवाद का निरूपण है। सातवें अध्याय में देवी-देवता-विषयक सैद्धान्तिक चर्चा करके तुलसीदास के देवता, गन्धर्व, किन्नर, गंगा आदि तथा भूसुर (ब्राह्मण) विषयक विचारों का अनुशीलन किया गया है।

आठवें अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में प्राचीन आचार्यों के जीव-विषयक सिद्धान्तों का उल्लेख करके तुलसीदास के अनुसार जीव के स्वरूप, विविध प्रकार, जन्मान्तर आदि की समीक्षा की गयी है। नवें अध्याय के आरम्भ में भारतीय

दर्शनों में मुक्ति का स्वरूप बतलाया गया है। तत्पश्चात् तुलसीदास के अनुसार मुक्ति के स्वरूप और विधाओं पर विचार किया गया है। दसवें अध्याय में मोक्ष-मार्गों का अध्ययन है। इस अध्याय के तीन भाग हैं। तीनों भागों में पहले भारतीय दर्शन के अनुसार विविध मोक्षोपायों की पृष्ठभूमि बतलायी गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के विषय में तुलसीदास के विचारों का विश्लेषण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में राम-भावना के विकास एवं रामभक्ति तथा नामभक्ति का उपस्थापन है। बारहवें अध्याय में तुलसी के कर्मवाद, पाप और पुण्य की धारणा, वर्णाश्रम धर्म तथा नारीभावना का अध्ययन है। तेरहवें अध्याय में तुलसीदास के मनोविज्ञान-विषयक विचारों की मीमांसा है। प्राचीन दर्शनों की मनोवैज्ञानिक शब्दावली पर विचार करके तुलसीदास के योगदान का निरूपण किया गया है। अन्तिम अध्याय में तुलसीदास के राजनीति-दर्शन का व्यापक अध्ययन है जिसमें राजधर्म, राजनीति, राजधानी, रामराज्य आदि का अनेक दृष्टियों से विवेचन किया गया है।

१०१. हिन्दी साहित्य में जीवनचरित का विकास—एक अध्ययन

[१९५३ ई०]

श्रीमती चन्द्रावतीसिंह को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य में जीवनचरित का विकास—एक अध्ययन' पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५३ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्राक्कथन के अन्तर्गत जीवनी को साहित्य का एक स्वतन्त्र तथा विशिष्ट अंग प्रतिपादित किया गया है। हिन्दी की अपेक्षा संसार की अन्य भाषाओं में जीवनी-साहित्य का विकास पहले हुआ था। हिन्दी में भी साहित्य के जन्म के साथ ही जीवनी-साहित्य का आरम्भ माना गया है। हिन्दी का सम्पूर्ण जीवनी-साहित्य चार कालों में विभाजित किया गया है (१) १००० ई० से १८५० ई० (२) १८५१ ई० से १९०० ई० (३) १९०१ ई० से १९२९ ई० (४) १९३० ई० से वर्तमान समय तक।

पहले अध्याय में जीवन तथा साहित्य में जीवनी-साहित्य का महत्व निरूपित

करते हुए जीवनी-साहित्य, इतिहास, नाटक और उपन्यास में अन्तर स्पष्ट किया गया है। जीवनी-साहित्य के तत्व तथा लक्षण निर्धारित करते हुए उसके विभिन्न रूपों की चर्चा की गयी है। यह सब जीवनी-साहित्य के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

दूसरे अध्याय में १००० ई० से पूर्ववर्ती भारतीय भाषाओं के जीवनी-साहित्य का परिचय एवं विश्लेषण करते हुए उसका मूल्यांकन किया गया है। वेदों से लेकर पुराणों तक का जीवनी-साहित्य इस अध्याय का प्रतिपाद्य है।

तीसरे अध्याय में १००० ई० से १८५० ई० तक रचित हिन्दी-जीवनी-साहित्य का सिंहावलोकन किया गया है। देश की विविध परिस्थितियों का आकलन करते हुए प्रदर्शित किया गया है कि इस युग का जीवनी-साहित्य युगीन परिस्थितियों का वास्तविक प्रतिविम्ब था। मूल्यांकन करते हुए बतलाया गया है कि इस साहित्य में विवेचन और विश्लेषण का, जीवनी-साहित्य की चेतना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, प्रायः अभाव है। हां, आत्मकथा का वैज्ञानिक विकास अवश्य उपलब्ध होता है।

चौथा अध्याय उन्नीसवीं शती का महत्व प्रतिपादित करता है। पाश्चात्य संसार से सम्पर्क का भारत के जीवन के सभी पक्षों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इसी काल में हिन्दी-गद्य का विकास हुआ और अंग्रेज़ी जीवनी-साहित्य के मूल्यवान् भंडार से प्रेरित होकर भारतीयों की प्रवृत्ति जीवनी-साहित्य की ओर हुई। क्रमशः इस ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विकास हुआ।

पांचवें अध्याय में भारतेन्दु-युग और जीवनी-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी युग में हिन्दी-साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। जीवनी-साहित्य में भी प्रगति हुई किन्तु अभी तक वैज्ञानिक रीति पर लिखी हुई जीवनी का अभाव था।

छठे अध्याय में द्विवेदी-युग के जीवनी-साहित्य पर विचार किया गया है। द्विवेदी जी ने इस ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवनी-साहित्य के सृजन का प्रयास किया किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। फिर भी इस युग के जीवनी-साहित्य के अनुशीलन द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि जीवनी-साहित्यकारों के दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता का प्रवेश होने लगा था और लोगों की प्रवृत्ति भी इस ओर होने लगी थी।

सातवें अध्याय में १९३० ई० से आज तक के जीवनी-साहित्य की समीक्षा की गयी है। देश के जीवन के विविध क्षेत्रों में विविध क्रान्तियों का साहित्य-

सृजन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इस युग में उत्कृष्ट जीवनी-साहित्य का सृजन हुआ। देश के महान् व्यक्तियों की आत्मकथा तथा उनकी जीवनियों का प्रशंसनीय भंडार इसी युग में परिपूर्ण हुआ। इसका प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी-जीवनी-साहित्य उन्नतिशील जीवनी-साहित्य की समता करने योग्य हो चला।

आठवें अध्याय में हिन्दी तथा अंग्रेज़ी जीवनी-साहित्य की तुलना की गयी है। हिन्दी-जीवनी-साहित्य के भविष्य के विषय में लेखिका का मत है कि वह उज्ज्वल है किन्तु यह (जीवनी-साहित्य-सृजन) एक बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है।

१०२. तुलसीदास की भाषा

[१९५३ ई०]

श्री देवकीनन्दन श्रीवास्तव का प्रबन्ध 'तुलसीदास की भाषा' सन् १९५३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसी नाम से इसका प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में किया।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश है। लेखक का विचार है कि 'तुलसीदास का भाषा-विषयक दृष्टिकोण वर्षों से चली आती हुई लोकभाषा के व्यवहार की परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है।' तुलसीदास की भाषा-विषयक धारणा पर प्रकाश डालते हुए कबीर से उनके भाषादर्शों की तुलना की गयी है। इस विषय में तुलसीदास को स्वयम्भूदेव और विद्यापति की परम्परा में बतलाया गया है। केशव से उनके आदर्श भिन्न थे। तत्पश्चात् तत्कालीन साहित्यिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में व्याकरणिक विवेचन है। कवि और व्याकरण के बंधनों पर विचार करते हुए अनुसन्धाता ने पर्याप्त विस्तार के साथ संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय, वाक्य-रचना आदि शीर्षकों से तुलसी की भाषा का व्याकरणिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

तृतीय अध्याय 'भाषावैज्ञानिक विश्लेषण' है। इसमें तुलसी द्वारा प्रयुक्त ध्वनिसमूह का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। भाषावैज्ञानिक आधार पर तुलसी की शब्दावली का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, विदेशी भाषाओं के शब्द, प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित प्रयोग, हिन्दी की बोलियों के प्रयोग आदि पर विचार करते हुए आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से तुलसी की भाषा में उपलब्ध प्रणाली की आंशिक उपयोगिता प्रतिपादित की गयी है।

चतुर्थ अध्याय 'कलापक्ष' में पहले तुलसी की कलाविषयक धारणा की विवेचना है। काव्यशास्त्रीय पक्ष के अन्तर्गत शब्दशक्ति, ध्वनि, गुण और रीति, अलंकार और दोष आदि दृष्टियों से तथा सामान्य पक्ष के अन्तर्गत समस्यापूर्ति की कला, काव्यशास्त्रीय विनोद, वाक्यचातुर्य, संवादों की शब्दावली, भाषण, दार्शनिक विवेचन तथा स्तुति की शब्दावली, ध्वन्यर्थ-साम्य, शब्दमर्यादा, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग-कौशल आदि अनेक दृष्टियों से तुलसी की कला की समीक्षा की गयी है।

पंचम अध्याय 'तुलसी की शब्दावली में सामाजिक और सांस्कृतिक संकेत' है। इस अध्याय में तुलसी की भाषा की पृष्ठभूमि और तुलसी द्वारा मान्य सांस्कृतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि का सम्बन्ध निर्दिष्ट किया गया है। इसके अनन्तर तुलसी की लोकसंस्कृति-सम्बन्धी शब्दावली का वर्गीकरण किया गया है।

उपसंहार में भाषा-सम्राट् के नाते तुलसी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन है। तुलसी की भाषा के विषय में किये गये समस्त विवेचन के आधार पर लेखक ने अपने निष्कर्षों का सार दे दिया है और प्रस्तुत अध्ययन की उपयोगिता बतलायी है।

परिशिष्ट में भाषा के आधार पर तुलसी की रचनाओं का वर्गीकरण तथा उनकी जीवनी और कृतियों से सम्बन्धित संकेत प्रस्तुत किये गये हैं।

१०३. मध्यकालीन संत-साहित्य

[१९५३ ई०]

श्री रामखेलावन पांडेय को उनके प्रबन्ध 'मध्यकालीन सन्त-साहित्य' पर सन् १९५३ ई० में पटना विश्वविद्यालय ने डी० लिट० की उपाधि प्रदान की।

पहले अध्याय में सामग्री और आधार की चर्चा की गयी है। मध्यकाल की ऐतिहासिक सामग्री का विवरण देते हुए सन्त-साहित्य के पाठ आदि की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। पद-शैली आदि का भी विवेचन किया गया है। 'आदि-ग्रन्थ' और भाषासंस्कार पर विचार किया गया है। पूर्ववर्ती सन्तों के पारस्परिक सम्बन्ध का निदर्शन किया गया है। सन्तसमाज और सूफी मतवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पूर्वागत धर्मसाधना का परिचय देकर सन्तमत के प्रवर्त्तकों और प्रतिनिधियों के योगदान का उल्लेख करते हुए सन्तमत के अध्येताओं का उनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है, इसकी समीक्षा की गयी है।

दूसरा अध्याय 'समाज और परिस्थिति' है। ऐतिहासिक स्थिति का विशद विवेचन करते हुए विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया गया है कि सामयिक स्थिति ने सामाजिक व्यवस्था को कितना और किस प्रकार प्रभावित किया। धार्मिक स्थिति के अन्तर्गत विभिन्न धर्मसाधनाओं का परिचय देते हुए विविध सम्प्रदायों और मतों का अध्ययन किया गया है, साथ ही सर्वसाधारण की धार्मिक भावना का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

तीसरे अध्याय के अन्तर्गत भौतिक धारणा की चर्चा की गयी है। आधार और दार्शनिक मतवादों का सम्बन्ध-निरूपण किया गया है। नैतिक अनुशासन की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। तत्ववाद और सदाचरण, कर्म की कसौटी आदि पर विचार किया गया है। नैतिकता और सदाचार, गार्हस्थ्य और वैराग्य के विषय में सन्तमत की धारणाओं को स्पष्ट किया गया है। नाथपन्थ और सन्तमत की नैतिक भावना, वैष्णवीय अहिंसा और सन्तमत आदि की तुलनात्मक विवेचना करते हुए सन्तसमाज की धारणा और सन्त के स्वरूप आदि पर विचार किया गया है।

चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य सांस्कृतिक चेतना है। भारत का सांस्कृतिक विकास प्रदर्शित करते हुए उसमें आगत नवीन संस्कारों का अनुशीलन किया

गया है। भारतीय संस्कृति पर मुस्लिम विजय के प्रभाव का भी निदर्शन किया गया है।

पांचवें अध्याय में कवित्व की समीक्षा की गयी है। काव्य और उसके स्वरूप का विवेचन करते हुए राग, बुद्धि और कल्पना का महत्व प्रतिपादित किया गया है। काव्य-परम्परा और सिद्धान्त-निरूपण, कवि और पाठक, विषय का विस्तार और सीमा आदि पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् रस, शैली, भाषा, अलंकारविधान, चित्रमत्ता, छन्दोविधान आदि की दृष्टि से सन्तों के कवित्व की परीक्षा की गयी है।

छठे अध्याय में प्रतीकविधान की विवेचना की गयी है। इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—प्रतीक और प्रतीकवाद, प्रतीक और चिह्न, प्रतीकत्व और व्यंजनाशक्ति, प्रतीक और साध्यवसान रूपक, संरूपक (अलेगरी), अन्योक्ति, प्रतीकोपासना, धार्मिक प्रतीक और सामान्य प्रतीक, प्रतिनिधिक प्रतीक, सामान्य प्रतीक, प्रतीकात्मक रूपक, सांकेतिक शब्द, बीजक, संरूपक—सम्बन्धनात्मक, रूपात्मक और व्यापारात्मक, उलटबांसी, उलटबांसी और दृष्टिकूट, सन्तसाहित्य में उलटबांसी।

सातवां अध्याय 'चिन्ताधारा' है। इसके अन्तर्गत परमतत्व और सृष्टि-तत्व का व्यापक विवेचन किया गया है। जीवन-लक्ष्य मुक्ति और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। आत्म-प्रतीति के सहायक, साधन और अधिकारियों का निर्णय किया गया है। जीव-कोटियाँ, साधन और साधना, भोग आदि की व्यर्थता, प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है। सन्तों के व्यापक मानववाद का उपस्थापन करते हुए अन्य धार्मिक चिन्ता-धाराओं से उनकी तुलना की गयी है। अन्त में लेखक ने सन्तमत के मूल उत्स का विवेचन किया है।

आठवाँ अध्याय 'प्रेमदर्शन' है। प्रेम और रति पर विचार करते हुए प्रेम के स्वरूप, विभिन्न स्थितियाँ, सोपान, प्रेममार्ग की बाधाएँ, अव्यक्त प्रेम, आध्यात्मिक प्रेम, सन्त-प्रेम का आदर्श आदि के विवेचन द्वारा सन्तों के प्रेम-दर्शन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

नवें अध्याय में रहस्य-भावना की ऐतिहासिक भूमिका निर्दिष्ट करते हुए उसकी परिभाषा और स्वरूप आदि का निर्धारण किया गया है। आध्यात्मिक विवाह और मिलन, लोककल्याण, रहस्यवाद और काव्यात्मकता तथा सन्तों की रहस्यात्मक कोटियाँ आदि इस अध्याय के अन्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

दसवाँ अध्याय 'आनन्द का अन्वेषण' है। सुख के विभिन्न रूपों की चर्चा करते हुए मानव के प्रेय और श्रेय पर विचार किया गया है। दार्शनिक मतवादों में आनन्द का निर्देश करते हुए सन्तों की आनन्द-साधना पर विचार किया गया है। आनन्द और मनोनिग्रह की विवेचना करते हुए लेखक ने आनन्द की अनुभूति और उसके स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। प्रबन्ध के दो परिशिष्टों में क्रमशः विशिष्ट पदावली तथा सहायक ग्रन्थों का विवरण है।

१०४. जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास

[१९५३ ई०]

श्री प्रेमशंकर को उनके प्रबन्ध 'जयशंकर प्रसाद के काव्य का विकास' पर सागर विश्वविद्यालय ने सन् १९५३ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। 'प्रसाद का काव्य' शीर्षक से इसका प्रकाशन भारती-भंडार, इलाहाबाद, ने सं० २००२ में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध तेरह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में पृष्ठ-भूमि का विवेचन किया गया है। पहले अध्याय में प्रसाद-काव्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत प्रसाद के साहित्य-प्रवेश की पूर्ववर्ती स्थिति पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रसाद के व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया है। उनके सामाजिक और वैयक्तिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय में 'इन्दु' की प्रगति के साथ ही साथ प्रसाद के काव्य-विकास-क्रम की खोज की गयी है।

तदनन्तर पांच अध्यायों में प्रसाद के काव्य-विकास का विस्तृत अनुशीलन किया गया है। चौथे अध्याय में प्रसाद की उन आरम्भिक कविताओं का अध्ययन किया गया है जो उन्होंने ब्रजभाषा में रची थीं। पांचवें अध्याय में खड़ी-बोली के प्रथम चरण में लिखी गयी कविताओं ('करुणालय', 'महाराणा का महत्व', 'प्रेम-पथिक', 'कानन-कुसुम') पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में 'आंसू' की विस्तृत विवेचना की गयी है। सातवें अध्याय में 'झरना' से लेकर 'लहर' तक प्रसाद की गीत-सृष्टि का परीक्षण किया गया है। आठवें अध्याय में प्रसाद के नाटकों के गीतों की समीक्षा की गयी है।

इसके बाद तीन अध्यायों (९–११) में 'कामायनी' पर विचार किया गया है। नवें अध्याय में 'कामायनी' के ऐतिहासिक आधार (जलप्लावन की कथाओं) और कथा-योजना पर प्रकाश डाला गया है। दसवें अध्याय में 'कामायनी' के चिन्तन का निरूपण किया गया है। ग्यारहवें अध्याय में 'कामायनी' के काव्यत्व की विस्तृत विवेचना की गयी है। इस अध्याय में भाव-निरूपण, वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, चरित्र-चित्रण, रस, भाषा और शैली, महाकाव्यत्व आदि विविध दृष्टिकोणों से 'कामायनी' का परीक्षण किया गया है।

अन्तिम दो अध्यायों में प्रसाद-काव्य का मूल्यांकन किया गया है। बारहवें अध्याय में भारतीय काव्य और प्रसाद पर विचार किया गया है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों, सूर, तुलसी, भारतेन्दु, तथा बंगला के कवियों और हिन्दी के पन्त और महादेवी आदि आधुनिक कवियों से प्रसाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए अनुसंधाता ने उन्हें कालिदास के समान रससिद्ध कवि माना है। तेरहवें अध्याय में प्रसाद की तुलना होमर, वर्जिल, दान्ते, स्पेन्सर, शेक्सपियर, मिल्टन, वर्डस्वर्थ, कोलरिज, बायरन, शेली, गेटे और पुश्किन आदि पाश्चात्य कवियों से करते हुए शेली, गेटे और पुश्किन से उनका साम्य प्रतिपादित किया गया है। परिशिष्टों में प्रसाद-काव्य की मूल चेतना, उपसंहार तथा प्रसाद-पुस्तकालय आदि का विवरण है।

१०५. दखिनी के सूफी लेखक

[१९५४ ई०]

श्री विमला वाघ्रे को उनके प्रबन्ध 'दखिनी के सूफी लेखक' पर सन् १९५४ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के विकास को जानने के लिए दखिनी हिन्दी के लेखकों का अध्ययन किया गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध की सामग्री छः अध्यायों में संकलित है। प्रथम अध्याय में दक्षिण भारत, दक्षिण की विभिन्न भाषाएं, दखिनी भाषा (ऐतिहासिक तथ्य), अपभ्रंश और क्षेत्रीय

बोलियां, पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी, द्राविड़ भाषाएं, दक्षिण में अपभ्रंशकालीन हिन्दी, दखिनी-साहित्य का क्षेत्र, दखिनी का सौष्ठव और सूफी साहित्य तथा विविध साहित्य—इन विषयों पर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सूफीवाद का अध्ययन करते हुए उसकी साम्प्रदायिक और नामकरण-विषयक विशिष्टताओं का उल्लेख है। साथ ही सूफ़ीमत का साम्प्रदायिक और सैद्धान्तिक रूप में भारत-आगमन एवं उसकी चार प्रसिद्ध शाखाओं का इतिहास और दखिनी पर उसके प्रभाव की विस्तृत चर्चा भी इस अध्याय में हुई है।

तृतीय अध्याय में कुतुबशाही काल तथा आदिकालीन मुख्य दखिनी लेखकों की रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है जिसमें ख्वाजा बंदेनवाज, शाहगीरांजी शमसुलशाख और शाहअली मुहम्मद गांवधनी प्रमुख हैं। गौण कवियों में सैयद मुहम्मद अकबर हुसैनी, अब्दुल्ला, राजी व बाबा शाह हुसैनी का परिचयात्मक अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में मध्यकालीन दखिनी-लेखकों में प्रमुख बुरहानुद्दीन जानम मुहम्मद कुली कुतुब शाह, मुल्ला गवासी, मुल्ला वजही आदि की काव्यपरंपरा, विशिष्टता तथा रचनाकाल का परिचय दिया गया है। गौण लेखकों में मीरांजी हसन खुदानामा मीरां याकूब, हजरत नूर दरया, शाहमन अर्फ़, गुलामअली, आविन्द शाह और इशरवी का परिचय देते हुए उनकी रचनाओं का अध्ययन किया गया है।

पांचवें अध्याय में परवर्ती मुख्य लेखक शाह अमीनुद्दीन आला शेखवजीह-उद्दीन वजदी व काजी मुहम्मद बहरी का परिचय देते हुए उनके काव्य-विषय की प्रतिपाद्य विशिष्टताओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। गौण लेखकों में अबुल हसन खरबी, सैयद मीरा हुसैनी, मौलवी मुहम्मद इसहाक बीजापुरी, मरखूम अलीशाह औरंगाबादी व मुजरमी का परिचय देते हुए उनकी वंश-परम्परा, रचना-काल तथा रचना-वैशिष्ट्य पर विचार किया गया है।

छठे अध्याय में दखिनी सूफ़ी लेखकों की सूफ़ी विचारधारा, गुरु की महत्ता, ईश्वर में विश्वास, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् समझना, साधना के मार्ग लौकिक और अलौकिक प्रेम, पांच तत्व तथा ईश्वर में मानव का विलय और महामिलन जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर व्याख्यात्मक शैली में विचार हुआ है।

परिशिष्ट भाग में सूफ़ी लेखकों की सूची भी दे दी गयी है।

१०६. हिन्दी-गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन

[१९५४ ई०]

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का प्रबन्ध 'हिन्दी-गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन' सन् १९५४ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध १९५८ ई० में राजकमल प्रकाशकन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, से 'हिन्दी-गद्यकाव्य' के नाम से प्रकाशित हुआ।

यह ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में गद्यकाव्य की परिभाषा का निरूपण है। अध्याय के आरम्भ में संस्कृत और हिन्दी में गद्य-काव्य के स्वरूप का संक्षिप्त उल्लेख है। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, बृन्दावनलाल वर्मा, सद्गुरु शरण अवस्थी, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों के गद्यकाव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में प्रकट किये गये विचारों का उल्लेख है। वेद, उपनिषद्, बौद्ध-जैन-साहित्य आदि में गद्यकाव्य के विकास का विहंगावलोकन करके आधुनिक काल के पूर्व हिन्दी-गद्यकाव्य के अभाव के कारणों पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् आधुनिक काल में गद्य-काव्य के विकास के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक कारणों पर विचार करके यह बतलाया गया है कि गद्यकाव्य का विकास हिन्दी की ही विशेषता है। अध्याय के अन्त में गद्य की अन्य विधाओं से गद्यकाव्य का भेद बतलाकर संक्षेप में उसकी विशेषताएं निरूपित की गयी हैं। द्वितीय अध्याय में हिन्दी-गद्यकाव्य के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन है। लेखक की मान्यता है कि गद्यकाव्य हिन्दी की अपनी वस्तु है, यह दूसरी बात है कि उस पर बंगला आदि का भी प्रभाव पड़ा है।

तृतीय अध्याय में गद्यकाव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत विभाजन प्रस्तुत किया गया है। गद्यकाव्य के पांच मुख्य विषय-विभाग किये गये हैं। प्रेमात्मक, राष्ट्रीय-भावना-समन्वित, ऐतिहासिक, प्रकृतिसौन्दर्यमूलक और स्फुट। प्रेमात्मक विषयों के अन्तर्गत लौकिक एवं आध्यात्मिक (रहस्योन्मुख तथा भक्तिपरक) प्रेमपरक विषयों की विवेचना है। स्फुट विषयों के अन्तर्गत मनोवृत्तिप्रधान, व्यक्तिप्रधान, तथ्यप्रधान और सूक्तिप्रधान विषय समाविष्ट हैं। उपर्युक्त वर्गों के

अन्तर्गत हिन्दी-गद्यकाव्य के प्रतिपाद्य विषयों का अनुशीलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में भाषा, अलंकार, रस और भावाभिव्यंजन-शैली की दृष्टि से हिंदी-गद्यकाव्य का अध्ययन किया गया है। अध्याय के आरम्भ में भाषा-शैली के विविध प्रकार शब्दसंगठन और प्रवाह की समीक्षा है। उसके बाद गद्यकाव्य में अलंकारविधान पर विचार किया गया है। गद्यकाव्य में अभिव्यक्त विभिन्न रसों और भावों का विवेचन है। अध्याय के अंतिम भाग में रूपविधान की दृष्टि से हिन्दी-गद्यकाव्य की प्रधान शैलियों (गीतशैली, कथाशैली, वर्णनशैली, स्वगत-शैली, संवादशैली और सूक्तिशैली) की समालोचना है। पंचम अध्याय का शीर्षक है 'गद्य काव्य और मनोविज्ञान'। इसमें विविध प्रकार की मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से हिन्दी-गद्यकाव्य का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट किया गया है। षष्ठ अध्याय में हिन्दी-गद्यकाव्य में व्यक्त दार्शनिक विचारों का सिंहावलोकन किया गया है। सप्तम अध्याय में हिन्दी-गद्यकाव्य के महत्वपूर्ण योगदान और उसके असाधारण गौरव का मूल्यांकन है।

परिशिष्ट में दिये गये गद्यकाव्य-लेखकों के परिचय, विद्वानों के पत्रों तथा गद्यकाव्य-कृतियों की क्रमानुसार सूची ने ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ा दी है।

१०७. मध्यपहाड़ी भाषा और उसका हिन्दी से सम्बन्ध—एक आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५४ ई०]

श्री गुणानन्द जुयाल को आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५४ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। उनके अनुसन्धान-कार्य का विषय था 'मध्यपहाड़ी भाषा और उसका हिन्दी से सम्बन्ध—एक आलोचनात्मक अध्ययन'। प्रस्तुत प्रबन्ध में उसका शीर्षक इस प्रकार दिया गया है 'मध्य-पहाड़ी भाषा ('गढ़वाली कुमाउंनी') का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध'। उनका यह शोध-प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

यह प्रबन्ध दस अध्यायों में विभाजित है। ग्रंथ के आरम्भ में सबसे पहले एक मानचित्र दिया हुआ है जिसमें मध्यपहाड़ी बोलियों तथा उनकी उपबोलियों की सीमा दिखायी गयी है। पहले अध्याय में प्रस्तावना है जिसमें मध्यपहाड़ी

भाषा के नामकरण, उसकी बोलियों, उसके क्षेत्र, तथा उसके विकास का ऐतिहासिक परिचय है। दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य ध्वनि-विचार है। इस अध्याय में मध्यपहाड़ी भाषा के मूल स्वरों, अनुस्वार और अनुनासिक, संयुक्त स्वर तथा स्वर-सान्निध्य, व्यंजनों और स्वराघात का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन किया गया है।

तीसरे अध्याय में शब्द का विवेचन है। शब्द के सामान्य रूप, शब्दसमूह और अर्थ-भिन्नता की दृष्टि से मध्यपहाड़ी भाषा का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में संज्ञाओं, लिंग, वचन और कारक पर विचार किया गया है। पांचवें अध्याय में मध्यपहाड़ी भाषा के विशेषणों का अध्ययन है। छठे अध्याय में सर्वनाम-रूपों और सातवें अध्याय में क्रिया-रूपों की विवेचना की गयी है। आठवें अध्याय में अव्यय ('क्रियाविशेषण और समुच्चयबोधक') का अध्ययन किया गया है। नवें अध्याय में पहले पदक्रम का और तत्पश्चात् वाक्यविन्यास का अनुशीलन किया गया है। अन्तिम अध्याय में मध्यपहाड़ी बोलियों के साहित्य का निरूपण किया गया है।

१०८. घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा

[१९५४ ई०]

श्री मनोहरलाल गौड़ को उनके प्रबन्ध 'घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्यधारा' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५४ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। 'घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा' के नाम से इस ग्रन्थ का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ने सन् १९५४ ई० में किया। मूल प्रबन्ध के परिशिष्ट में दिया गया रसखान, आलम, बोधा और ठाकुर सम्बन्धी विवरण प्रकाशित ग्रंथ में नहीं है। आशा है कि वह परिवर्धित रूप में अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में घनानन्द के जीवनवृत्त का निरूपण है। आनन्दघन, नन्दगांव के घनानन्द, जैन कवि आनन्दघन आदि पर विचार करते हुए घनानन्द का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में घनानन्द की रचनाओं का अनुशीलन किया गया है।

पहले उनके प्रकाशन का इतिहास तथा विवरण दिया गया है, तत्पश्चात् प्रतिपाद्य विषय की विवेचना की गयी है। कर्तृत्व तथा शीर्षकी परीक्षा करके रचनाओं के पारस्परिक साम्य का निदर्शन किया गया है।

तीसरे अध्याय में उनकी भाषा की समीक्षा की गयी है। कवि के मुहावरों के प्रयोग तथा लाक्षणिक प्रयोगों का अध्ययन किया गया है औप उसकी व्याकरण-व्यवस्था पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में घनानन्द की शैली की चर्चा करते हुए उनकी भाषाशैली, छन्दोविधान तथा अलंकार-प्रयोग का विस्तृत निरूपण किया गया है। पांचवां अध्याय 'रस और भाव' है। इसमें शृंगार रस की प्राचीन परम्परा और प्रधानता का निदर्शन किया गया है। घनानंद के प्रकृति-वर्णन की विवेचना की गयी है। भाव और उसकी अन्तर्दशाओं पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में 'प्रेम' शब्द की निरुक्ति के विषय में विभिन्न आचार्यो के मतों का उपस्थापन करते हुए वासना, काम, इश्क आदि से उसका भेद निरूपित किया गया है। प्रेम के स्वरूप का निर्धारण करते हुए रीतिकालीन प्रकृत प्रेम और घनानन्द के प्रेम के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

सातवें अध्याय 'दर्शन और सम्प्रदाय' में निम्बार्क और घनानन्द पर विचार किया गया है। आठवें अध्याय का प्रतिपाद्य रीतिकाल की स्वच्छन्द धारा है। पहले हिन्दी-साहित्य में स्वच्छन्द आदि प्रवृत्तियों का चिन्तन किया गया है, तत्पचात् क्लासिकल तथा रोमान्टिक मार्गों के लक्षण बतलाये गये हैं। तदनन्तर प्रस्तुत स्वच्छन्द धारा की विशेषताओं का निदर्शन करके काव्यप्रवृत्ति का अनुशीलन किया गया है। नवें अध्याय 'भक्तिरस' में भक्ति की आवश्यकता, श्रेष्ठता, स्वरूप, गुण, लक्षण, भेद आदि का विभिन्न आचार्यो के मतों के प्रकाश में विवेचन किया गया है। घनानंद की शान्त, दास्य, वातसल्य, सख्य और माधुर्य भक्ति की समीक्षा करते हुए कवि के भक्ति-दर्शन को स्पष्ट किया गया है।

दसवें अध्याय में अनुसंधाता ने घनानंद की अन्य अनेक कवियों (भारतेन्दु, रत्नाकर, देव, बिहारी आदि) से तुलना की है और हिन्दी-साहित्य में घनानंद का स्थान निर्धारित किया है।

अप्रकाशित प्रवन्ध के परिशिष्ट में रसखान, आलम, बोधा और ठाकुर के जीवनवृत्त दिये गये हैं तथा प्रेमभावना और काव्यधारा पर विचार किया गया है।

१०६. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन
[१६५४ ई०]

श्री ब्रह्मदत्त शर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन' सन् १६५४ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसका प्रकाशन सन् १६५८ ई० में सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, से हुआ।

यह प्रबन्ध छः प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में साहित्य के स्वरूप, साहित्य के अंग, कहानी की स्वरूप-व्याख्या, साहित्य के अंगों में कहानी की स्वरूप-स्थिति, रचना के कतिपय रूपों—गीतिकाव्य, उपन्यास, काव्यात्मक गद्य, नाटकीय दृश्य, निबन्ध, कथा, पुराण तथा इतिहास, खंड-कथा, परिकथा, कथानिका, गल्प और अंग्रेजी स्टोरी—से कहानी के रूप-साम्य तथा स्वरूप-विकास के आधार पर कहानियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय के अन्त में कहानी के तत्वों (कथावस्तु, पात्र, संवाद, उद्देश्य, वातावरण, शीर्षक, आरम्भ और अन्त तथा भाषाशैली) की विवेचना है। दूसरे प्रकरण में प्राचीन और मध्यकालीन कथा-साहित्य एवं बंगला कहानी-साहित्य के इतिहास तथा स्वरूप-विकास का अध्ययन है। तीसरे प्रकरण में निर्माण-काल (१८००-१६०० ई०) की कहानियों का अध्ययन है। हिन्दी के प्रथम कहानीकार इंशाअल्लाखां, लल्लूलाल, सदल मिश्र, राजा शिव प्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गौरीदत्त शर्मा आदि की कहानियों के विषय, प्रतिपादन-शैली तथा स्वरूप-विकास-संबंधी विशेषताओं और उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों की समीक्षा की गयी है।

चौथे प्रकरण में प्रयोगकाल (१६००-१६१० ई०) की कहानियों का अध्ययन है। आरम्भ में अंग्रेज़ी, संस्कृत और बंगला से अनूदित कहानियों के विषय, प्रतिपादन-शैली तथा स्वरूप-विकास-सम्बन्धी विशेषताओं की विवेचना है। तत्पश्चात् मौलिक कहानियों का वर्गीकरण (प्रेम तथा मनोरंजन प्रधान, पौराणिक तथा ऐतिहासिक, जासूसी तथा साहसप्रधान, सामाजिक और उपदेशात्मक) प्रस्तुत करके विषय, शैली और स्वरूप-विकास की दृष्टि से उनका अनुशीलन किया गया है। पांचवें प्रकरण में विकासकाल (प्रसाद-प्रेमचन्द-युग—१६११-१६३० ई०) की कहानियों का निम्नांकित नौ विभागों के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है—विकासकाल की कहानियों का प्रारम्भ तथा उनका वर्गीकरण, भावमूलक आदर्शवादी परम्परा की कहानियां और उनके कहानी-

कार, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी परम्परा की कहानियां, हास्यप्रधान कहानियां, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी वातावरण-प्रधान कहानियां, यथार्थवादी कहानियां, प्रतीकात्मक कहानियां, प्राकृतवादी कहानियां और विकासकाल में हिन्दी-कहानी का विकास ।

छठे प्रकरण में उत्कर्ष-काल (१६३०-१६४७ ई०) की कहानियों और कहानीकारों का अध्ययन है । आरम्भ में इस काल की कहानियों का विकास दिखलाकर उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है । तत्पश्चात् विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक कहानियों, पूर्वपरम्परा की कहानियों, समाजवादी यथार्थवाद की कहानियों, कामवासना का नग्न चित्रण करने वाली कहानियों, कल्पना और भावुकताप्रधान कहानियों, भारतीय गृहस्थ और पारिवारिक जीवन की कहानियों, हास्यरस की कहानियों, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक विकास की कहानियों, वैज्ञानिक कहानियों, शिकारी जीवन की कहानियों एवं अनूदित कहानियों का विवेचन है । हिन्दी-कहानियों पर पश्चिमी कहानीकला के प्रभाव का आकलन, उत्कर्ष-काल में हिन्दी-कहानी के विकास का निदर्शन और अन्त में हिन्दी-कहानी के भविष्य का संकेत है ।

११०. हिन्दी में पशुचारण-काव्य

[१६५४ ई०]

श्री दयाशंकर शर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी में पशुचारण काव्य' सन् १६५४ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ । यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभाजित किया गया है । पहले अध्याय में पशुचारण और काव्य में उसके महत्व का प्रतिपादन है । दूसरे अध्याय में भारतवर्ष में पशुचारण-प्रवृत्ति का प्रारंभिक विकास दिखलाया गया है । तीसरे अध्याय में संस्कृत के पशुचारण-काव्य की समीक्षा है । चौथे अध्याय में प्राकृत और अपभ्रंश के पशुचारण काव्य का सिंहावलोकन है । पांचवें अध्याय में प्रारम्भिक हिन्दी-कविता में पशुचारणतत्व का निरूपण है । छठे अध्याय में अष्टछाप के कवियों की कविता में पशुचारणतत्व की विवेचना है । सातवें

अध्याय में 'रीतिकालीन काव्य में पशुचारण-प्रवृत्ति' का अध्ययन है। आठवें अध्याय में लोकगीतों में पशुचारण-प्रवृत्ति के अभाव पर विचार किया गया है। नवें अध्याय में आधुनिक काव्य में पशुचारण-प्रवृत्ति की जो झलक पायी जाती है उसका पर्यालोचन है। दसवें अध्याय में पशुचारण-प्रवृत्ति के ह्रास और यांत्रिक सभ्यता के विकास की चर्चा है।

१११. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत

[१९५४ ई०]

श्री श्यामसुन्दर लाल दीक्षित को, सन् १९५४ ई० में, आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके अनुसन्धान का विषय था 'कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत'। यह प्रबन्ध सन् १९५८ ई० में विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा से प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त हुआ है। पहले अध्याय में वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी-काव्य तक कृष्ण-भावना के विकास का अध्ययन किया गया है। दूसरे अध्याय में राधा-भावना के उदय और विकास का विवेचन है। तीसरे अध्याय में गोपी-भावना के विकास का अध्ययन है। चौथे अध्याय में गोकुल और मथुरा की ऐतिहासिकता का निरूपण है। पांचवें अध्याय में कुब्जा की कल्पना, उद्धव तथा भक्ति की श्रेष्ठता पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में गीतिकाव्य और कृष्णकाव्य का अध्ययन है। सातवें अध्याय में ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य के आरम्भ और विकास तथा भ्रमरगीत के विकास का अनुशीलन है। आठवें अध्याय में नन्ददास के भ्रमरगीत की समीक्षा है। नवें अध्याय में अनु-संधाता ने कुम्भनदास से लेकर स्वरचित भ्रमरगीत तक भ्रमरगीत की परिपाटी का अनुसंधान किया है। दसवें अध्याय में सूरदास आदि के भ्रमरगीत में किये गये कृष्ण, राधा आदि के वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अन्त में भ्रमरगीत की विशेषताओं का पर्यालोचन है।

११२. सूरदास के (कूट-पदों के विशिष्ट सन्दर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन

[१९५४ ई०]

श्री रामधन शर्मा का प्रबन्ध 'सूरदास के (कूट-पदों के विशिष्ट सन्दर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन' सन् १९५४ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'कूट' के अर्थ, इतिहास और काव्यात्मक प्रयोग पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं—कूट-काव्य की परिकल्पना, कूट के लक्षण, स्वतःसिद्ध और कलात्मक कूट, कूट-काव्य में रस और अलंकार तथा कूट-काव्य का प्रयोजन। तीसरे अध्याय में वैदिक साहित्य से लेकर सूरदास तक कूट-काव्य की परम्परा का अनुसन्धान किया गया है। लेखक ने बतलाया है कि पालि-प्राकृत-साहित्य में कूट-काव्य का अभाव है। सिद्धों, नाथपंथी योगियों, चन्दवरदायी, निर्गुण सन्तों की उलट-बांसियों, विद्यापति आदि में कूट-काव्य का प्रयोग हुआ है।

चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायों में सूरदास के कूट-काव्य का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में सूरदास के दृष्टकूट-पदों का सर्वेक्षण करके 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' के कूट-पदों की विस्तृत विवेचना की गयी है। पांचवें अध्याय में विविध प्रसंगों में प्रयुक्त कूट-पदों के प्रतिपाद्य विषयों—विनय, वात्सल्य, शृंगार, माधुर्य, भक्ति, दानलीला, रूपासक्ति, नखशिख-वर्णन, सुरति, युगलरूप, मान, मनुहार, विरहासक्ति आदि का अनुशीलन किया गया है। छठे अध्याय में सूर के दृष्टकूट पदों की काव्यकला की आलोचना की गयी है। राधा-कृष्ण के चरित्र-चित्रण, भक्ति, वात्सल्य और शृंगार रस, सूर की सौन्दर्य-चेतना एवं कल्पना-प्रवणता, चिन्मय तथा मृण्मय प्रकृति का सौंदर्यांकन, अलंकार-विधान, उपस्थापन-शैली, भाषा, कूट-काव्य के प्रेरक तत्वों आदि की मीमांसा की गयी है। ग्रन्थ के पाँच परिशिष्टों में सूरदास के कूट पदों का व्यवस्थित संग्रह है।

११३. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि

[१९५४ ई०]

श्री० सरला शुक्ल को उनके प्रबन्ध 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि' पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५४ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध का प्रकाशन लखनऊ विश्वविद्यालय ने 'जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य' के नाम से संवत् २०१३ में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सूफ़ीमत के आविर्भाव एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है। सूफ़ी सम्प्रदाय के उद्भव-सम्बन्धी विभिन्न विचारों की परीक्षा करते हुए लेखिका ने 'सूफ़ी' शब्द की व्युत्पत्ति एवं मान्य अर्थ पर विचार किया है। भारत में इस्लाम तथा सूफ़ी मत की चर्चा करते हुए चिश्तिया, सुहरावर्दिया, क़ादिरिया, नक्शबंदिया आदि प्रमुख सूफ़ी सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। दूसरा अध्याय 'सूफ़ी दर्शन' है। परम तत्व और उसका स्वरूप, सृष्टितत्व, मुहम्मदीय आलोक, इन्सानुलकामिल, परम सत्ता और इन्सान, माया तथा जीवन और लक्ष्य आदि विषयों का विस्तार से विवेचन करते हुए अनुसन्धात्री ने सूफ़ी दर्शन को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। तीसरा अध्याय सूफ़ी साधना है। साधना की अवस्थाओं का निदर्शन करते हुए सूफ़ी साधना-पद्धति और उस पर भारतीय प्रभाव का अनुशीलन किया गया है, साथ ही सूफ़ी साधना में प्रेम के योग पर भी विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में सूफ़ी साहित्य के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गयी है। भारतीय सूफ़ी साहित्य, हिन्दी के सूफ़ी प्रेमाख्यान और हिन्दी के मुक्तक सूफ़ी काव्य का भी विवेचन किया गया है। पांचवें अध्याय में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक स्थिति का निदर्शन करते हुए सूफ़ी काव्य की पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है, साथ ही सूफ़ियों की समन्वयवादिता पर भी विचार किया गया है।

छठे अध्याय में सूफ़ियों की लोकदृष्टि का विवेचन किया गया है। गार्हस्थ एवं पारिवारिक जीवन, विभिन्न जातियों, आर्थिक स्थिति तथा विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों आदि अनेक तत्वों की सूफ़ी काव्य में अभिव्यक्ति दिखलाकर सिद्ध किया गया है कि इन कवियों की लोकदृष्टि व्यापक थी।

सातवें अध्याय में सूफ़ियों की प्रबन्ध-कल्पना और आठवें में उनकी प्रतीक-योजना का पर्यालोचन किया गया है। नवें अध्याय में रस, छन्द और अलंकारों का निरूपण किया गया है। दसवें अध्याय में भाषा-शैली की समीक्षा की गयी है, मसनवी पद्धति की विशेषताएं भी बतायी गयी हैं।

ग्यारहवें अध्याय में सूफ़ी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन और सूफ़ी प्रेम-कथाओं की प्रमुख विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। बारहवें अध्याय में सूफ़ियों की बहुज्ञता पर विचार किया गया है। तेरहवें अध्याय में सूफ़ियों के स्फुट साहित्य का परिचय देते हुए उसका वर्गीकरण भी किया गया है। चौदहवें अध्याय में सूफ़ी कवियों की देन का मूल्यांकन किया गया है। पंद्रहवें अध्याय में प्रमुख कवियों और काव्यों का परिशीलन है।

११४. सन्त कवि रैदास और उनका पंथ—एक अध्ययन

[१९५४ ई०]

श्री भगवद्व्रत मिश्र को उनके प्रबन्ध 'सन्त कवि रैदास और उनका पंथ' पर सन् १९५४ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद में चमार जाति तथा रैदास जी से सम्बद्ध सामग्री का विवरण दिया गया है। यह सामग्री प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य, जन-श्रुतियों, रैदास से सम्बन्धित स्थानों तथा आधुनिक साहित्य के रूप में पायी जाती है।

दूसरे परिच्छेद में चमार जाति तथा रैदासी पन्थ का विवेचन है। 'चमार' शब्द की व्युत्पत्ति, चमार जाति की प्राचीनता, उत्पत्ति, विस्तार तथा उपजातियां, सामाजिक जीवन, धार्मिक जीवन, भूत-प्रेत में विश्वास, देवी-देवताओं में विश्वास, जाति पर अन्य पन्थों का प्रभाव, रैदास-पंथ का प्रभाव, रैदास-पन्थ का वर्तमान केन्द्र, पन्थ के प्रमुख धाम, गद्दियों तथा महन्तों के नाम व पते, रैदासी सम्प्रदाय के पर्व और त्यौहार, संस्कार (सम्प्रदाय में प्रवेश), गद्दियों की दिनचर्या तथा विशेष नियम, पंथ की गद्दियों के कुछ सांकेतिक शब्द आदि शीर्षकों

से चमार जाति तथा रैदास-पन्थ की अनेक महत्वपूर्ण बातों का विवेचन किया गया है।

तीसरे परिच्छेद में रैदास के जीवन तथा उनके युग का परिचय दिया गया है। रैदास जी के समय की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों का आकलन किया गया है। तदनन्तर रैदास जी के नाम, जीवन-काल, जन्म-स्थान, जाति और गोत्र, माता-पिता, परिवार, गुरु, शिक्षा, यात्राएं, आर्थिक जीवन, व्यवसाय तथा स्वभाव, चमत्कार, समकालीन (झाली रानी, कबीर, मीरां) तथा मृत्यु-स्थान के विषय में गवेषणापूर्ण जानकारी प्रस्तुत की गयी है।

चौथे परिच्छेद में रैदास जी की रचनाओं का अनुशीलन किया गया है। 'रैदासवाणी' के छपे हुए संकलनों की चर्चा करते हुए रैदास जी की रचनाओं की प्रामाणिकता की परीक्षा की गयी है। तत्पश्चात् रैदासवाणी के हस्तलिखित संकलनों का विवरण देते हुए लेखक ने उन हस्तलिखित ग्रन्थों की साक्षरी (ऑर्थोग्राफ़ी) भी दे दी है। पांचवां परिच्छेद है 'रैदास जी के आध्यात्मिक सिद्धांत'। इसमें ब्रह्म, जीव, ब्रह्म और जीव में अन्तर, कर्मबन्ध, स्वर्ग, नरक, माया, संसार, गुरु तथा मुक्ति आदि विषयों पर रैदास जी के विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी परिच्छेद में रैदास जी के सामाजिक सिद्धान्तों का भी विवेचन किया गया है। जाति-पांति तथा बाह्याडम्बर आदि के प्रति रैदास जी के विचारों की चर्चा की गयी है। इस विवेचना को अधिक पूर्ण बनाने के लिए लेखक ने मन की चंचलता, चेतावनी आदि अन्य रैदासी विचारों का भी प्रतिपादन किया है।

छठे परिच्छेद में रैदास जी की अष्टाङ्ग आध्यात्मिक साधना पर विचार किया गया है। गृह, सेवा (सत्संग), सन्त, नाम, ध्यान, प्रणति (भक्ति), प्रेम, विलय अथवा समाधि तथा साधक शीर्षकों से रैदास जी की अष्टाङ्ग आध्यात्मिक साधना का परिचय दिया गया है। सातवें परिच्छेद में रैदास जी की वाणी का साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है। वर्ण्य विषय, भावप्रकाशन तथा रसपरिपाक, कल्पना का उत्कर्ष, कथावस्तु और चरित्रचित्रण, रचनाशैली, छन्दों का प्रयोग तथा पदों की भाषा का अनुशीलन किया गया है। परिशिष्ट में रैदास के पदों का मूल पाठ तथा 'प्रह्लादलीला' का पाठ दे दिया गया है।

११५. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद
[१९५४ ई०]

श्री० चन्द्रकला का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद' सन् १९५४ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इस प्रबन्ध में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा के काव्य में प्रतीकवाद का अध्ययन किया गया है।

यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। 'परिचय' नामक प्रथम अध्याय में 'प्रतीक' के व्युत्पत्यर्थ, परिभाषा, व्यावहारिक जीवन में उसकी उपयोगिता, अलंकार आदि से सम्बन्ध, प्रतीक के वर्गीकरण, प्रतिष्ठा आदि का अध्ययन किया गया है। द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है—पूर्व, मध्यपूर्व और पश्चिम में प्रतीकवाद। इस अध्याय में वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन, प्राकृत-साहित्य, संस्कृत-साहित्य, जैन-साहित्य, सूफ़ी-साहित्य, योरपीय साहित्य, हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य आदि में अभिव्यक्त प्रतीक-भावना की विवेचना की गयी है। तृतीय अध्याय का शीर्षक है 'आधुनिक हिन्दी गद्य में प्रतीकवाद'। इसमें योरप, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और संक्रान्ति काल की परिस्थितियों का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव बतलाकर हिन्दी-गद्य में प्रतीकवाद के ग्रहण, शैली-परिष्कार तथा प्रतीकवाद के मुख्य स्तम्भों का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में जयशंकर प्रसाद का अध्ययन है। आरम्भ में उनके संस्कार, प्रकृति, सर्वतोमुखी प्रतिभा आदि का परिचय देकर उनकी रचनाओं तथा उनमें प्रयुक्त परम्परागत एवं मौलिक प्रतीकों और सांकेतिकता की समीक्षा है। पंचम अध्याय में सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य के विविध पक्षों का उद्घाटन करते हुए उनके प्रतीक-प्रयोगों की आलोचना की गयी है। षष्ठ अध्याय में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के महान् व्यक्तित्व, एकान्त साधना, मौलिकता, संस्कार, भावुकता, कल्पनाशीलता आदि का निदर्शन करके उनके काव्य की अन्य विशेषताओं के साथ प्रतीकात्मकता का भी अनुशीलन किया गया है। सप्तम अध्याय में महादेवी वर्मा के काव्य की पृष्ठभूमि और विकास का निरूपण करके उनकी काव्यशैली प्रतीक-व्यंजना का अनुशीलन किया गया है। अनुसन्धात्री की मान्यता है कि महादेवी प्रतीकवाद की प्रतिनिधि हैं। 'उपसंहार' नामक अन्तिम अध्याय

में प्रतीकवाद के आधार की व्याख्या करके उसके क्रमिक ह्रास पर प्रकाश डाला गया है।

११६. हिन्दी-गद्य का विकास (१८००-५६ ई०)

[१९५४ ई०]

कु० शारदा वेदालंकार को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-गद्य का विकास (सन् १८०० से १८५६ ई०)' पर लन्दन विश्वविद्यालय से सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

११७. हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवियों (१६वीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५५ ई०]

श्री० रत्नकुमारी को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवियों (१६वीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन' पर प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९५५ ई० में डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई। '१६वीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि (तुलनात्मक अध्ययन)' शीर्षक से इसका प्रकाशन भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, ने सन् १९५६ ई० में किया।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में वैष्णव साहित्य की अनुप्रेरक सोलहवीं शती की पृष्ठभूमि का अनुशीलन है। इस अध्याय में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में सोलहवीं शती के कवियों और लेखकों का परिचय है। इसमें एक सौ आठ बंगाली और छिहत्तर हिन्दी के साहित्यकारों की जीवनी तथा कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तीसरे अध्याय 'सोलहवीं शती के वैष्णव साहित्य की अनुक्रमणिका' में सोलहवीं शती में रचित साहित्य को

(दर्शन और सिद्धान्त, काव्य, नाटक, पदावली, जीवनी, भाष्य-टीका, अनुवादादि) विविध वर्गों में विभक्त करके प्रत्येक विभाग की प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

चौथे अध्याय में दोनों साहित्यों में उपलब्ध आध्यात्मिक विचारों की तुलना है। इस प्रसंग के महत्वपूर्ण विषय इस प्रकार हैं:—तर्क, श्रद्धा और शब्दप्रमाण, इष्टदेव, अवतारों के कारण, जीव, माया, भक्तिभावना, भक्तिरस आदि। पांचवें अध्याय में हिन्दी और बंगाली कवियों की पदावली का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पहले वर्ण्य विषय का विवेचन किया गया है। इस वर्ण्य विषय की समानता और विभिन्नता पर भी दृष्टिपात किया गया है। तदुपरान्त कृष्ण-राम और चैतन्य-वल्लभ-विट्ठल-सम्बन्धी विनय के पदों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। गुरु-वन्दना-सम्बन्धी पदों तथा भगवल्लीला-विषयक पदों का भी तुलनात्मक विवेचन विविध दृष्टियों से किया गया है।

छठे अध्याय में चरित-साहित्य में ऐतिहासिक उपादानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखिका का मत है कि हिन्दी की अपेक्षा बंगाली साहित्य में जीवनी-साहित्य अधिक है। इस क्रम में, साहित्य में उपलब्ध महत्व-पूर्ण व्यक्तियों, घटनाओं तथा तिथियों का ऐतिहासिक सन्धान किया गया है। सातवें अध्याय में हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवियों की भाषा का तुलनात्मक विवेचन है। इन साहित्यों में प्रयुक्त भाषाओं तथा उनके पारस्परिक प्रभाव का अनुशीलन किया गया है। गौड़ीय वैष्णव पदावली में हिन्दी के शब्दों तथा वाक्य-विन्यास का परिशीलन करते हुए मिश्रित भाषा ब्रजबुलि के व्याकरण तथा अवधी और ब्रजभाषा के व्याकरणों की संक्षिप्त तुलना की गयी है। लेखिका ने बतलाया है कि ब्रजबुलि का अवधी से कुछ अधिक साम्य है। परिशिष्ट में छंद की विवेचना है।

११८. हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास

[१९५५ ई०]

श्री शम्भूनाथसिंह को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि

प्रदान की। इसका प्रकाशन इसी नाम से हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, ने सन् १६५६ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'महाकाव्य का उद्भव और विकास' है। अनुसन्धाता का कथन है कि हिन्दी के महाकाव्य भारतीय महाकाव्य-परम्परा के अविच्छिन्न अङ्ग हैं। इस अध्याय में महाकाव्य के विकास की अवस्थाओं का विशद विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में महाकाव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है। प्रायः सभी प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य विचारकों की महाकाव्य-विषयक परिभाषाओं का विवेचन करते हुए अनुसन्धाता ने महाकाव्य की परिभाषा निर्धारित की है। इसके पश्चात् महा-काव्य के विभिन्न अवयवों का विस्तृत निरूपण किया है।

तीसरे अध्याय में भारतीय महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। संस्कृत के विकसनशील (रामायण, महाभारत) और अलंकृत (रघुवंश आदि) महाकाव्यों की विशेषताओं और उनके विविध रूपों पर विचार किया गया है। इसके अनन्तर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों के स्वरूप पर भी विचार किया गया है। इन भाषाओं के अनेक महाकाव्यों का विवेचन मुख्यतः उनके स्वरूप के आधार पर किया गया है। शैली की दृष्टि से यह विभाजन इस प्रकार है—शास्त्रीय महाकाव्य, पौराणिक शैली के महाकाव्य, ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य, रोमांचक महाकाव्य।

चौथे अध्याय में हिन्दी-महाकाव्य के उदय और उसके परिवेश की विवेचना की गयी है। अपभ्रंश के महाकाव्यों का हिन्दी-महाकाव्यों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। हिन्दी के महाकाव्य अपनी समसामयिक परिस्थितियों से भी बहुत प्रभावित हुए थे। इस अध्याय में इस प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। हिन्दी के आदिकाल में प्रशस्तिमूलक महाकाव्यों का प्रचुरता से सृजन हुआ। प्रशस्तिमूलक वर्णनात्मक ऐतिहासिक काव्य तथा रोमांचक प्रेमाख्यान-काव्य भी लिखे गये। इसके अतिरिक्त प्रशस्तिमूलक धार्मिक काव्य और वीरकाव्यों का भी निर्माण हुआ। आदिकाल के बाद का युग अलंकृतमहाकाव्य-रचना के योग्य हो चुका था। उत्तरमध्यकाल महाकाव्यों के लिए अनुर्वर युग था। इसी प्रकार आज का युग भी महाकाव्य के लिए अनुर्वर है, क्योंकि आजकल अन्तर्वृत्ति-निरूपण और प्रगीतात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

पांचवें अध्याय में हिन्दी के विकसनशील महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' का विस्तृत विवेचन है। छठे अध्याय में विकसनशील लोकमहाकाव्य 'आल्हखंड' का

विवेचन है । सातवें अध्याय में रोमांचक महाकाव्य 'पदमावत' और आठवें अध्याय में पौराणिक महाकाव्य 'रामचरितमानस' का अध्ययन किया गया है । नवें अध्याय में रूपात्मक महाकाव्य 'कामायनी' का अनुशीलन है । दसवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है ।

११९. खड़ीबोली का आन्दोलन—एक विशद अध्ययन

[१९५५ ई०]

श्री सितकंठ मिश्र को उनके प्रबन्ध 'खड़ीबोली का आन्दोलन—एक विशद अध्ययन' पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की । 'खड़ीबोली का आन्दोलन' नाम से यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, से प्रकाशित हुआ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है । पहले अध्याय में खड़ीबोली की निरुक्ति, उत्पत्ति एवं प्राचीन परम्परा का विवेचन किया गया है । प्राचीन परम्परा का निर्देश करते हुए अनुसन्धाता ने नाथपंथ, दक्खिनी साहित्य तथा गुजरात, पंजाब, सिन्ध, हिन्दी-प्रदेश आदि के साहित्य में खड़ीबोली की विद्यमानता मानी है, साथ ही हिन्दी को काव्य-भाषा का गौरव न मिलने के कारणों का भी उल्लेख किया है ।

दूसरे अध्याय में उस आन्दोलन की पूर्वपीठिका निर्दिष्ट की गयी है जो खड़ीबोली में गद्यरचना के निमित्त हुआ था । इसी प्रकार तीसरे अध्याय में पद्य के लिए खड़ीबोली के समर्थकों द्वारा किये गये आन्दोलन की पृष्ठभूमि दी गयी है । इस अध्याय में आन्दोलन-पूर्व खड़ीबोली के पद्य का परिचय दिया गया है । इस दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द के प्रयत्नों का भी मूल्यांकन किया गया है ।

चौथे अध्याय में खड़ीबोली-पद्य के आन्दोलन के प्रथम उत्थान पर विचार किया गया है । इस दिशा में श्री अयोध्या प्रसाद खत्री की हिन्दी-सेवाओं का यथार्थ मूल्यांकन है । खड़ीबोली के समर्थकों में इस काल के प्रमुख साहित्यिक पं० श्रीधर पाठक आदि थे और विरोधियों में पं० राधाचरण गोस्वामी तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि ब्रजभाषा के समर्थक सुकवि थे । इस क्षेत्र में पं० श्रीधर पाठक की सेवाएं विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । राधाकृष्णदास के समन्वय-

वादी सिद्धांत का महत्व भी निर्विवाद है।

पांचवें अध्याय में इस आन्दोलन का द्वितीय उत्थान प्रदर्शित किया गया है। यह उत्थान प्रथम उत्थान से बहुत कुछ भिन्न था। अब खड़ीबोली को पद्य की भाषा बनाना कुछ लोगों का उद्योगमात्र न रह कर युग की मांग बन गयी थी। इस उत्थान के नेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे, जिनकी नीति भूतपूर्व उत्थान के नेता अयोध्या प्रसाद खत्री से भिन्न थी। द्विवेदी जी ने स्वयं खड़ीबोली में कविताएं लिखीं और 'सरस्वती' में अन्य साहित्यकारों की खड़ीबोली की पद्य-रचनाओं को आमन्त्रित किया। उन्होंने भाषा को और काव्योपयोगी बनाया। एक ओर हिन्दी और हिन्दुत्व के सम्बन्ध दृढ़तर हो रहे थे, दूसरी ओर द्विवेदी जी के नेतृत्व में खड़ीबोली के लिए भगीरथ प्रयत्न हो रहे थे और तीसरी ओर खड़ी बोली (ओज, प्रसाद और माधुर्य से) गुणवती हो रही थी, अतः खड़ीबोली की विजय निश्चित थी। अन्ततः उसका विरोध समाप्त हुआ। छायावाद की श्रेष्ठ पद्यात्मक कृतियां खड़ीबोली में ही रची गयीं।

छठे अध्याय में खड़ीबोली-आन्दोलन की अतःप्रवृत्तियों का अनुशीलन किया गया है। यह अनुशीलन विविध दृष्टियों से किया गया है। सर्वप्रथम खड़ीबोली के प्रेरक स्रोतों का अनुसंधान किया गया है तब उपादान, काव्यरूप, छंद और काव्यकला की दृष्टि से खड़ीबोली आन्दोलन की अतःप्रवृत्तियों का उद्घाटन किया गया है।

१२०. उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य—विशेषतः बनादास का अध्ययन

[१९५५ ई०]

श्री भगवतीप्रसाद सिंह को सन् १९५५ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। उनके शोध-प्रबन्ध का शीर्षक था 'उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य—विशेषतः बनादास का अध्ययन'। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। "इनके (बनादास के) जीवन और कृतियों का एक

आलोचनात्मक अध्ययन 'महात्मा बनादास' के नाम से अलग प्रकाशित हो रहा है"।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में आलोच्य काल की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य है—रामकाव्य में नवचेतना। इसमें रामकथा के विविध रूपों, रामकाव्य में शृंगार की परम्परा, रामोपासना में माधुर्य के सूत्रपात आदि का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में उन्नीसवीं शताब्दी के रामभक्ति-साहित्य के विकास का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय खंड के चार अध्यायों में बनादास (१८२१ ई०—१८९२ ई०) का विशेषाध्ययन हुआ है। पहले अध्याय में उनके जीवनवृत्त का निरूपण है। दूसरे अध्याय में उनके ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। महात्मा बनादास ने कुल चौंसठ ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से एकसठ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका महाकाव्य 'उभयप्रबोधक रामायण' प्रकाशित हो चुका है, शेष साठ रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां अनुसन्धाता के पास सुरक्षित हैं। तीसरे अध्याय में बनादास के आध्यात्मिक विचारों, उनकी दास्य और मधुर भक्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चौथे अध्याय में उनके काव्य की समीक्षा है। रामभक्ति पर आधृत होने पर भी उनकी कृतियां निर्गुणपन्थी, सूफ़ी और रीतिकालीन रचना-पद्धतियों से प्रभावित हैं। इस अध्याय में उन प्रभावों का भी आकलन किया गया है।

१२१ गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ीबोली-सम्बन्धी विवाद की रूपरेखा

[१९५५ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ ई० में श्री कपिलदेव सिंह को उनके प्रबन्ध 'गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ीबोली-संबंधी

१. डा० भगवतीप्रसाद सिंह—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ ४८६

विवाद की रूपरेखा' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा, ने उनके इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९५६ ई० में 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली' के नाम से किया।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में खड़ीबोली और ब्रजभाषा सम्बन्धी विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। इसमें ब्रजभाषा की सहायक शक्तियों तथा उसके पतन के कारणों एवं उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ीबोली के साधक तथा बाधक तत्वों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में खड़ीबोली की प्राचीनता, उसकी साहित्यिक परम्परा, उसके जनपदीय प्रयोगों तथा उसे काव्यभाषा बनाने के लिए किये गये प्रारम्भिक प्रयत्नों की शोध की गयी है। तीसरे अध्याय में भारतेन्दु जी के एतद्विषयक विचारों, खड़ीबोली की कमियों, उर्दू से उत्पन्न भय, दो भाषाओं के अव्यावहारिक प्रयोग, ब्रजभाषा के लालित्य आदि पर विचार करते हुए भारतेन्दु-युग में ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद का ऐतिहासिक दिग्दर्शन कराया गया है। चौथे और पांचवें अध्यायों में खड़ीबोली और ब्रजभाषा के गुण-दोषों के आधार पर पक्ष-विपक्ष की ओर से उपस्थित किये जाने वाले तर्कों की छानबीन करते हुए प्रस्तुत विवाद की ऐतिहासिक समीक्षा की गयी है। इन दोनों अध्यायों के आलोच्य काल क्रमशः द्विवेदी-युग तथा छायावादी युग हैं। छठे अध्याय में व्याकरण की दृष्टि से ब्रजभाषा और खड़ीबोली का अन्तर स्पष्ट करके दोनों भाषाओं की काव्योपयुक्त विशेषताओं एवं गुण-दोषों का आकलन है। सातवें अध्याय में आधुनिक ब्रज-लोकगीतों की रचना के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा अब भी जीवित है। आठवें अध्याय में भक्तिकाल से लेकर वर्तमान काल तक की ब्रजभाषा और भारतेन्दु-युग से लेकर प्रयोगवादी रचनाओं तक की खड़ीबोली की सफलताओं का मूल्यांकन किया गया है। नवें अध्याय में इस माध्यम-सम्बन्धी संघर्ष में विजय प्राप्त करने वाली खड़ीबोली की सफलता के कारणों की खोज करते हुए वर्तमान हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति पर इस विवाद के ऐतिहासिक प्रतिफल की निर्धारणा की गयी है। परिशिष्ट में उद्धृत कविता ('होली में खड़ीबोली') और दो प्रहसनों के सारांश इस विवाद-विषयक जानकारी के लिए उपयोगी हैं।

१२२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद

[१९५५ ई०]

श्री शम्भुनाथ पांडेय ने अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद' पर आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। यह प्रबन्ध आगरा बुक स्टोर, हास्पिटल रोड, आगरा, से सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ।

यह प्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'भूमिका' है। इसमें सर्वप्रथम निराशावाद की व्याख्या की गयी है, तब निराशावादी भावनाओं का वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण प्रवृत्तियों, कवि की चेतना तथा अभिव्यक्ति के प्रकारों की दृष्टि से किया गया है। इसके बाद भारतवर्ष की दार्शनिक परम्परा में निराशावाद पर विचार किया गया है।

दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य भारतेन्दु-युग है। अध्येता ने पहले भारतेन्दु-युग के निराशावाद की सीमा निर्धारित कर ली है। उसका विचार है, कि इस युग में राष्ट्रीय निराशावाद की भावना सर्वव्यापक थी। यह राष्ट्रीय निराशावाद एक युग-परिवर्तनकारी अनुभूति था और युग की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति से इसका गहरा सम्बन्ध था। इस निराशावाद के विभिन्न रूप थे—विषम परिस्थितियों का निराशावादी चित्रण, देश और समाज का निराशावादी चित्रण एवं परिस्थितियों की विषमता तथा समाज की अधोगति की कवि-मानस पर प्रतिक्रिया। अध्याय के अन्त में भारतेन्दु-युग के निराशावाद का मूल्यांकन किया गया है।

तीसरे अध्याय में पहले द्विवेदी-युग के निराशावाद का सीमा-निर्धारण है। तब द्विवेदी-युग की राजनीतिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय असंतोष का निरूपण किया गया है। यह निराशा कई प्रकार की है। कहीं पराजयजन्य निराशावाद उपलब्ध होता है तो कहीं सामाजिक व्यवस्था पर क्षोभ। विधवा, अछूत, कृषक आदि को लेकर इस युग में समवेदनात्मक काव्य भी लिखा गया। दुर्भिक्ष, महामारी आदि संकटों से प्रेरित होकर भी निराशावादी काव्य की रचना हुई। अन्त में लेखक ने द्विवेदी-युग के निराशावादी काव्य का मूल्यांकन किया है।

चौथे अध्याय में छायावाद की सीमा निर्धारित करने के बाद छायावादी युग के निर्माता तत्वों तथा युगीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परि-

स्थितियों का अध्ययन किया गया है। तदुपरांत व्यक्तिगत निराशावाद के मनोवैज्ञानिक आधार का स्पष्टीकरण किया गया है। इसके बाद रहस्यवादी गीतों (प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, रामनाथ सुमन, रामकुमार वर्मा, तारा पांडे आदि के गीतों) में सन्निहित निराशावादी तत्वों की विवेचना है। तदनन्तर प्रकृति-चित्रण के माध्यम से निराशावाद की अभिव्यक्ति पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् प्रणय-निराशा का सामान्य परिचय, विकास, मनोवैज्ञानिक आधार, अवस्थाएं, अभिव्यक्ति के प्रकार तथा प्रणय-निराशा की अनुभूतियों का पर्यालोचन किया गया है। खैयामवादी निराशा का भी विवेचन किया गया है। स्वतन्त्र रूप से निराशावाद की अभिव्यक्ति के (अध्येता ने) तीन रूप माने हैं—(१) दार्शनिक निराशावाद, (२) व्यक्तिगत निराशावाद, (३) समष्टिगत निराशावाद। अन्त में छायावादी युग के निराशावाद का मूल्यांकन है।

पांचवें अध्याय में प्रगतिवादी-युग की निराशा की सीमा निर्धारित करने के बाद युगपरिवर्तनकारी तत्वों का अनुसन्धान किया गया है। अध्येता ने बतलाया है कि इस युग में व्यक्तिगत निराशावाद एक ओर समष्टिगत संघर्ष में परिणत हुआ तो दूसरी ओर उसकी परिणति व्यक्तिगत आशावाद में हुई। प्रणय-गीत, प्रकृति-चित्रण और जीवन-दर्शन—सभी क्षेत्रों की निराशा आशा में परिणत हो गयी। परिशिष्ट में प्रबन्ध काव्यों के माध्यम से अभिव्यक्त युग-चेतना दिखाने के लिए आधुनिक युग के प्रमुख प्रबन्ध काव्यों—'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' तथा 'कुरुक्षेत्र'—का अनुशीलन किया गया है।

१२३. रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत

[१९५५ ई०]

श्री सीताराम कपूर का प्रबन्ध 'रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत' सन् १९५५ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

इस ग्रन्थ में साहित्यिक दृष्टि से 'रामचरितमानस' के स्रोतों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय में प्रबन्ध की प्रस्तावना है। भारतीय जीवन में राम का स्थान, रामकथा की लोकप्रियता,

रामकथा के विकास का संक्षिप्त पर्यालोचन, तुलसी के पूर्व का रामसाहित्य, तुलसी के प्रेरक, मानस की रचना का प्रयोजन आदि इसके प्रतिपाद्य विषय हैं। दूसरे अध्याय में मूल स्रोतों से तुलसीदास के द्वारा किये गये शब्द-ग्रहण का अध्ययन है। यहां पर 'शब्द' का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में हुआ है। उसके अन्तर्गत पद-ग्रहण, पाद-ग्रहण, अर्ध-ग्रहण और वृत्त-ग्रहण की समीक्षा की गयी है। शब्द-ग्रहण की विवेच्य सामग्री के विस्तार के कारण उसका शेष अंश अध्याय के अन्त में परिशिष्टरूप में जोड़ दिया गया है।

तीसरे और चौथे अध्यायों में तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में मूल स्रोतों से ग्रहण किये गये अर्थों का वर्गीकरण और विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्त में तुलसीदास की मौलिकता की भी चर्चा की गयी है। पांचवें अध्याय में 'रामचरितमानस' में किये गये प्रबन्ध-ग्रहण का विवेचन है। 'रामचरितमानस' के सात सोपानों के नाम पर ही इस अध्याय के सात विभाग किये गये हैं। पहले में बालकांड के स्रोतों का अनुसन्धान किया गया है। वंदना, राममाहात्म्य, सतीमोह, शिव-विवाह, रामजन्म के हेतु, पुत्रेष्टि तथा रामजन्म से लेकर विवाह तक की कथावस्तु की उत्तमर्ण रचनाओं की खोज की गयी है। दूसरे में रामराज्याभिषेक-प्रस्ताव से लेकर भरत के अवध-प्रत्यागमन तक उपस्थापित सामग्री के मुख्य प्रसंगों के स्रोतों की गवेषणा की गयी है। तीसरे में अरण्यकांड के सीता-जयंत-प्रसंग से लेकर शबरी-उद्धार तक, चौथे में किष्किन्धा कांड के अन्तर्गत राम-हनुमान-भेंट से लेकर सीता की खोज के लिए वानरों के प्रस्थान तक, पांचवें में हनुमान-मैनाक मिलन से लेकर समुद्र-निग्रह तक, छठे में लंका-कांड के अन्तर्गत रामेश्वर के स्थापन से लेकर राम के अवध-प्रत्यावर्तन तक और सातवें में हनुमान-भरत-मिलन से लेकर कलिवर्णन तक के ग्रथित वृत्त के मुख्य-मुख्य अंशों के स्रोतों का विवेचन है। अन्त में उपसंहार करते हुए तुलसीदास की मधुकरी वृत्ति का उल्लेख करके उनकी मौलिकता पर प्रकाश डाला गया है। परिशिष्ट में 'रामचरितमानस' के पद्यों और उनके स्रोत रूप में गृहीत संस्कृत के श्लोकों की (दो सौ साठ पृष्ठों में) निबन्धना से शोध-ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गयी है।

१२४. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य

[१९५५ ई०]

श्री रामेश्वरलाल खंडेलवाल को उनके प्रवन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य' पर सन् १९५५ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध का प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६, दरियागंज, दिल्ली, ने सन् १९५८ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रवन्ध छः प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में प्रेम की व्युत्पत्ति व परिभाषा दी गयी है। उसके मूल स्वरूप का निरूपण किया गया है। प्रेम का विवेचन करते हुए उसके विविध रूपों की भी चर्चा की गयी है। इसी प्रकार सौन्दर्य की भी व्याख्या की गयी है। दूसरे प्रकरण का प्रतिपाद्य 'भारतेन्दु-काल' है। आरम्भ में यह बतलाया गया है कि इस युग में रति की परिधि का विस्तार हुआ और सौन्दर्य की नवीन चेतना का स्फुरण हुआ। तदनन्तर इस युग की परिस्थितियों व उनके प्रभाव का विवेचन किया गया है। भारतेन्दु-युग का प्रेम-निरूपण, सौन्दर्य-भावना तथा काव्य-शैली—इस अध्याय के अन्य प्रतिपाद्य विषय हैं। प्रकरण के अन्त में युग की देन का भी मूल्यांकन है।

तीसरे प्रकरण में दिखाया गया है कि द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय प्रेम-भावना अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुंची। प्रणय-विषयक काव्य का सृजन भी इस युग में हुआ। इस युग के काव्य में प्रेम के अन्य रूपों (भक्ति, प्रकृति प्रेम, मानव-प्रेम, वात्सल्य प्रेम, सूक्ष्म प्रेम) की भी अभिव्यक्ति मिलती है। द्विवेदी-युग की प्रेम-भावना शुद्ध एवं उसकी सौन्दर्य-चेतना सूक्ष्म तथा गम्भीर है। इस मान्यता की स्थापना करते हुए काव्यशैली व युग की देन का मूल्यांकन किया गया है। चौथे अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि छायावाद-काल में प्रेम और सौन्दर्य, स्थूलता तथा यथार्थता से सूक्ष्मता एवं अतिकाल्पनिकता की ओर अग्रसर होते गये। छायावाद की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए अनुसंधाता ने छायावादी काव्य में वर्णित प्रेम के विविध रूपों की विवेचना की है। अन्त में युग की देन का मूल्यांकन किया है।

पाँचवें प्रकरण में प्रगतिप्रयोगवाद की प्रेम और सौन्दर्य की भावना पर प्रकाश डाला गया है। काव्य की सामान्य प्रवृत्ति अब आदर्श से यथार्थ की

ओर आ रही थी। इस युग में आदर्श और यथार्थ का समन्वय अन्तश्चेतनावाद में हुआ। इस अध्याय में प्रथमतः पृष्ठभूमि का निर्देश करते हुए प्रगति और प्रयोग का अर्थ विवेचित किया गया है। दोनों के विषय-निरूपण को स्पष्ट किया गया है। इन युगों की आलोचनात्मक परख की गयी है। अन्त में अन्तश्चेतनावाद की व्याख्या की गयी है। छठा अध्याय उपसंहार के रूप में है जिसमें आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य के प्रतिपादन का मूल्यांकन किया गया है। परिशिष्ट में कविता और चित्र, संगीत आदि का भी विवेचन किया गया है।

१२५. रामानन्द-सम्प्रदाय और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव

[१९५५ ई०]

श्री बदरी नारायण श्रीवास्तव को उनके प्रबन्ध 'रामानन्द-सम्प्रदाय और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव' पर सन् १९५५ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह प्रबन्ध सन् १९५७ ई० में हिन्दी-परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, से प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ की 'भूमिका' में रामानन्द के युग की धार्मिक पृष्ठभूमि का परिचय दिया गया है। प्रथय अध्याय में अध्ययन-सामग्री की परीक्षा की गयी है। द्वितीय अध्याय में रामानन्द के जीवन-वृत्त का निरूपण है। तृतीय अध्याय में उनके ग्रन्थों तथा उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सम्प्रदाय के इतिहास एवं तत्सम्बद्ध शाखाओं का वर्णन है। पंचम अध्याय में रामानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों और षष्ठ अध्याय में उनकी भक्ति-पद्धति की मीमांसा की गयी है। सप्तम अध्याय में उसके पूजा-सिद्धान्त एवं कर्मकाण्ड के महत्त्व तथा स्थान का उपस्थापन है। अष्टम अध्याय में हिन्दी-कवियों पर रामानन्दी दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रभाव का अध्ययन है। इस अध्याय में तुलसीदास, कबीर, मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों की दार्शनिक विचार-धारा पर रामानन्द के प्रभाव का आकलन किया गया है। दशम अध्याय में निष्कर्षों की स्थापना की गयी है। प्रबन्ध के

चार परिशिष्ट इस प्रकार हैं—सहायक-पुस्तक-सूची, रामानन्द-सम्प्रदाय के केन्द्र, नामानुक्रमणी और स्वामी भगवदाचार्य का पत्र ।

१२६. सूरदास और उनका साहित्य

[१९५५ ई०]

डा० हरवंश लाल शर्मा का प्रबन्ध 'सूरदास और उनका साहित्य' सन् १९५५ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ । यह प्रबन्ध प्रकाशित रूप में ही प्रस्तुत हुआ था । प्रकाशक हैं—भारत प्रकाशन मन्दिर, सुभाष रोड, अलीगढ़ ।

यह प्रबन्ध ग्यारह भागों में विभक्त है । पहले अध्याय में सूर के जीवनचरित का अध्ययन किया गया है । बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत 'भाव प्रकाश' 'वल्लभ-दिग्विजय', 'संस्कृत वार्ता मणिमाला', 'अष्ट सखामृत', 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम, 'धौल', 'भाव संग्रह', 'वैष्णवाह्निक पद' आदि ग्रन्थों पर विचार किया गया है । तदनन्तर अन्त:साक्ष्य पर विचार करते हुए सूर के जन्मस्थान, जन्मतिथि, जाति तथा वंश, अन्धत्व, वैराग्य तथा सम्प्रदाय-प्रवेश और गोलोकवास आदि पर प्रकाश डाला गया है । दूसरा अध्याय 'सूरदास जी का साहित्य' है । ग्रन्थ-रचना पर विचार करने के अनन्तर 'सूरसारावली', 'साहित्यलहरी' और 'सूरसागर' का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

तीसरे अध्याय में सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है । इस क्रम के अन्तर्गत भक्ति-आन्दोलन, बौद्धमत, नाथ-सम्प्रदाय, सूफी सम्प्रदाय, सामाजिक स्थिति तथा साहित्यिक परिस्थितियों का अनुशीलन किया गया है । चौथा अध्याय 'भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण का योग और वैष्णव सम्प्रदाय' है । इसमें पहले दक्षिण में हुए भक्ति-आन्दोलन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है । इसके बाद विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों (शंकर से चैतन्य तक) और सूर के समसामयिक सखी तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है ।

पांचवें अध्याय में पुराण-साहित्य की प्राचीनता प्रतिपादित करते हुए पुराण-साहित्य में कृष्ण के विकास का अध्ययन किया गया है । वैदिक साहित्य और 'महाभारत' के कृष्ण पर भी विचार किया गया है । तदनन्तर पुराणों में

प्रतिपादित कृष्ण-चरित का अनुशीलन किया गया है। चरित की दृष्टि से भागवत के चार विभाग किये गये हैं—घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक।

छठे अध्याय में श्रीमद्भागवत और 'सूरसागर' की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। भागवत के स्वरूप-निर्धारण और रचना-काल, 'सूरसागर' में भागवत का अनुसरण करने वाली उक्तियों तथा विषय और परिमाण की दृष्टि से 'सूरसागर' और भागवत पर विचार करते हुए विभिन्न मतों की समीक्षा करने के अनन्तर निष्कर्षों की स्थापना की गयी है। सातवें अध्याय में सूरदास के कृष्ण और गोपियों का अध्ययन किया गया है। सूर के कृष्ण और गोपियों की भागवत से तुलना करने के पश्चात् राधा के विकास की पृष्ठभूमि में सूर की राधा पर भी प्रकाश डाला गया है।

आठवां अध्याय 'सूर के दार्शनिक सिद्धान्त' है। पहले भागवत तथा वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण है। तब श्रीकृष्ण-लीलाओं के आध्यात्मिक पक्ष तथा प्रतीकार्थ पर विचार किया गया है। अन्त में ब्रह्म, जीव, जगत् और संसार, माया, मोक्ष, रास आदि शीर्षकों के अन्तर्गत सूर के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन है। नवें अध्याय में सबसे पहले भक्ति के विकास और स्वरूप का विवेचन है। इसके बाद सूर की भक्ति-साधना का उपस्थापन है। अन्त में सूर के सन्दर्भ में शान्ता, सख्य, वात्सल्य, मधुरा, आत्मनिवेदन और प्रेमाभक्ति का परिशीलन किया गया है। दसवां अध्याय 'पुष्टि-सम्प्रदाय और सूरदास' है। सम्प्रदाय का सामान्य विवेचन करते हुए पुष्टिमार्गी भक्ति, श्रीमद्भागवत में पुष्टि-तत्त्व, पुष्टिमार्गीय सेवा तथा सूरदास और पुष्टिमार्ग पर विचार किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में शैली, वर्णनात्मक आख्यान, दृश्य तथा वर्णन-विस्तार, अलंकार-योजना, छन्दोविधान, भाषा, शब्दभंडार, लोकोक्तियां और मुहावरे, भाव और रस, भावपक्ष, नायिका-भेद, रस-प्रतिपादन आदि अनेक दृष्टियों से सूर के काव्य की विशद समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

१२७. आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां

[१९५५ ई०]

श्री इन्द्रपाल सिंह का प्रबन्ध 'आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां' सन् १९५५ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में सरह, गोरख और कबीर की परम महासुह निर्वाण, आनन्द, निर्वेद, ब्रह्मचर्य और योग सम्बन्धी रचनाओं, उनकी उलटबांसियों के अर्थ, 'सन्देशरासक' और 'पदमावत' के विप्रलम्भ-शृंगार का निरूपण है। फ़ारसी और अंग्रेजी साहित्य की रक्तपात की प्रवृत्ति पर भी प्रकाश डाला गया है। दूसरे प्रकरण में अपभ्रंश और उसकी पूर्ववर्तिनी भाषाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। तीसरे प्रकरण में देश की आलोच्यकालीन परिस्थितियों—सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि—का अनुशीलन करने के अनन्तर अपभ्रंश के कवियों और राजाओं द्वारा उनके सम्मान पर विचार गया है।

चौथे प्रकरण में धार्मिक पृष्ठभूमि का पर्यालोचन है। अनुसन्धाता का मत है कि इस युग के साहित्य में धर्म और दर्शन की प्रधानता रही। धर्म की वैदिक परिभाषा और व्याख्या करते हुए वेदकालीन भारत की धार्मिक सभ्यता, यज्ञ-प्रकार और फल, स्वाध्याय, दान, तप आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात् स्मृतियों, गीता, श्रीमद्भागवत आदि में विवृत धर्म का अध्ययन है।

पांचवें प्रकरण में दार्शनिक पृष्ठभूमि और दर्शन की परिभाषा बतला कर वैदिक धर्म और ब्रह्मचिन्तन के क्रम, सांख्य, द्वैतवाद एवं वेदान्त के अद्वैतवाद, ब्रह्म के निर्गुण-सगुण-रूप, उसकी प्राप्ति, उसकी अनुभवगम्यता, आत्मा-परमात्मा की एकता, आत्मा की श्रेष्ठता, ब्राह्मी स्थिति आदि का विवेचन किया गया है।

छठे प्रकरण में बौद्ध धर्म और दर्शन, बंगाल का साहित्य, उसमें व्यक्त धर्म और दर्शन, उसकी पूर्वपीठिका, अपभ्रंश-पूर्व भाषा का प्रथम साहित्य, बंगाल में बौद्धधर्म का संक्षिप्त इतिहास, बौद्धधर्म के सिद्धान्त (महायान और हीनयान, वज्रयान, सहजयान आदि), महाभारत आदि उपनिषदुत्तर-काल में धर्म का भाव-पक्ष, वेदान्त और मीमांसा का परस्पर विरोध, वैष्णव धर्म की प्रवृत्ति, प्राचीन नास्तिक मतों का विरोधी भाव, वैष्णवधर्म की प्रवृत्ति, गुह्य साधना, परमानुभव की स्थिति आदि विषयों का अनुशीलन है।

१२८. हिन्दी और मलयालम के भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५५ ई०]

लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ ई० में श्री के० भास्करन नय्यर को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी और मलयालम के भक्त कवियों का तुलनात्मक अध्ययन' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

१२९. हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-काव्य में संगीत

[१९५५ ई०]

श्री० उषा गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-काव्य में संगीत' सन् १९५५ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में कृष्णभक्ति-शाखा की स्थापना और उसके क्षेत्र पर विचार किया गया है। इस अध्याय में वल्लभ-सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय, राधावल्लभीय सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, निम्बार्क-सम्प्रदाय आदि सम्प्रदायों तथा सम्प्रदाय-मुक्त कृष्णभक्त कवियों और उनकी काव्यकृतियों का परिचय दिया गया है। आगे चलकर बहिस्साक्ष्य के आधार पर भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों के संगीतज्ञान का परिचयात्मक विवरण भी दिया गया है।

दूसरा अध्याय 'संगीत और साहित्य' है। 'संगीत' क्या है, संगीत के आधार, संगीत की व्यापकता, संगीत की महत्ता, साहित्य में संगीत का स्थान, संगीत और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध, संगीत-कला एवं काव्यकला में समानताएं, संगीत के उपादान, काव्य के उपादान आदि विषयों पर इस अध्याय में विचार किया गया है। इसी क्रम में साहित्य के साथ संगीत के औचित्य का भी निर्धारण किया गया है।

तीसरे अध्याय में कृष्णभक्ति-साहित्य में संगीत-प्रेरणा के उपादानों का

विश्लेषण है। चौथे अध्याय में कृष्णभक्ति-साहित्य में संगीत तथा उससे सम्बद्ध सामग्री का अनुशीलन किया गया है। पांचवें अध्याय में भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-काव्य में प्रयुक्त राग-रागिनियों का अनुसंधान किया गया है। राग की उत्पत्ति तथा विकास, तत्कालीन प्रचलित राग-रागिनियां, रागों का वर्गीकरण आदि विषयों का विवेचन करने के अनन्तर अष्टछाप के सूरदास, परमानन्ददास आदि कवियों तथा गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, हितहरिवंश, हरिनारायण व्यास, हरिदास स्वामी, विट्ठल विपुल, श्री भट्ट, परशुराम, मीरांबाई, राजा आसकरण, गंग, ग्वाल आदि अन्य कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियों की विवेचना की गयी है। इन राग-रागिनियों की कोटियों तथा इनके अध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाली विशेषताओं की चर्चा भी की गयी है।

छठे अध्याय में संगीत के सिद्धान्तों की कसौटी पर आलोच्य काव्य की परीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में भक्तिकालीन कृष्णभक्त कवियों की भाषागत विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। आठवें अध्याय में लय, ताल, और गायन प्रणाली के आधार पर कृष्णभक्ति-काव्य में प्रयुक्त पदों की समीक्षा की गयी है।

१३०. राजस्थानी कहावतों का गवेषणात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन

[१९५५ ई०]

श्री कन्हैयालाल सहल को उनके प्रबन्ध 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। उक्त नाम से ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९५८ ई० में भारती साहित्य मंदिर, फ़व्वारा, दिल्ली, से हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप में लिखा गया है। सर्वप्रथम कहावतों का महत्व प्रतिपादित करते हुए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्देश किया गया है। पृष्ठभूमि का अनुशीलन दो प्रभागों के अन्तर्गत किया गया है। 'क' प्रभाग के अन्तर्गत वैदिक वाङ्मय, इतिहास-पुराण, स्मृतियों, नीतिवाङ्मय, संस्कृत-काव्य, पाली, प्राकृत और

अपभ्रंश साहित्य की कहावतों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। 'ख' प्रभाग के अन्तर्गत विदेशी कहावतों पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में 'कहावत' का पर्यालोचन किया गया है। 'कहावत' की व्युत्पत्ति तथा उसके विदेशी एवं भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त पर्यायवाची शब्दों का विवेचन किया गया है, परिभाषा दी गयी है तथा कहावत और मुहावरे का भेद निरूपित किया गया है। कहावत और लौकिक न्याय तथा प्राज्ञोक्ति और लोकोक्ति की अर्थच्छाया पर भी विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में कहावत के उद्भव और विकास का अध्ययन किया गया है। उद्भव की प्रक्रिया, उद्भव के आधार तथा उद्भव की प्राचीनता का दिग्दर्शन कराते हुए कहावत का विकास प्रदर्शित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में राजस्थानी कहावतों का विस्तार से वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण रूपात्मक दृष्टिकोण से भी किया गया है और विषय की दृष्टि से भी। अध्याय के प्रभाग 'क' में रूपात्मक दृष्टि से कहावतों को ग्यारह वर्गों में विभक्त करके तुक, छन्द, अलंकार, अध्याहार, संवाद, लौकिक न्याय आदि की दृष्टि से उनका विस्तार के साथ अध्ययन किया गया है। प्रभाग 'ख' में राजस्थानी कहावतों का आठ वर्गों (ऐतिहासिक, स्थान-सम्बन्धी, जीवन-सम्बन्धी, सामाजिक, शिक्षा-मनोविज्ञान-साहित्य-सम्बन्धी, धर्मदर्शन-सम्बन्धी, कृषि-सम्बन्धी, वर्षा-सम्बन्धी और प्रकीर्ण—पशु-पक्षी, पेड़-पौधों आदि से सम्बद्ध) में विषयानुसार वर्गीकरण करके उनकी व्यापक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

पांचवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है। इसमें कहावतों के भविष्य के विषय में भी विचार किया गया है। आजकल कहावतों का निर्माण क्यों नहीं होता—इसके कारणों की विवेचना की गयी है, तथा यह भी निर्धारित किया गया है कि इस विषय में हमारा कर्तव्य क्या होना चाहिए। परिशिष्ट भाग में राजस्थानी भाषा के कुछ लौकिक न्यायों की भी संक्षिप्त विचार-चर्चा की गयी है।

१३१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में समाज (१८५०-१९५० ई०)

[१९५५ ई०]

श्रीमती गायत्री देवी वैश्य का शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में समाज (१८५०–१९५० ई०)' सन् १९५५ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

प्रस्तुत प्रवन्ध में सामाजिक दृष्टिकोण से आधुनिक हिन्दी-काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। वर्तमान समाज के रीति-रिवाजों और परम्पराओं की परिवर्तन-रेखाओं का काव्य के माध्यम से अवलोकन किया गया है। ग्रन्थारम्भ में व्यापक भूमिका है जिसमें हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का उपस्थापन है। प्राचीन काव्य से उदाहरण देकर तत्कालीन पारिवारिक सम्बन्धों एवं सामाजिक मान्यताओं की रूपरेखा स्पष्ट की गयी है। मुख्य प्रबन्ध चार परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद के पूर्वार्ध में भारतेन्दुयुगीन लोकगीतों में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का अनुशीलन है। लोकगीतों की प्राचीन परम्परा, नवीन रूप और उसमें सामाजिक जीवन के चित्र, लोकगीतों का उद्भव, कजली, होली, लावनी, ख्याल, बारह-मासा, स्वांग, उन लोकगीतों में सामाजिक चेतना आदि का अध्ययन है। तत्कालीन गीतों के चार वर्ग किये गये हैं। रूढ़िविरोधी गीत, बाहरी सभ्यता के विरोधी गीत, आर्थिक-राजनैतिक समस्याओं के गीत एवं सामाजिक चेतना अथवा उद्बोधन के गीत। इस परिच्छेद के उत्तरार्ध में भारतेन्दु-युगीन सत्कविता के दो विभाग (शृंगारिक काव्यधारा तथा सामाजिक काव्य भयसिंह करके उसमें अभिव्यक्त सामाजिक जीवन की समीक्षा की गयी है। वाओं का

दूसरे परिच्छेद में सुधारवादी युग (द्विवेदी-युग) की रायसिंह, पृ माजिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। भारतीय संस्कृति, पाश्चात्य दान का मूल्यांकृति के प्रसार, आर्यसमाज, भारतीय राष्ट्रीय महासभा आदि सिंह, राजसिंह, सा क पाखंड, अशिक्षा, दहेज-प्रथा, ग्राम्य-जीवन, अवतारवा णसिंह और पृथ्वीसिंह को सोदाहरण विवेचना की गयी है। तीसरे परिच्छे और सातवें अध्याय में बूँदी अध्ययन है। इसे लेखिका ने परिवर्तन-युग माना है गया है। आठवें अध्याय में द्वितीय मोड़ पर काव्य ने पुरानी शृंखलाएं तोड़कर रानों के साहित्यिक योगदान स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की, समूह के स्थान पर वी, छत्रकंवरि, मीरां, रसिक-

अनन्त की, व्यक्त को छोड़कर अव्यक्त की तथा सुख को छोड़कर दुःख की चर्चा की; प्रेम, सौंदर्य और नैतिकता के नये मान बनाये। 'प्रगति-युग' नामक चौथे परिच्छेद में देश की आर्थिक, सामाजिक, आदि पुरातन व्यवस्थाओं से उत्पन्न विषमताओं को क्रान्ति द्वारा समाप्त कर देने की पुकार करने वाले प्रगतिशील कवियों के प्रेरक तत्त्वों, प्रवृत्तियों एवं उपलब्धियों की समीक्षा है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रगतिशील विचारधारा समय की उपज है, कुछ कवि साम्यवाद से प्रभावित हैं और कुछ अपने युग के भीषण कृत्यों से मर्माहत, इस युग का काव्य प्राचीन आस्थाएं एवं परम्पराएं तोड़कर एक अनजानी राह पर गतिशील है, कवियों के निश्चयात्मक वाक्यों की पुनरावृत्ति में भी अनिश्चय की ध्वनि सुनायी पड़ती है। ग्रन्थ के अन्त में 'उपसंहार' है।

१३२. राजस्थानी गद्य का इतिहास और विकास

[१९५५ ई०]

श्री शिवस्वरूप शर्मा 'अचल' को उनके प्रबन्ध 'राजस्थानी गद्य का इतिहास और विकास' पर सन् १९५५ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

यह ग्रन्थ पांच प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण 'विषय-प्रवेश' है जिसमें राजस्थानी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। द्वितीय प्रकरण में राजस्थानी के गद्य-साहित्य का निम्नांकित पांच शीर्षकों के अन्तर्गत अ[...]ता- किया गया है :

(१ या है कि गद्य-साहित्य

। राजस्थानी -साहित्य—टीकाएं

यी है। णक-धार्मिक साहित्य

गद्य-साहित्य

हित्य

ाहित्य

ाहित्य

ार्शनिक गद्य-साहित्य

तृतीय प्रकरण में सं० १३०० से १६०० तक और चतुर्थ प्रकरण में सं० १६०० से १९०० तक के राजस्थानी गद्य का विकास दिखलाया गया है। पंचम प्रकरण में आधुनिक काल के नाटकों, कहानियों, रेखाचित्रों, संस्मरणों, निबन्धों, गद्य-कविताओं, भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रयुक्त राजस्थानी गद्य का अध्ययन किया गया है। प्रवन्ध के परिशिष्ट में राजस्थानी गद्य के उदाहरण भी दे दिये गये हैं।

१३३. राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका मूल्यांकन

[१९५५ ई०]

श्री राजकुमारी शिवपुरी को सन् १९५५ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय से उनके प्रबन्ध 'राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका मूल्यांकन' पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

इस ग्रन्थ के दो भागों में कुल मिलाकर दस अध्याय हैं। 'प्रवेश' नामक पहले अध्याय में राजस्थान की भौगोलिक सीमाओं, ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों, संस्कृति, सामाजिक विचार-धारा और प्रमुख राजघरानों का परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में उदयपुर की स्थापना, उसकी साहित्यिक परम्परा तथा उसके महाराणाओं के साहित्य का अध्ययन है। तीसरे अध्याय में जोधपुर के महाराजा गजसिंह, जसवन्तसिंह, अजितसिंह, अभयसिंह, बख्तसिंह, भीमसिंह, मानसिंह तथा अन्य राजाओं की साहित्यिक सेवाओं का अनुशीलन किया गया है। चौथे अध्याय में बीकानेर के महाराजा रायसिंह, पृथ्वीराज, कर्णसिंह, अनूपसिंह, जोरावरसिंह और गजसिंह के योगदान का मूल्यांकन है। पांचवें अध्याय में किशनगढ़ के महाराजा रूपसिंह, मानसिंह, राजसिंह, सावंत-सिंह (नागरीदास), वहादुरसिंह, बिड़दसिंह, कल्याणसिंह और पृथ्वीसिंह का अध्ययन है। छठे अध्याय में जयपुर के राजघराने और सातवें अध्याय में बूँदी के राजघराने की साहित्य-सेवा पर विचार किया गया है। आठवें अध्याय में जैसलमेर, भरतपुर, अलवर और करौली के राजघरानों के साहित्यिक योगदान समीक्षा की गयी है। नवें अध्याय में चांपा देवी, छत्रकंवरि, मीरां रसिक-

बिहारी बनी-ठनी जी आदि पन्द्रह महिलाओं द्वारा रचित काव्य-साहित्य की आलोचना है। दसवें अध्याय में राजस्थान के राजघरानों के आश्रय में विकसित साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। 'उपसंहार' में विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके महत्त्व का आकलन है।

१३४. आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

[१९५५ ई०]

श्री देवराज उपाध्याय का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' सन् १९५५ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। सन् १९५६ ई० में साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, ने इसी नाम से इसका प्रकाशन किया।

इस प्रबन्ध में चौदह परिच्छेद हैं। सर्वप्रथम आमुख में आधुनिक कथा-साहित्य की प्रवृत्ति और मनोविज्ञान पर विचार किया गया है। लेखक ने बतलाया है कि हिन्दी-कथा-साहित्य ने मनोविज्ञान से प्रभाव तो ग्रहण किया है पर पूर्ण रूप से नहीं। पहला परिच्छेद 'विषय-प्रवेश' है। इसमें पहले, निबन्ध के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। मनोविज्ञान और उपन्यास पर विचार करने के अनन्तर उपन्यास की परिभाषा, व्याख्या, आंग्लसाहित्य में उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की परम्परा, कहानी की व्याख्या, कहानी की व्याख्या की उपयुक्तता, मनोवैज्ञानिक उपन्यास का टेक्नीक आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों और उनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन है। इस प्रसंग में मनोविश्लेषण-सम्प्रदाय, आचरणवादी मनोविज्ञान तथा प्रकृतिवादी मनोविज्ञान आदि आधुनिक सम्प्रदायों तथा जुंग, गेस्टाल्ट और वाटसन आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। तीसरा परिच्छेद 'प्रेमचन्द के उपन्यास और मनोविज्ञान' है। इस अध्याय में प्रेमचन्द का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उनके उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करके अध्येता ने सिद्ध किया है कि प्रेमचन्द एक परम्परापालक लेखक हैं और उनके उपन्यासों में

'आसन्नलेखकत्व' मिलता है। किन्तु प्रेमचन्द का आसन्नलेखकत्व पात्रों की मनोवृत्तियों की छानबीन का कार्य करता है। चौथे परिच्छेद में प्रेमचन्द की कहानियों में मनोविज्ञान का अनुशीलन किया गया है। उनकी कहानियों की विशेषताएं बतलाते हुए कहानियों को विभिन्न वर्गों में रखकर उनका अध्ययन किया गया है। चौथे परिच्छेद में प्रेमचन्द की कहानियों में मनोविज्ञान का अनुशीलन किया गया है।

पांचवें परिच्छेद 'जैनेन्द्र के उपन्यास और मनोविज्ञान' में जैनेन्द्र पर फ्रायड का प्रभाव दिखाते हुए उन पर गेस्टाल्ट की भी स्पष्ट झलक दिखायी गयी है। उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का अनुसंधान किया गया है। छठे परिच्छेद में जैनेन्द्र की कहानियों में मनोविज्ञान का परिशीलन है। सातवें परिच्छेद में 'अज्ञेय' के उपन्यास 'शेखर--एक जीवनी' का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन किया गया है। आठवें परिच्छेद में उनके दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' का पर्यालोचन है। नवें परिच्छेद में उनकी कहानियों में मनोविज्ञान पर विचार किय। गया है। दसवें परिच्छेद में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों और ग्यारहवें में उनकी कहानियों में मनोविज्ञान का अध्ययन है। बारहवां परिच्छेद 'आधुनिक हिंदी-उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक वस्तुसंकलन' है। तेरहवें परिच्छेद 'उपन्यास-कला का अन्तर्प्रमाण' में आधुनिक उपन्यासों में मनोविज्ञान का सिंहावलोकन करते हुए प्रमाणों तथा तर्कों के उपस्थापन द्वारा सिद्ध किया गया है कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में आत्मनिष्ठा बढ़ रही है। मनोविज्ञान के आग्रह के कारण भाषा आदि में भी परिवर्तन आ रहा है। उपसंहार में यह बतलाया गया है कि मनोवैज्ञानिकता यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक रूप है।

१३५. हिन्दी-साहित्य को मत्स्य प्रदेश की देन

[१९५५ ई०]

श्री मोतीलाल गुप्त को राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् १९५५ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनका शोध-विषय था 'हिन्दी-साहित्य को मत्स्य प्रदेश की देन'। यह प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में पृष्ठभूमि का निरूपण

है। उसके प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—मत्स्य प्रदेश की परम्परा और प्राचीनता, आधुनिक मत्स्य प्रदेश के राज्य, प्रदेश की विशेषताएं, यहां के देवता, समीपवर्ती प्रदेश का प्रभाव, अन्य प्रवृत्तियां, प्रचलित भाषा और बोलियां, प्रांत के साहित्य और संस्कृति पर प्रभाव, मत्स्य प्रदेश के राज्यों की एकता, ब्राह्मणों की प्रधानता, अन्य वर्ण, इस प्रांत की साहित्यिक परम्परा, साहित्यिक सामग्री के स्थान, कुछ पुराने साहित्यकार, लालदास, नल्लसिंह, करमा बाई, जोधराज, हस्तलिखित ग्रंथों की प्रचुरता, अलवर और भरतपुर का सापेक्ष महत्व, अनुसंधान के स्थान। दूसरे अध्याय में रीतिकाव्य का विवेचन है। अध्याय के आरम्भ में हिंदी-रीति-काव्य और काव्य-सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय देकर मत्स्य के रीतिकारों तथा उनकी प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। गोविन्द कवि, शिवारस, सोमनाथ, कलानिधि, बख्तावरसिंह के राजकवि भोगीलाल ('बख्त विलास', 'सिखनख'), हरिनाथ ('विनयप्रकाश'), राम कवि ('अलंकारमंजरी', 'छंदसार'), ब्रजचंद ('शृंगारतिलक'), मोतीराम ('ब्रजेन्द्रविनोद') और जुगल कवि ('रसकल्लोल', 'रसानन्द सिखनख', 'ब्रजेन्द्र विलास') के सिद्धांत-निरूपण की विशेषताओं का विवेचन करके कवि देव आदि के आगमन की भी चर्चा की गयी है।

तीसरे अध्याय में शृंगार काव्य का अध्ययन किया गया है। शृंगारसंबंधी सामग्री का निर्देश करके देवीदास ('प्रेमरत्नाकर'), सोमनाथ ('प्रेम पच्चीसी'), बख्तावर सिंह ('श्रीकृष्ण लीला'), मान कवि ('शिवदान चन्द्रिका'), चतुर कवि ('त्रिलोचन लीला'), भोलानाथ ('लीला पच्चीसी'), वीरभद्र ('फागुलीला'), वद्रुनाथ ('रासपंचाध्यायी'), राम कवि ('विरह पच्चीसी'), रसानन्द ('रसा-नन्दघन') आदि कवियों के शृङ्गार-वर्णन की समीक्षा की गयी है। चौथे अध्याय में भक्तिकाव्य का विवेचन है जिसमें बलदेव कवि, अलीबख्श, वीरभद्र, राम-नारायण, सोमनाथ आदि कवियों की भक्तिपरक रचनाओं की आलोचना है। पांचवें अध्याय में नीति, युद्ध, इतिहास आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य का अध्ययन किया गया है। छठे अध्याय में कलानिधि, श्रीधरानन्द, विनयसिंह आदि साहित्यकारों की गद्य-रचनाओं का अनुशीलन है। सातवें अध्याय में अनुवाद-ग्रन्थों की विचारचर्चा की गयी है। आठवें अध्याय में प्रबन्ध का उपसंहार है।

१३६. हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परम्परा

[१९५५ ई०]

श्री० स्नेहलता श्रीवास्तव का गवेषणात्मक प्रबन्ध 'हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य और उसकी परम्परा' सन् १९५५ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। यह प्रबन्ध सन् १९५८ ई० में भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, से प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रंथ में नौ अध्याय हैं। पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है जिसमें भ्रमर-गीत के अभिप्राय, उसकी आधारभूत कथा, हिंदी के भ्रमरगीत-काव्य और उससे सम्बद्ध आलोचनात्मक साहित्य की संक्षिप्त विवेचना करके अपने दृष्टिकोण और योजना का उपस्थापन किया गया है। दूसरे अध्याय में भ्रमरगीत-काव्य के आधार का अध्ययन है। 'भ्रमरगीत' के मूल अर्थ, वर्गीकरण, मूल रूप और उसके आविर्भाव का विवेचन है। तीसरे अध्याय में हिंदी-साहित्य में भ्रमरगीत-काव्य की परम्परा के क्रमिक विकास तथा एतद्विषयक सामग्री का अनुसंधान किया गया है। चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य भ्रमरगीत की धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि है। इस अध्याय में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में भारतीय उपासना-पद्धति के विकास तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण है। वैदिक साहित्य से लेकर हिंदी-भक्तिकाव्य तक के मुख्य दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे खण्ड के अन्तर्गत 'प्रतीक' की परिभाषा, महत्व आदि पर विचार करके भ्रमरगीत-काव्य में निबद्ध विविधप्रकारक प्रतीकों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पाँचवें अध्याय में 'उपालम्भ' के शास्त्रीय अर्थ तथा उसके ऐतिहासिक-सामाजिक आधार की व्याख्या की गयी है। छठे अध्याय में भ्रमरगीत-काव्य की परिस्थितियों का निदर्शन करके भक्तिकालीन भ्रमरगीत-सम्बन्धी रचनाओं एवं भ्रमरगीतकारों की समीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में रीतिकालीन परिस्थितियों तथा उस युग के प्रमुख भ्रमरगीतकारों की रचनाओं की आलोचना है। आठवें अध्याय में आधुनिक काल के भ्रमरगीत-काव्य का अध्ययन है। नवें अध्याय में भ्रमरगीत-परम्परा के विकाससूत्र का संक्षिप्त निरूपण करके भ्रमरगीत-काव्य का मूल्यांकन किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में लोकगीतों में भ्रमरगीत तथा कतिपय आधुनिक कवियों के भ्रमरगीतों का विवरण है।

१३७. हिन्दी-नीति-साहित्य

[१९५६ ई०]

श्री भोलानाथ तिवारी का प्रबन्ध 'हिन्दी-नीति-साहित्य' सन् १९५६ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। 'हिन्दी-नीतिकाव्य' के नाम से यह ग्रन्थ विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, से कुछ परिवर्तित रूप में सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

यह प्रबन्ध सत्रह अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसमें नीति की परिभाषा तथा उसके वर्गीकरण के अतिरिक्त उपलब्ध सामग्री का विभाजन किया गया है। दूसरे अध्याय से पूर्ववर्ती साहित्यों संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में निरूपित नीति का संक्षिप्त परिचय है। तीसरा अध्याय 'पूर्ववर्ती साहित्यों का हिन्दी-नीति-साहित्य पर प्रभाव' है। इसमें प्रभाव के संभाव्य स्रोतों पर विचार करते हुए भाव, शैली, अलंकार तथा छंद के क्षेत्र में प्रभाव का अध्ययन है। चौथे अध्याय में हिन्दी-नीति-साहित्य में वर्णित धर्म और आचार का विवेचन है। इसमें धर्म, ईश्वर, साधु, गुरु, संसार, शरीर, मन, माया, ज्ञान, सत्य, मांसभक्षण तथा मादक द्रव्यों का प्रयोग आदि धार्मिक और आचारिक विषयों के सम्बन्ध में नीतिकारों के विचार दिये गये हैं। छठे अध्याय का शीर्षक है 'हिंदी-नीति-साहित्य में व्यवहार तथा समाज-नीति'। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है इसमें समाज, पड़ोसी, शत्रु, मित्र, दुष्ट, सज्जन, ऋण, धन, नौकरी, आय-व्यय, मांगना, क्षमा, विनय, नम्रता, लाज, विश्वास तथा निन्दा आदि विषयक व्यावहारिक और सामाजिक नीतियों के सम्बन्ध में नीति के कवियों द्वारा व्यक्त विचार आवश्यक आलोचना के साथ दिये गये हैं। सातवें अध्याय में नीति-साहित्य में वर्णित राजा तथा राजनीति विषयक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं।

आठवां अध्याय नारी-विषयक नीति से संबद्ध है। इसमें लेखक ने मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण का कारण देते हुए, उसके (नारी के) संबंध में नीति-साहित्य में व्यक्त किये गये विचारों का विवेचन किया है। नवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों के शीर्षक, क्रम से, 'हिंदी-नीति-साहित्य में स्वास्थ्य', 'हिंदी-नीति-साहित्य में खेती', 'हिंदी-नीति-साहित्य में व्यापार' तथा 'हिंदी-नीति-साहित्य में शकुन' हैं। तेरहवें अध्याय में हिंदी-नीति-साहित्य में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन है। चौदहवां अध्याय शैली से संबद्ध है।

इसमें हिंदी-नीति-साहित्य की शैलीगत प्रधान विशेषताओं का विवेचन करते हुए नीति-साहित्य में प्रयुक्त शैलियों—उपदेशात्मक, सूक्त्यात्मक, अन्योक्ति तथा कथात्मक आदि—पर प्रकाश डाला गया है। पंद्रहवें अध्याय में नीति-साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों का तथा सोलहवें में छंदों का विवेचन है। सत्रहवें अध्याय में विषय का उपसंहार है जिसमें लेखक ने बतलाया है कि हिंदी-नीति-साहित्य में भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से मौलिक उद्भावनाएं कम ही हैं। पूर्ववर्ती साहित्यों विशेषतः संस्कृत ने हिंदी-साहित्य की इस धारा को बहुत प्रभावित किया है।

१३८. रीवां के दरबारी हिन्दी-कवि

[१९५६ ई०]

श्री विमला चतुर्वेदी का प्रबन्ध 'रीवां के दरबारी हिन्दी-कवि' (महाराज रघुराजसिंह के विशेष अध्ययन सहित) सन् १९५६ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में रीवां दरबार के आश्रित रीतिकालीन और कुछ अन्य आधुनिक कवियों का खोजपूर्ण अध्ययन किया गया है। इस प्रसंग में महाराज रघुराजसिंह का विशेष अध्ययन इष्ट रहा है। भूमिका-भाग में 'हिंदी-साहित्य में आश्रित कवियों की परम्परा' तथा रीतिकाल की विभिन्न प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में रीवां-साहित्य और महाराज रघुराजसिंह के विशेष अध्ययन के कारण पर प्रकाश डाला गया है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में रीवां राज्य की भौगोलिक स्थिति का परिचय देते हुए रीवां राज्य के इतिहास पर धर्म, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में भौगोलिक प्रभाव का आकलन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में रीवां राज्य की ऐतिहासिक रूपरेखा का परिचय देते हुए 'इतिहास का महत्व', रीवां के अनेक नामकरण व उनके कारण, प्राचीन इतिहास, वंश का नामकरण तथा बघेल वंश के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में रीवां की साहित्यिक परम्परा का अध्ययन किया गया है। विभिन्न उपशीर्षकों, 'रीवां और प्रकृति', 'नरेशों की साहित्यिक अभिरुचि'

'नरेशों का प्रभाव एवं आश्रित कवि', 'रीवां में साहित्यकारों एवं संगीतज्ञों का सम्मान', 'रीवां की साहित्यिक परम्परा का निर्माण' और 'तत्कालीन हिन्दी-साहित्य की भावधारा तथा रीवां के कवि' शीर्षकों के अन्तर्गत विषय का सविस्तार अध्ययन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में रीवां के साहित्य-निर्माण में योग देने वाले नरेशों महाराज जयसिंह, रावेन्द्र लक्ष्मणसिंह, तत्रा रावेन्द्र बलभद्रसिंह की रचनाओं का अध्ययन किया गया है। साथ ही कवयित्रियों कुन्दन कुंवरि, शिवदानि, और विष्णु कुंवरि की रचना-सम्बन्धी विशेषताओं का विवरण दिया गया है। पंचम अध्याय में दरबार के आश्रित कवियों द्वारा साहित्य-निर्माण का परिचय दिया गया है। आश्रित कवियों की परम्परा एवं महत्व की पृष्ठभूमि में महाराज रामचन्द्र के आश्रित कवि (सेन नाई, तानसेन, हरिनाथ, वीरबल), महाराज भावसिंह तथा उनके नवरत्न, महाराज अवधूतसिंह तथा उनके आश्रित कवि, महाराज अजीतसिंह तथा उनके आश्रित कवि और महाराज जयसिंह, विश्वनाथ सिंह तथा उनके आश्रित कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य दरबार-सम्बद्ध कवियों का भी अध्ययन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में महाराज रघुराजसिंह तथा उनकी रचनाओं से सम्बद्ध विशेषताओं का आकलन किया गया है। और उनके दरबार से सम्बन्धित कवियों बख्शी हनुमान, शिवदानि, कवि लखनेश पुष्कर, माखन किशोर, गोविन्द प्रसाद तथा मुंशी शिवरत्नलाल की रचनाओं के साहित्यिक महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। सप्तम अध्याय में सम्पूर्ण साहित्य का आलोचनात्मक महत्व प्रतिपादित किया गया है। इसके लिए साहित्य की परिभाषा को दृष्टिपथ में रखते हुए रीवां के गद्य-पद्य-साहित्य तथा उसकी विधाओं, महाकाव्य, खंडकाव्य, नाटक, टीकाओं आदि का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। रीवां के साहित्य-विभाजन का एक दृष्टिकोण वीरकाव्य, भक्ति-साहित्य व रीति-साहित्य का भी रहा है, और उस पर भाषा, छन्द, अलंकार, प्रकृति-चित्रण आदि की दृष्टि से भी विचार किया गया है।

परिशिष्ट में हस्त-लिखित, मुद्रित व प्रकाशित सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है। साथ ही सहायक पत्र-पत्रिकाओं का भी उल्लेख किया गया है।

१३९. पृथ्वीराज रासो की भाषा

[१९५६ ई०]

श्री नामवरसिंह को उनके प्रबन्ध 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' पर सन् १९५६ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबन्ध इसी नाम से सन् १९५६ ई० में सरस्वती प्रेस, बनारस, से प्रकाशित हुआ।

ग्रन्थ की भूमिका में पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक, साहित्यिक और सामाजिक महत्व, रासो-विषयक अध्ययन, उसकी पाठ-परम्पराओं आदि पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय 'ध्वनि-विचार' है। इसमें रासो के ध्वनि-समूह, छन्द सम्बन्धी ध्वनि-परिवर्तन, स्वर-परिनर्तन, व्यंजन-परिवर्तन, व्यंजनद्वित्व का सरलीकरण, सानुनासिकता और अनुस्वार तथा फारसी शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन का अध्ययन किया गया है। 'रूप-विचार' नामक द्वितीय अध्याय में रचनात्मक उपसर्गों और प्रत्ययों, संज्ञाओं, संख्यावाचक विशेषणों, सर्वनामों सर्वनाममूलक विशेषणों, विभिन्न प्रकार के क्रियारूपों एवं अव्ययों का अनुशीलन है। तृतीय अध्याय में कारक-सम्बन्धी विशेषताओं, पदक्रम और मिश्रवाक्य-रचना पर विचार करते हुए वाक्य-विन्यास का अध्ययन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में 'कनवज्ज समय' का सम्पादित पाठ और उसके सम्पूर्ण शब्दों का सन्दर्भ-सहित कोश दिया गया है।

'पृथ्वीराज रासो' का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तु करने वाला यह शोध-प्रबन्ध धारणोज की लघुतम रूपान्तर वाली प्रति पर आधृत है क्योंकि वह प्राचीनतम (सं० १६६७ वि०) प्रति है और उसमें भाषा के रूप भी प्राचीनतर हैं। साथ ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित, बृहद् रूपान्तर की प्रति से भी सहायता ली गयी है। 'कनवज्ज समय' रासो का मुख्य तथा केन्द्रीय भाग है। अतः उसके लगभग साढ़े तीन हज़ार शब्दों के आधार पर ही रासो की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

१४०. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना

[१९५६ ई०]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५६ ई० में श्री बच्चनसिंह को उनके प्रवन्ध 'रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। यह प्रबन्ध सन् १९५८ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।

उक्त प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में रीतिकाल के नामकरण, तत्कालीन सामन्तीय वातावरण, रीतिकाव्य के साहित्यिक प्रेरणा-स्रोतों (काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय, भक्ति-सम्प्रदाय, नायक-नायिका-भेद आदि), हिन्दी की रीति-परम्परा, रीतिकालीन काव्यों के प्रधान प्रतिपाद्य बिषय (नायक-नायिका आदि) और अलंकार-निरूपण पर भी विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रेमके स्वरूप का व्याख्यान है। काम, सेक्स और प्रेम, शारीरिक आकर्षण, शरीर, मन और आत्मा के तादात्म्य, प्रेम की अनौपचारिकता, प्रेम के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक स्वरूप, शृंगार रस तथा प्रेमभाव और प्रेम के प्रकारों का विवेचन है। तीसरे अध्याय का आलोच्य विषय रीतिकालीन कवियों का प्रेम तथा सौंदर्य-विधान है। आलम्बन के शारीरिक आकर्षण (नेत्र, वर्ण, स्तन, मुख, केश, नितम्ब, अलंकार, हाव आदि) का निरूपण करके मानसिक आकर्षण के संयोग-कालीन (शालीनता, स्वीकृति, निषेध आदि) तथा वियोग-कालीन (मानसिक आकर्षण के अन्तर्गत पूर्वानुराग, मान और प्रवास) स्वरूप की समालोचना की गयी है।

चौथे अध्याय में स्वच्छन्द काव्यधारा का विवेचन है। स्वच्छन्दतावादी प्रेम-निरूपण, लौकिक मर्यादा के अतिक्रमण, नये आदर्श, संयोग-वर्णन की सौन्दर्य-चेतना, प्रेममार्ग की दुस्तरता, वियोगजन्य प्रेम-पीड़ा की अनिर्वचनीयता तथा विविध मनोभावों का अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में रीति-कालीन नायिकाओं की वेशभूषा (वस्त्र, अलंकार, अंगराग और षोडश शृंगार) का अनुसंधान है। छठे अध्याय में प्रेम-चित्रण के नैतिक स्वर के अन्तर्गत स्वकीया के आदर्श (पातिव्रत, शील, पति की मर्यादा, कुटुम्ब आदि), परकीया-प्रेम के नैतिक पक्ष, पुरुष-नारी-सम्बन्ध तथा जीवन के अन्य पक्षों से सम्बद्ध प्रेम की समीक्षा है। सातवें अध्याय में प्रेम-व्यंजना की भाषा-शैली की आलोचना है। शब्दों के नये सम्बन्धों, शब्द-ध्वनि, चित्रोपम विशेषणों, मुहावरोंऔर लोकोक्तियों,

चित्र-योजना तथा विविध प्रकार की अलंकार-योजना का व्यापक विश्लेषण है। आठवें अध्याय में विषय का उपसंहार करते हुए रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना के साहित्यिक मूल्य का आकलन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट भी हैं—'रीतिकालीन कवियों की भगवद्भक्ति' और 'रीतिकालीन प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रेम-निरूपण'।

१४. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी

[१६५६ ई०]

श्री रघुनाथ सिंह को उनके गवेषणात्मक प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी (सन् १८५७–१६३६ ई०)' पर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने सन् १६५६ ई० में उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध पांच खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड प्रबन्ध की पृष्ठभूमि के रूप में लिखा गया है। इस खंड में दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में नारी के वैयक्तिक स्वरूप के अन्तर्गत नारी-विज्ञान (शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान) तथा नारी-जीवन के पारिवारिक रूपों (कन्या, पत्नी आदि) एवं सामाजिक स्वरूप के अन्तर्गत नारी की सामाजिक स्थिति की पूर्व मान्यताओं तथा उनके आधुनिक परिवर्तित रूप का अध्ययन है। दूसरा अध्याय आलोच्य विषय की साहित्यिक पृष्ठभूमि के रूप में लिखा गया है। जिसमें साहित्य के रूप, साहित्य-गत आदर्श एवं यथार्थ आदि का विवेचन करके हिन्दी के प्रस्तुत काल के भारतीय नारी-समाज पर विचार किया गया है।

द्वितीय खंड में भारतेन्दुयुगीन हिन्दी-साहित्य में अंकित नारी का अध्ययन किया गया है। खंड के आरम्भ में युग का सामान्य परिचय देकर उस युग के साहित्य में अभिव्यक्त रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन, नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टि, परम्परागत मान्यता पर आधारित चित्रण, रीतिकालीन रूप तथा साहित्य-गत आदर्श एवं वस्तुस्थिति की समीक्षा करके विवेचित साहित्यकारों और उनकी रचनाओं की सूची प्रस्तुत की गयी है।

तृतीय खंड का आलोच्यकाल द्विवेदी-युग (१६००-२० ई०) है। आरम्भ में सामान्य परिचय दिया गया है। तत्पश्चात् उस युग में नारी के सामाजिक

उत्थान के लिए किये गये व्यापक आन्दोलन, नारी के श्रेयस रूप के चित्रण, प्रेम के आलंबन रूप में नारी, नारी में वैयक्तिकता के विकास, पुरानी शैली की परिसमाप्ति और नयी शैली के प्रारम्भ, नारी-मनोविज्ञान, नारी-जीवन के विविध रूप, तथा साहित्यगत आदर्श एवं वस्तुस्थिति का अध्ययन किया गया है। खंड के अन्त में विवेचित साहित्यकारों और उनकी रचनाओं की सूची भी दे दी गयी है।

चतुर्थ खंड में छायावाद-युग (१९२०-३६ ई०) का अनुशीलन है। आरम्भ में सामान्य परिचय है। उसके बाद उस युग के साहित्य में चित्रित नारी का निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है—निराश प्रेम की स्थिति, नारी-रूप का आरोप, ऐन्द्रिय-शृंगार-चित्रण, नारी का प्रगतिशील रूप, नारी का सामाजिक रूप, प्रेम-कल्पना में पूर्ववर्ती रूढ़ियों का त्याग, नारी मनोविज्ञान, नारी-जीवन के विविध रूप, साहित्यगत आदर्श एवं वस्तुस्थिति। अन्त में इस युग के विवेचित साहित्यकारों और उनकी रचनाओं की सूची प्रस्तुत की गयी है।

पंचम खंड ग्रन्थ का उपसंहार है। आरम्भ में विषय की रूपरेखा और विवेचन की दृष्टि का स्पष्टीकरण है। प्रबन्ध के विवेचित काल में नारी-सम्बन्धी धारणा का क्रमिक विकास दिखलाया गया है। प्रबन्ध की समय-सीमा के पश्चात् के साहित्य और विभिन्न साहित्यांगों में नारी-चित्रण की विशेषता का निरूपण है। अन्त में प्रस्तुत प्रबन्ध का सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यांकन है।

१४२. आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री रमेश प्रसाद मिश्र को 'आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन' नामक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में मूल्यों की

परिभाषा, प्रयोजन तथा उनकी व्यापकता के लिए अर्थशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र की सीमाओं का बोध कराया गया है। दूसरे अध्याय में कला, कवि, कविता और जनता के परस्पर सम्बन्धों, समस्याओं और नवीन मूल्यांकन की विवेचना करके भारतीय और पाश्चात्य मतों की तुलना की गयी है। तीसरे अध्याय में आधुनिकता, उसके अर्थ और कारणों की व्याख्या करके ब्रिटिश सम्पर्क के विस्तार तथा (ईसाई, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि) प्रतिनिधि आन्दोलनों की विचारचर्चा है। चौथे अध्याय में संक्रान्तियुग के रूप में भारतेन्दु-युग का विवेचन है। इसमें तत्कालीन जनता और साहित्य के परस्पर अभिन्न सम्बन्ध, नयी सभ्यता और पुरानी संस्कृति के संघर्षमय रूप और उस युग के साहित्यकारों की सरल तथा वक्रतापूर्ण शैली, ब्रजभाषा-खड़ीबोली-संघर्ष तथा खड़ीबोली हिन्दी में उर्दू शब्दों के प्रयोग विषयक विवाद की समीक्षा है। पाँचवें अध्याय में द्विवेदी-युग (जिसे अनुसन्धाता ने 'सैद्धान्तिक शास्त्रीयता का युग' माना है) का अध्ययन है। उस काल के दो प्रभावशाली व्यक्तियों महावीर प्रसाद द्विवेदी और दयानन्द सरस्वती के योगदान, उस युग की पृष्ठभूमि, काव्य-रूप, वर्ण्य विषय और उपादान (मानव, प्रकृति तथा राष्ट्रीयता) काव्य-प्रकारों (महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, पद्यनिबन्ध, पत्रगीति, व्यंग्यकाव्य, गीति-काव्य) आदि का अनुशीलन है। छठे अध्याय में छायावाद युग की समीक्षा है। पूर्वपीठिका-रूप में उस युग के नामकरण और परिस्थितियों पर विचार किया गया है। छायावादी काव्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों (पाश्चात्य, बंगीय, वैष्णव, सूफी आदि), छायावाद के उत्थान, उसके विषय और उपादानों (मानवप्रेम, प्रकृति, नारी-सौन्दर्य, जिज्ञासा और प्रतीकवाद, रहस्यवाद) का और छायावादी युग के काव्यरूपों (प्रबन्ध तथा मुक्तक, गाथागीत, शोकगीत, सम्बोधनगीत, गीतिनाट्य, गद्यगीत, वेणुगीत) की समालोचना है। सातवें अध्याय में प्रगतिशील और प्रयोगवादी साहित्यकाल (सन् १६३६ से अब तक) की अभिनव चेतना (कला, राजनीति, समाज और संस्कृति में उन्मेष) प्रगतिवाद के नामकरण, उस काल की परिस्थितियों, प्रवर्त्तनकारी विचार-धाराओं (मनोविश्लेषण, गान्धीवाद की समन्वयवादी विचारधारा, मार्क्सवाद) तथा उनके प्रभाव का आकलन है। विषय और उपादानों का विश्लेषण करके काव्य-रूपों एवं भाषा-शैली की भी समालोचना की गयी है। इस शोध-प्रबन्ध में अनुसन्धाता ने आधुनिक हिन्दी-काव्य के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए व्याख्यात सामग्री की नूतन दृष्टि से परीक्षा की है।

१४३. हिन्दी-गद्य के विविध साहित्यरूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन' पर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध 'हिन्दी गद्य के विविध साहित्य-रूपों का उद्भव और विकास' नाम से किताब महल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इस प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में हिन्दी-गद्य के विकास का अध्ययन किया गया है। अनुसन्धाता ने इस विकास को पाँच कालों में विभक्त किया है। सन् १८०० ई० तक हिन्दी-गद्य का आदिकाल था, जिसमें मैथिली, राजस्थानी, ब्रजभाषा और खड़ीबोली के गद्य का विकास हुआ। दूसरा काल आरम्भिक काल है जिसकी सीमा १८०० ई०-१८७३ ई० निर्धारित की गयी है। १८७३ ई० से १९०० ई० तक हिन्दी-गद्य का प्रयोगकाल माना गया है। निर्माण-काल की अवधि १९०० ई०-१९२० ई० तक रही। १९२० ई० से १९३६ ई० तक हिन्दी-गद्य का विकास-काल रहा और १९३६ ई० से १९५० तक के समय को विस्तार-काल की संज्ञा दी गयी है।

दूसरे अध्याय में उपर्युक्त काल-विभाजन के अनुसार हिन्दी-नाटक का अध्ययन किया गया है। यह विभाजन इस प्रकार है :

१. आदिकाल	सन् १८५३ ई० तक
२. आरम्भिक काल	सन् १८५३–७३ ई० तक
३. प्रयोग-काल	सन् १८७३–९७ ई० तक
४. निर्माण-काल	सन् १८९७–१९१५ ई० तक
५. विकास-काल	सन् १९१५–१९३४ ई० तक
६. विस्तार-काल	सन् १९३४–१९५० ई० तक

तीसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यासों का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन निम्नलिखित विभाजन के अन्तर्गत किया गया है।

१. आरम्भिक-काल	१८७२–१८९१ ई० तक।
२. निर्माण-काल	१८९१–१९१८ ई० तक।
३. विकास-काल	१९१८–१९३६ ई० तक।
४. विस्तार-काल	१९३६–१९५० ई० तक।

चौथे अध्याय में हिन्दी-कहानी का अध्ययन किया गया है। हिन्दी-कहानी के विकास का विभाजन निम्नलिखित पाँच कालों में किया गया है :—

१. आरम्भिक-काल १८००–१९०० ई० तक।
२. शैशव-काल १९००–१९१० ई० तक।
३. निर्माण-काल १९१०–१९२७ ई० तक।
४. विस्तार-काल १९२७–१९३७ ई० तक।
५. आधुनिक-काल १९३७–१९५० ई० तक।

पाँचवें अध्याय में निबन्ध का अध्ययन है। निबन्ध के विकास को निम्नांकित पाँच कालों में विभक्त किया गया है :—

१. आरम्भिक काल सन् १७८२–१८७३ ई० तक।
२. शैशव-काल सन् १८७३–१९०० ई० तक।
३. निर्माण-काल सन् १९००–१९२१ ई० तक।
४. विस्तार-काल सन् १९२१–१९३५ ई० तक।
५. आधुनिक काल सन् १९३६–१९५० ई० तक।

छठे अध्याय में आलोचना का अध्ययन है। विवेचन की सुविधा के लिए उसका काल-विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

आरम्भिक काल सन् १८७२–१८९७ ई० तक।
विकास-काल सन् १८९७–१९३० ई० तक।
विस्तार-काल सन् १९३०–१९५० ई० तक।

अन्त में प्रबन्ध का उपसंहार है।

१४४. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री हिरण्मय को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत करने पर सन् १९५६ ई० में काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध इसी नाम से सन् १९५९ ई० में विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, से प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में दस अध्याय हैं। पहले अध्याय में विषय की सीमा निर्धारित करने के अनन्तर 'भक्ति' के अर्थ, प्रकार और साधनों पर विचार किया गया है। भागवत, सात्वत, पांचरात्र और वैष्णव मतों का भक्ति से संबंध निरूपित करते हुए भक्तिवादी वेदान्ती सम्प्रदायों के मतों का संक्षिप्त विवेचन है। दूसरे अध्याय में उत्तरमध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदायों की पूर्वपीठिका का विवेचन करके वज्रयान, सहजयान, पाशुपतमत, योग-परम्परा और नाथमत का अनुशीलन और निर्गुण-सगुण-भक्ति तथा सूफी सिद्धांतों का समीक्षण किया गया है।

तीसरे अध्याय में हिन्दी-प्रदेश में प्रचलित उत्तरमध्यकालीन वैष्णवों द्वारा प्रचारित भक्ति-सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार के सम्प्रदाय चार हैं—रुद्रसम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय (अचिन्त्यभेदाभेद) राधावल्लभीय तथा हरिदासी अथवा सखीसम्प्रदाय। चौथे अध्याय में कर्नाटक के उत्तरमध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदाय वीरशैवमत और उसकी भक्ति-साधना का निरूपण किया गया है। पांचवें अध्याय में वहां के उत्तरमध्यकालीन भक्ति-सम्प्रदाय की भूमिका में माध्वमतावलम्वी भक्तों और उनकी भक्ति-पद्धति का विवेचन है। छठे अध्याय में कन्नड़ के जैन-साहित्य में निहित भक्तितत्वों का विश्लेषण करते हुए परवर्ती साहित्य पर उसके प्रभाव का आकलन किया गया है। सातवें अध्याय में हिंदी-भाषी तथा कन्नड़-भाषी प्रदेशों की राजनैतिक धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की समीक्षा की गयी है। आठवें अध्याय का प्रतिपाद्य हिंदी और कन्नड़ में विविध भक्तिभावों की अभिव्यंजना है। नवें अध्याय में हिंदी और कन्नड़ साहित्य में अभिव्यक्त सगुण तथा निर्गुण मतावलम्वी भक्तकवियों की विचार-धाराओं, जाति-पांति के तिरस्कार, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, नैतिक जीवन के महत्व, गुरुमाहात्म्य और नाममहिमा आदि अनेक विषयों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा दोनों के साम्य तथा वैषम्य का उद्घाटन किया गया है। दसवें अध्याय में भक्ति-आंदोलन की देन का मूल्यांकन किया गया है। इस आंदोलन ने भाषा और साहित्य को नवीन प्रेरणा दी, सामाजिक-नैतिक स्तर को उच्च और धार्मिक दृष्टिकोण को उदार बनाया। इस प्रकार मानवीय मूल्यों की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

१४५. वैदिक भक्ति तथा हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति

[१९५६ ई०]

डा० मुंशीराम शर्मा का गवेषणात्मक प्रबन्ध 'वैदिक भक्ति तथा हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति' सन् १९५६ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। 'भक्ति का विकास' नाम से इसका प्रकाशन सन् १९५८ ई० में चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, से हुआ।

मूल प्रबन्ध में ग्यारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टियों से अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के तत्व-चिंतन के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में ईश्वर के 'पर' तथा 'अवर' या निरपेक्ष और सापेक्ष रूपों की विचार-चर्चा की गयी है। ईश्वर के स्वरूप एवं जगत् और जीव के सम्बन्ध से उसके गुणों का निरूपण है। तीसरे अध्याय में भक्ति के स्वरूप, भक्तिमार्ग, भक्ति के अंगों तथा उसकी विशेषताओं का विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में वैदिक भक्ति का अध्ययन है—उसके स्वरूप, अंग, साधन आदि की सोदाहरण मीमांसा की गयी है। पांचवें अध्याय में पांचरात्र संहिताओं, भक्तिसूत्रों, भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों, आलवार संतों एवं वैष्णव भक्त आचार्यों के आधार पर भागवत भक्ति का व्याख्यान किया गया है। छठे अध्याय का आलोच्य विषय हिंदी-साहित्य का भक्तिकाल है। इस अध्याय में भक्तिकालीन परिस्थितियों, विशेषकर धार्मिक आंदोलनों और भक्ति-सम्प्रदायों की भूमिका में तत्कालीन भक्तिकाव्य की विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् चार अध्यायों में भक्ति-काल के प्रतिनिधि कवियों की समीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में निर्गुणकाव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि कबीर के भक्ति-काव्य का विवेचन है। आठवें अध्याय में प्रेममार्गी सूफी कवियों के प्रतिनिधि मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेमपद्धति का अध्ययन है। नवें अध्याय में कृष्णभक्ति-शाखा के प्रतिनिधि कवि सूरदास का समालोचन किया गया है। दसवें अध्याय में रामभक्तिकाव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास के भक्तिकाव्य का अनुशीलन है। ग्यारहवें अध्याय में भजनीय भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, कृपा आदि की विविध दृष्टियों से वैदिक भक्ति एवं मध्यकालीन हिंदी-काव्य में अभिव्यक्त भक्ति के साम्य तथा वैषम्य का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है।

१४६. वार्ता-साहित्य का जीवनीपरक अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री हरिहरनाथ टंडन को उनके प्रबन्ध 'वार्ता-साहित्य का जीवनीपरक अध्ययन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध ग्यारह प्रकरणों में विभक्त है। पहले प्रकरण में वार्ता-साहित्य के आरम्भ पर विचार किया गया है। प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रंथों के सहारे भारतीय संस्कृति के आदिकाल से पुष्टिमार्गीय वार्ता साहित्य तक के विकास का सिंहावलोकन किया गया है। दूसरे प्रकरण में अध्ययन की आधारभूत सामग्री के रूप में प्रकाशित और हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची दी गयी है। तीसरे प्रकरण में वार्ताओं में आये हुए प्रसंगों की प्रामाणिकता की परीक्षा की गयी है। चौथे प्रकरण में वार्ता-साहित्य में आये हुए कवियों की सूची प्रस्तुत की गयी है। साथ ही अष्टछाप के अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाओं के उद्धरण तथा इतिवृत्त भी दिये गये हैं।

पांचवें प्रकरण में वार्ता के भावनात्मक और प्रसंगात्मक संस्करणों में उपलब्ध सामग्री की परस्पर तुलना करके दोनों का अंतर स्पष्ट किया गया है। छठे प्रकरण में कवियों के अतिरिक्त अन्य सेवकों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। वार्ताओं की घटनाओं के अनुसार पुष्टिमार्ग के प्रसिद्ध आचार्यों का जीवनचरित भी दिया गया है। सातवें प्रकरण में वार्ता-साहित्य में उपलब्ध कवियों और अन्य सेवकों या भक्तों के विवरण की 'भक्तमाल' के मूल और टीका में प्राप्त इतिवृत्त के साथ तुलना की गयी है। आठवें प्रकरण में वार्ता-साहित्य में उपलब्ध कवियों तथा अन्य सेवकों के नामों और जीवनवृत्त की हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में दिये गये विवरण से तुलना की गयी है। वार्ता से प्राप्त सामाजिक और ऐतिहासिक वृत्त पर भी विचार किया गया है। साथ ही हिंदू-संस्कृति की रक्षा में पुष्टिमार्ग की देन का भी महत्वांकन किया गया है।

नवां प्रकरण 'वार्ता-साहित्य का गद्य और गद्यभाषा का अध्ययन' है। इस अध्ययन के अन्तर्गत वार्ता-साहित्य में प्रयुक्त ब्रजबोली, गुजराती, फ़ारसी और साम्प्रदायिक शब्दों की सूची दी गयी है। इस प्रकरण के परिशिष्ट में वार्ता-शब्दकोष तथा मुहावरा-कोष भी संकलित कर दिये गये हैं। दसवें प्रकरण में

वार्ता-साहित्य की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इस साहित्य का साहित्यिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक महत्व प्रतिपादित किया गया है। ग्यारहवें प्रकरण में वार्ता-साहित्य के अनुशीलन के आधार पर कतिपय नवीन निष्कर्षों की स्थापना की गयी है, और प्रमाणों के आधार पर प्रचलित मान्यताओं की पुष्टि की गयी है।

१४७. काव्य में रस

[१९५६ ई०]

श्री आनन्दप्रकाश दीक्षित को उनके प्रबन्ध 'काव्य में रस' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध इसी नाम से राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सबसे पहले कवि और काव्य पर विचार किया गया है। तत्पश्चात् विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं पर विचार करते हुए काव्य की आत्मा का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार पाठक या सहृदय शब्द की व्याख्या भी प्रस्तुत की गयी है। दूसरे अध्याय में संस्कृत-साहित्य में रस-चर्चा पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्य से लेकर कुमारस्वामी और गोविन्द ठाकुर तक 'रस' के विभिन्न अर्थों की समीक्षा की गयी है। श्रव्य काव्य में रस-कल्पना के आधार का अनुसंधान किया गया है, तदनन्तर दृश्य काव्य की रसात्मकता का भी विवेचन है। तीसरे अध्याय में हिन्दी-रसशास्त्र का इतिहास वर्णित किया गया है। यह इतिहास नयनन्द से राजेश्वर चतुर्वेदी तक का है।

चौथे अध्याय में रस-सामग्री के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, हाव, सात्विक भाव तथा संचारी भाव का अध्ययन किया गया है। इसी अध्याय में स्थायी भाव तथा भाव की मनोवैज्ञानिक विवेचना भी की गयी है। पांचवें अध्याय में रसनिष्पत्ति-विषयक भरत के प्रसिद्ध सूत्र तथा उसके व्याख्याताओं की विशद समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। छठे अध्याय में [illegible] पर विचार किया गया है। भट्ट नायक से लेकर डा० छैलबिहा[illegible] तक, जिन विद्वानों ने साधारणीकरण पर अपने मत व्यक्त किये हैं, उन सब मतों की

परीक्षा की गयी है। पाश्चात्य विद्वानों और मराठी के आचार्यों के एतद्विषयक मतों की भी छानबीन की गयी है।

सातवें अध्याय में रसास्वाद के अधिकारी का निर्णय किया गया है। हिन्दी-कवि, संस्कृत के लेखक, दार्शनिक, मराठी आदि के विद्वान्, पाश्चात्य एवं अर्वाचीन भारतीय विद्वान् आदि सभी के मतों पर अवधानपूर्वक विचार किया गया है। साथ ही, रसास्वाद में छन्द एवं लय के योग पर भी विचार किया गया है। आठवें अध्याय में रसों की संख्या का विवेचन किया गया है, जो विद्वानों के लिए विवाद का विषय रहा है। नवें अध्याय में प्राचीन संस्कृत आचार्यों एवं आधुनिक विद्वानों के मतों के प्रकाश में रसाभास का अध्ययन किया गया है।

दसवें अध्याय में रसेतर सिद्धांत (अलंकार, वक्रोक्ति, गुण, वृत्ति, रीति आदि) और रस का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, रस और ध्वनि के सम्बन्ध की भी विवेचना की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में नवीन समीक्षा-शैलियां (प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणात्मक, प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी) और रस तथा नयी कविता और रस पर भी विचार किया गया है।

१४८. हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४००--१७०० ई०)

[१९५६ ई०]

श्री ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव का प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४००–१७००)' सन् १९५६ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में ग्यारह प्रकरण हैं। आरम्भ में विषय-प्रवेश है जिसमें मानव-जीवन के मनोवेगों की सृष्टि, मनोभावों में करुण-भावना के विकास, जीवन की विवश एवं [illegible]सहाय परिस्थितियों, भाग्यवाद, संस्कृत-साहित्य की रचनाओं में करु[illegible] अपभ्रंशसाहित्यगत करुण रस की परम्परा तथा चारणकालीन सा[illegible]-स[illegible]न्य करुण रस का विवेचन किया गया है। प्रथम प्रकरण में करुण रस क[illegible]र्ती-[illegible]य हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन, वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्म, समाज तथा दर्शन का अध्ययन है। दूसरे प्रकरण में लोक-साहित्य, गीत-साहित्य और गाथा-साहित्य के आधार पर हिन्दी-साहित्य में करुण भावों

के मूल रूपों की विवेचना है। तीसरे प्रकरण में मनोविज्ञानाश्रित करुण रस की शास्त्रीय समीक्षा की गयी है। चौथे प्रकरण में पौराणिक कथाओं, भक्तिनिरूपण, आध्यात्मिक स्रोत और रहस्यवाद पर प्रकाश डालते हुए धार्मिक काल में करुण रस का अध्ययन किया गया है।

पांचवें प्रकरण में विद्यापति के विरह-वर्णन में करुणभावना की छानबीन की गयी है। छठे प्रकरण में करुण रस की दृष्टि से कबीर की विरह-भावना का अनुशीलन है। सातवें प्रकरण में सूर के भ्रमरगीत में अभिव्यक्त करुण-भावना का निरूपण है। आठवें और नवें प्रकरणों में क्रमशः तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' में प्राप्त करुण तत्वों की मीमांसा की गयी है। नवें प्रकरण में मीरां के विरह गीतों, और दसवें प्रकरण में केशव की 'रामचन्द्रिका' में पायी जाने वाली करुणभावनाओं का अध्ययन है। ग्यारहवें प्रकरण में प्रबन्ध का उपसंहार करते हुए विभिन्न परिस्थितियों की भूमिका में करुण रस के विकासक्रम का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रबन्ध में शोधकर्ता ने करुण रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, उसकी सुखान्तता का निर्णय, करुण रस तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमारेखा का निर्धारण, करुण रस की दृष्टि से मध्ययुगीन काव्य की समीक्षा, आध्यात्मिक शोक की उद्भावना तथा प्रतिष्ठा का अनुशीलन एवं साहित्यिक धार्मिक एकता का उद्‌घाटन करने का प्रयास किया है।

१४९. आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त

[१९५६ ई०]

सन् १९५६ ई० में श्री जयराम मिश्र को उनके प्रबन्ध 'आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त' पर आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भूमिका और उपसंहार के अतिरिक्त बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में सिक्ख-धर्म तथा अन्य भारतीय धर्मों में उसके स्थान का प्रतिपादन है। दूसरे अध्याय में गुरुग्रन्थ साहिब के अनुसार परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है। तीसरे अध्याय में सृष्टिक्रम की विवेचना की गयी है। चौथे

अध्याय में हउमे (अहंकार) का विवेचन है। पांचवें अध्याय में माया की व्याख्या है। छठे अध्याय में जीव, मनुष्य और आत्मा का अध्ययन किया गया है। सातवें अध्याय का आलोच्य विषय मन है। आठवें से ग्यारहवें अध्याय तक हरिप्राप्ति के चार पथों (धर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) का अनुशीलन है। बारहवें अध्याय में श्री गुरुग्रन्थ साहिब जी के सर्वोपरि तत्व सद्गुरु और नाम का निरूपण है।

१५०. हिन्दी साहित्य में हास्य रस (१८७०-१९५० ई०)

[१९५६ ई०]

श्री बरसानेलाल चतुर्वेदी को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस (सन् १८७०–१९५० ई०)' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली, ने इसी नाम से सन् १९५७ ई० में किया

यह प्रबन्ध पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में जीवन में हास्य का स्थान निर्धारित किया गया है। हास्य का महत्व सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों दृष्टियों से प्रतिपादित किया गया है। दूसरे अध्याय में भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणों से हास्य का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में संस्कृत और हिन्दी साहित्य में हास्य की परम्परा का उद्घाटन किया गया है। चौथे अध्याय में हास्य रस के अभाव के कारणों का उल्लेख किया गया है।

पांचवें अध्याय में हिंदी के नाटक-साहित्य में हास्य रस का विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में हिंदी के कहानी-साहित्य का अनुशीलन करते हुए उसमें हास्य रस की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। उपन्यास में हास्य—सातवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। निबन्ध-साहित्य में हास्य रस का विवेचन आठवें अध्याय में दिया गया है। नवें अध्याय में काव्य में हास्य रस का अध्ययन किया गया है। दसवें अध्याय में हास्य रस की पत्र-पत्रिकाओं पर विचार किया गया है।

हिन्दी-साहित्य में हास्य की बहुत कुछ क्षतिपूर्ति प्रांतीय तथा विदेशी

भाषाओं के गद्य-साहित्य से हिन्दी में अनुवाद करके की गयी। अनूदित साहित्य में हास्यरस की विवेचना ग्यारहवें अध्याय में की गयी है। इस दिशा में रेडियो-रूपकों का योग भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसका अध्ययन बारहवें अध्याय में किया गया है। तेरहवें अध्याय में अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य में हास्य का अनुशीलन किया गया है। चौदहवें अध्याय में व्यंग्यचित्र (कार्टून)-साहित्य पर विचार किया गया है जिसका सर्जन ही हास्य-व्यंग्य के लिए होता है। पन्द्रहवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है।

१५१. हिन्दी में आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन

[१८७५ ई० से १९२५ ई०]

[१९५६ ई०]

श्री रामचन्द्र मिश्र को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी में आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य (सन् १८७५ ई० से १९२५ ई०) और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि दी।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खंडों में विभक्त है। ये चार खंड ग्यारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में भूमिका है और विषय का परिचय दिया गया है। स्वच्छन्दतावादी काव्य की पृष्ठभूमि का निर्देश करते हुए उसकी प्रेरक... तियों तथा प्रवृत्तियों और परिभाषा का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्या... में यूरोप में स्वच्छन्दतावादी काव्यान्दोलन की पृष्ठभूमि निर्दिष्ट की गयी है। तीसरे अध्याय में अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी काव्य की पूर्ववर्ती प्रगति तथा पूर्वयुग के कुछ प्रतिनिधि कवियों की समीक्षा की गयी है।

चौथे अध्याय में आधुनिक हिन्दी-साहित्य में स्वच्छन्दतावाद की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावादी-युग पर विचार किया गया है। पाँचवें अध्याय में भारतेन्दु-युग की स्वच्छन्दतावादी

प्रवृत्तियों का द्विवेदी-युग में किस प्रकार प्रतिरोध हुआ। सातवें अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि द्विवेदी-युग के शास्त्रीय प्रतिरोध में स्वच्छन्दवादिता की प्रगति ही हुई, इसी समय पं० श्रीधर पाठक का आगमन हुआ।

आठवें अध्याय में पं० श्रीधर पाठक की जीवनी के सूत्रों के आधार पर उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। नवें अध्याय में पाठक जी की कृतियों का सामान्य परिचय दिया गया है। दसवें अध्याय में पाठक जी की मौलिक रचनाओं का विस्तृत विवेचन तथा उनके द्वारा किये गये अनुवाद-कार्य का भी अध्ययन किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में श्रीधर पाठक के बाद की स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा की प्रगति का सिंहावलोकन किया गया है। इस परम्परा ने अनेक कवियों को प्रभावित किया। उनमें प्रमुख हैं—'पूर्ण', शुक्ल, प्रसाद आदि। अन्त में ग्रन्थ का उपसंहार है।

१५२. कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर)

[१९५६ ई०]

श्री अम्बाप्रसाद 'सुमन' को उनके प्रबन्ध 'कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर)' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में ग्यारह प्रकरण हैं। इन प्रकरणों के अनेक विभाग और इन विभागों में अनेक अध्याय हैं। पहले प्रकरण के पहले विभाग के पाँच अध्यायों में सिंचाई के साधन, यन्त्र और उपकरण सम्बन्धी शब्दावली का अनुसंधान किया गया है। दूसरे विभाग के चार अध्यायों में जुताई, सुहगियाई और खुदाई सम्बन्धी साधनों, यन्त्रों तथा उपकरणों की शब्दावली का अध्ययन है। तीसरे विभाग में उगी हुई खेती की रक्षा के साधन सम्बन्धी तथा चौथे विभाग में फसल काटने, ढोने और तैयार करने के साधन, औजारों और वस्तुओं की शब्दावली की गवेषणा की गयी है।

दूसरे प्रकरण के पहले विभाग के तीन अध्यायों में खाद, जुताई और बीज

विषयक शब्दावली; दूसरे विभाग के तीन अध्यायों में बुवाई, नराई, खुदाई और भराई विषयक शब्दावली; तीसरे विभाग के तीन अध्यायों में कातिक की फसल, वैशाख की फसल, पालेज और बारी तथा चौथे विभाग के दो अध्यायों में खलिहान और रास सम्बन्धी शब्दावली का संकलन किया गया है।

तीसरे प्रकरण में केवल दो अध्याय हैं, जिनमें खेतों और उनके नामों का विवेचन किया गया है। चौथे प्रकरण के दो अध्यायों में जंगली पशु और जीव-जन्तुओं से सम्बद्ध शब्दावली का विवेचन है। पांचवें प्रकरण के चार अध्यायों में क्रमशः बादल, वर्षा, हवाओं, मौसम और लोकोक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली शब्दावली का संग्रह किया गया है। छठे प्रकरण के दो अध्यायों में कृषि तथा कृषक से सम्बन्धित पशुओं के नामों का संकलन है। सातवें प्रकरण के चार अध्यायों में पशुओं से संबद्ध वस्तुओं और किसान की सांकेतिक शब्दावली संकलित की गयी है।

आठवें प्रकरण के दो अध्यायों में किसान के घर और घेर विषयक शब्दावली का अध्ययन है। नवें प्रकरण के पहले विभाग के दो अध्यायों में पुरुषों के गृह-उद्योग-विषयक शब्दावली और दूसरे विभाग के पांच अध्यायों में स्त्रियों के गृह-उद्योग से सम्बद्ध शब्दावली का संग्रहण किया गया है। दसवें प्रकरण के सात अध्यायों में बर्तन, खिलौनों और सन्दूकों से सम्बद्ध शब्दावली है। ग्यारहवें प्रकरण के सात अध्यायों में पहनाव-उढ़ाव, साज-सिंगार, और खान-पान के शब्द हैं। सम्पूर्ण प्रथम खंड में ३९ चित्र भी हैं।

द्वितीय खंड में चार प्रकरण हैं। पहले प्रकरण के बत्तीस अध्यायों में नाई, कहार, धोबी, खटीक, तेली, गड़रिया आदि की व्यावसायिक शब्दावली दी गयी है। तीसरे प्रकरण में यात्रा के विभिन्न साधनों से सम्बद्ध शब्दावली है। चौथे और अन्तिम प्रकरण में धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित शब्दावली का संकलन है।

१५३. मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में समाज

[१९५६ ई०]

श्री गणेशदत्त को उनके प्रबन्ध 'मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में समाज' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि दी।

इस प्रबन्ध में उन्नीस अध्याय हैं। पहला अध्याय 'साहित्य और समाज' है। इस अध्याय में साहित्य और समाज के सम्बन्ध पर व्यापक रूप से विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में संस्कारों का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में भोजन और मादक द्रव्यों का अनुशीलन किया गया है। चौथे अध्याय में आमोद-प्रमोद एवं उनके साधनों की तथा पांचवें अध्याय में उत्सव और त्यौहारों की विवेचना की गयी है। छठे अध्याय में रोगों और उनकी चिकित्सा की मध्ययुगीन साहित्यिक अभिव्यक्ति की समीक्षा की गयी है। आठवें अध्याय में यह दिखाया गया है कि मध्ययुग में आध्यात्मिक उन्नति के साधनों को किस प्रकार साहित्यिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। नवें अध्याय में जातियों पर विचार किया गया है। दसवें अध्याय में मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का अनुशीलन करते हुए तत्कालीन समाज की रहन-सहन, मकान आदि की व्यवस्था का अनुसंधान किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में समाज और शिष्टाचार की विवेचना की गयी है। बारहवें अध्याय में सामाजिक जीवन में नित्यप्रति काम आने वाली वस्तुओं की गवेषणा की गयी है। तेरहवें अध्याय में प्रतिपादित किया गया है कि जनता के विश्वासों को किस प्रकार समकालीन साहित्य में अभिव्यक्ति मिल सकी। चौदहवें अध्याय में ग्राम्य जीवन की साहित्यिक अभिव्यंजना का अध्ययन किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में मध्ययुगीन साहित्य के आधार पर नगरों के तत्कालीन जीवन पर प्रकाश डाला गया है। सोलहवें अध्याय का प्रतिपाद्य राजनैतिक जीवन है। सत्रहवें अध्याय में धार्मिक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है। अठारहवें अध्याय में १६वीं और १७वीं शताब्दी में गद्य-साहित्य और समाज पर विचार किया गया है। उन्नीसवां अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है।

१५४. सन्त सुन्दरदास

[१९५६ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में श्री महेशचन्द्र सिंघल का प्रबन्ध 'सन्त सुन्दरदास' पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया।

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय में सुन्दरदास की जीवन-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री पर विचार करके उनके जीवनचरित पर प्रकाश डाला गया है और

उसके बाद उनके सम्प्रदाय की चर्चा की गयी है। दूसरे अध्याय में सुन्दरदास के समय की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में सुन्दरदास के द्वारा प्रणीत कुल मिलाकर छोटे-बड़े बयालीस ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय में सुन्दरदास के आध्यात्मिक विचारों की मीमांसा है। उनके साहित्य में प्रतिपादित ज्ञान, योग और भक्ति का विवेचन किया गया है। पांचवें अध्याय में अवतार, देवता, स्वर्ग-नरक आदि से संबंध रखने वाले मतों के (सुन्दरदास द्वारा किये गये) खंडन का निरूपण है। छठे अध्याय में सुन्दरददास के गुरु, सत्य, झूठ, वैराग्य आदि विषयक उपदेशों का विवेचन है। सातवें अध्याय में सुन्दरदास की भाषा और उस पर पड़ने वाले राजस्थानी, संस्कृत, अपभ्रंश, खड़ीबोली, पंजाबी, गुजराती तथा फ़ारसी के प्रभावों की समीक्षा की गयी है। आठवें अध्याय में सुन्दरदास की शैली का विवेचन है। नवें अध्याय में उनके काव्य में अभिव्यक्त रसों और भावों की, दसवें में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की तथा ग्यारहवें अध्याय में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों की आलोचना की गयी है। बारहवें अध्याय में उनके व्यक्तित्व की कतिपय विशेषताओं (पांडित्य, अनुभव, मौलिकता आदि) का उद्घाटन किया गया है। तेरहवें अध्याय में कबीर, दादू और सुन्दरदास का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अन्तिम अध्याय में सुन्दरदास के काव्य का मूल्यांकन है।

१५५. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन

[१९५६ ई०]

पं० विनयमोहन शर्मा को उनके प्रबन्ध 'हिंदी को मराठी सन्तों की देन' पर सन् १९५६ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इस प्रबन्ध को इसी नाम से बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, ने सन् १९५७ ई० में प्रकाशित किया।

प्रबन्ध का उद्देश्य दक्षिणापथ के मराठी सन्तों द्वारा की गयी हिन्दी-सेवा का महत्वांकन करना है। इस प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में हिन्दी और मराठी भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना की गयी है। दोनों के मूल स्रोत की चर्चा करते हुए हिन्दी की उपबोलियों और मराठी के परस्पर

सम्बन्ध पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। साथ ही हिन्दी और मराठी ने परस्पर एक दूसरे को कितना और किस रूप में प्रभावित किया है, इसका भी निर्देश किया गया है।

दूसरे अध्याय में दक्षिणापथ में हिन्दी के संचार का व्यापक विवेचन है। लेखक यह नहीं मानता कि मुसलमानों के संसर्ग से दक्षिण में हिन्दी का प्रवेश हुआ। उसका विचार है कि राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक आदि अनेक कारणों से मुसलमानों के दक्षिण-प्रवेश से पूर्व ही हिन्दी वहां की प्रादेशिक भाषा बन चुकी थी। हां, इतना अवश्य है कि मुसलमानों के शासन से दक्षिण में हिन्दी की एक शैली (दक्खिनी हिन्दी) का प्रादुर्भाव हुआ, और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी का प्रचार हुआ।

तीसरे अध्याय में महाराष्ट्र के प्रमुख सन्त-सम्प्रदायों (नाथ, महानुभाव, वारकरी, दत्त और समर्थ) का सिंहावलोकन किया गया है जिससे साम्प्रदायिक-विचार-प्रचुर सन्तवाणियों को समझने में सुविधा हो सके।

चौथे अध्याय में दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व यादवकालीन सन्तों की हिन्दीवाणियों का अध्ययन किया गया है। चक्रधर, महदायिसा, दामोदर पंडित, ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई के संक्षिप्त परिचय के साथ उनके हिन्दी-पदों पर विचार किया गया है। यह अध्ययन बारहवीं से लेकर चौदहवीं शती तक दक्षिण में प्रचलित हिन्दी के अध्ययन में विशेष सहायक हैं। इसी काल में हिन्दी की पदशैली के विकास के प्रमाण मिलते हैं।

पांचवें अध्याय में महाराष्ट्र के मुसलमानकालीन नामदेव, त्रिलोचन, सेना, एकनाथ, जनजसवन्त आदि सन्तों के हिन्दी-पदों पर विचार किया गया है। लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नामदेव ही उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति के प्रथम उन्नायक थे। मराठी सन्त जनजसवन्त गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य थे। इससे लेखक का अनुमान है कि दक्षिण में भी तुलसी की शिष्य-परम्परा रही होगी। इस काल की अन्य अवेक्षणीय विशेषताएँ हैं सन्त भानुदास के पदों में प्रतिपादित बालकृष्ण-लीला और सन्त एकनाथ के व्यंग्य-काव्य भारुड़ों का सर्जन।

छठे अध्याय में शिवाजीकालीन प्रमुख मराठी सन्तों तुकाराम, रामदास, कल्याणस्वामी, रंगनाथ, केशवस्वामी आदि के पदों पर विचार किया गया है। इस अध्याय में तुकाराम की 'अस्सल गाथा' के आधार पर तत्कालीन व्यावहारिक हिन्दी-भाषा के रूप की विवेचना करते हुए लेखक ने सिद्ध किया है कि हिन्दी का किंचित् परिवर्तन के साथ प्रायः वही रूप आज भी प्रचलित है। लेखक ने

उसे 'मराठी हिन्दी' की संज्ञा दी है।

सातवें अध्याय में पेशवा और पेशवा-उत्तर काल के मध्य मुनीश्वर शिवदिन केसरी, अमृतराय, देवनाथ, दयालनाथ, गुरावराव आदि सन्तों के जीवन और कर्तृत्व पर प्रकाश डाला गया है। इन सन्तों की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का प्राचुर्य है, भावों में सूफ़ियाना रंग भी है।

आठवें अध्याय में मराठी सन्तों द्वारा प्रयुक्त छन्दों और काव्य प्रकार (ओवी, अभंग, भारुड़, आरुड़ आदि) की चर्चा है। सन्त कवियों के पद स्वच्छन्द हैं। परिशिष्ट में कुछ सन्तों की वाणियां संकलित हैं। लेखक ने उन्हें प्राचीन पांडुलिपियों से संकलित किया है।

१५६. भक्तिकालीन हिन्दी-कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियां—रामभक्ति शाखा

[१९५६ ई०]

श्री रामनिरंजन पांडेय को उनके प्रवन्ध 'भक्तिकालीन हिंदी-कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियां—रामभक्ति-शाखा' पर नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में रामभक्ति-शाखा की पूर्वपीठिका निर्दिष्ट की गयी है। इस अध्याय में गोस्वामी तुलसीदास के समय की कुछ पूर्व प्रचलित परम्पराओं तथा उनमें वर्णित रामभक्ति आदि प्रवृत्तियों का अनुशीलन किया गया है। अथर्ववेद से लेकर रामानुज और रामानन्द तक के विचारकों की साधना-पद्धति पर विचार किया गया है। अग्रदास तथा कील्हदास आदि कवियों की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

दूसरे अध्याय में सर्वप्रथम रामभक्त कवि तुलसीदास के जीवन-दर्शन का उपस्थापन किया गया है। इस अध्याय में तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के प्रथम सोपान में प्रतिपादित 'विमल सन्तोष' का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। तीसरे अध्याय में 'रामचरितमानस' के द्वितीय सोपान में प्रतिपादित 'विमल विज्ञान वैराग्य' पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य 'रामचरितमानस' के तृतीय सोपान में तुलसीदास द्वारा निरूपित 'विमल वैराग्य' है। पांचवें अध्याय में विशुद्ध-सन्तोषमय जीवन का स्वरूप-निरूपण है। जीवन के विविध पक्षों पर विशुद्ध-सन्तोष का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी दिग्दर्शन कराया गया है। सामाजिक और दार्शनिक मर्यादाओं, परमार्थ आदि पर विशुद्धसन्तोष के प्रभाव का आकलन किया गया है। इस अध्याय के अध्ययन का आधार 'रामचरितमानस' का 'विशुद्धसन्तोषसम्पादनो नाम' चतुर्थ सोपान है। छठे अध्याय में 'मानस' के पंचम सोपान में प्रतिपादित 'विमल ज्ञान' और सातवें अध्याय में 'मानस' के षृष्ठ सोपान में प्रतिपादित 'विमल विज्ञान' का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार आठवें अध्याय में, 'मानस' के सप्तम सोपान में उपस्थापित 'अविरल हरिभक्ति' का पर्यालोचन किया गया है।

नवें अध्याय में तुलसीदास की अन्य कृतियों का अनुशीलन किया गया है। दसवें अध्याय में विभिन्न प्रकरणों के अन्तर्गत डा० निकल का खण्डन किया गया है तथा तुलसी-साहित्य में साभिप्राय विशेषण की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

ग्यारहवें अध्याय में तुलसीदास के अतिरिक्त रामभक्ति-शाखा के अन्य भक्तिकालीन साहित्यिकों का विवेचन है। इस क्रम के अन्तर्गत स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान, हृदयराम, केशवदास, रहीम, सेनापति, बाबा रामचरणदास और जीवाराम जी के साहित्य का संक्षिप्त अध्ययन किया गया है।

१५७. मालवी लोकगीत

[१९५६ ई०]

नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में श्री चिन्तामणि उपाध्याय को उनके प्रबन्ध 'मालवी लोकगीत' पर पी–एच० डी० की उपाधि दी।

१५८. चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचारों का अध्ययन

[१९५६ ई०]

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित का प्रबन्ध 'मलूकदास, सुन्दरदास और चरनदास के दार्शनिक विचारों का अध्ययन' सन् १९५६ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। सर्वप्रथम उपक्रम में भारतीय दर्शन की विचारधारा का सामान्य विवेचन है। पहले अध्याय का प्रतिपाद्य मलूकदास, सुन्दरदास और चरनदास का युग है। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों का अनुशीलन करते हुए उन कवियों पर युग की प्रतिक्रिया का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय में सुन्दरदास और चरनदास के विषय में पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए दोनों कवियों का जीवनवृत्त दिया गया है। तीसरे अध्याय में सुन्दरदास तथा चरनदास के साहित्य का परिशीलन है। सुन्दरदास के ग्रन्थों की संख्या तथा उपलब्ध ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। चरनदास के साहित्य का विषयानुसार विभाजन किया गया है और ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है।

चौथा अध्याय 'मलूकदास, सुन्दरदास तथा चरनदास की धार्मिक विचारधारा' है। निर्गुण ब्रह्म, नाम, सद्गुरु, सन्त, सत्य, आत्मा, माया, जगत्, शून्य, मन, विश्वास और ज्ञान आदि शीर्षकों के अन्तर्गत इन कवियों की धार्मिक विचारधारा का अध्ययन किया गया है। पांचवां अध्याय 'प्रबोधन' है जिसमें इन कवियों के विरहानुभूति, नारी, सूरमा, तृष्णा, दुःख और चेतावनी से सम्बद्ध विचारों की समीक्षा है।

छठे अध्याय में मलूकदास, सुन्दरदास तथा चरनदास की रहस्यानुभूति का विवेचन है। रहस्यवाद व रहस्यवादी की परिभाषा, रहस्यवाद के प्रकार, रहस्यानुभूति का विकास, रहस्यानुभूति की विभिन्न स्थितियां इस अध्याय के अन्य प्रतिपाद्य हैं।

सातवें अध्याय 'मलूकदास, सुन्दरदास तथा चरनदास के आध्यात्मिक साधन' में योग का महत्त्व एवं परिभाषा निर्धारित करते हुए योगी के भेदों का उल्लेख किया गया है। मलूकदास के योग-विषयक ग्रन्थों का परिचय देते हुए उनके योग-

वर्णन के आधार का अनुसन्धान किया गया है। इसी प्रकार सुन्दरदास और चरनदास के योग-विषयक ग्रन्थों पर भी दृष्टिपात किया गया है। सुन्दरदास द्वारा वर्णित अनेक प्रकार के योगों का भी निरूपण है।

आठवां अध्याय 'दादूपन्थ एवं चरनदासी पन्थ' है। परिशिष्ट में मलूकदास का जीवनवृत्त, रचनाएं तथा सुन्दरदास एवं चरनदास की काव्य-दृष्टि पर विचार किया गया है।

१५६. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-काव्य

[१९५६ ई०]

श्री रामचन्द्र तिवारी को उनके प्रबन्ध 'शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-काव्य' पर लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

प्रस्तुत शोध-कृति में उपर्युक्त सम्प्रदाय का ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है। पूरा अध्ययन आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में निर्गुणधारा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उपस्थित की गयी है और प्रस्तुत सम्प्रदाय को भारतीय चिन्तन की क्रमिक विकास-शृंखला की एक कड़ी के रूप में देखा गया है। दूसरे अध्याय में शिवनारायणी सम्प्रदाय से सम्बद्ध आधारभूत सामग्री की परीक्षा की गयी है। इसी अध्याय में लेखक ने चन्दवार, ससना, बड़सरी, रतसड़परसिया, गाजीपुर, कानपुर आदि सम्प्रदाय के प्रमुख धाम-घरों में बिखरी हुई हस्तलिखित साम्प्रदायिक सामग्री की ऐतिहासिक परीक्षा करके सन्त शिवनारायण की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

तीसरे अध्याय में सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख सन्त कवियों के जीवन और कर्तृत्व का प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय की समस्त सामग्री लेखक के निजी खोज पर आधृत है। सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त कवियों में रामनाथ साहब, लखनराम साहब, गेंदाराम साहब, जुवराज और लेखराज उल्लेखनीय हैं। चौथे अध्याय में सन्त शिवनारायण की रचनाओं का परिचय दिया गया है और उनकी प्रामाणिकता की जांच की गयी है। पांचवें अध्याय में इस सम्प्रदाय का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रसंग में भारत में

साम्प्रदायिक भावना के विकास का संक्षिप्त इतिहास भी दिया गया है। इस अध्याय में सम्प्रदाय के स्वरूप और संगठन के अध्ययन के साथ ही उसके पर्वों, त्योहारों, संस्कारों और पूजा-प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया गया है।

छठे अध्याय में सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों, साधनाओं और धार्मिक विश्वासों का विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। लेखक ने आवश्यकतानुसार उपर्युक्त अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का आधार भी ग्रहण किया है। सातवें अध्याय में सम्प्रदाय के सन्त कवियों के काव्य का कलात्मक मूल्यांकन किया गया है। लेखक का दावा है कि लोक-जीवन की सरल सरस अनुभूतियों की इतनी मधुर अभिव्यक्ति कदाचित् ही किसी अन्य सन्त-सम्प्रदाय के कवियों द्वारा की गयी होगी। विशेषतः 'सोहर' छन्द तो अपने सौष्ठव में बेजोड़ हैं। आठवें अध्याय में सम्प्रदाय के कवियों की भाषा-शैली एवं छन्दोयोजना पर विचार किया गया है। इन सन्तों के गीत तो भोजपुरी बोली में हैं, किन्तु दोहा-चौपाई में रचित कृतियों में अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार इस कृति में आठ अध्यायों के अन्तर्गत शिवनारायणी सम्प्रदाय का पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। लेखक की दृष्टि में इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी आध्यात्मिक उपलब्धि 'सन्तदेश' की भावना की उद्भावना है। सन्त शिवनारायण के अनुसार काल और कर्म के बन्धनों से मुक्त होकर संसारी जीव अन्ततः सन्तदेश में पहुंचकर 'वेलास' करता है। यह सन्तदेश में वेलास की भावना वस्तुतः अद्वैतवादियों की 'मुक्ति', बौद्धों की 'निर्वाण', योगियों की 'समाधि', बौद्ध-सिद्धों की 'महासुह' और अवतारी पुरुषों के नित्यलोक की 'लीला-विलास' की परम्परागत भावना का समन्वित विकास है। इस सम्प्रदाय के सभी कवियों ने सन्तदेश का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। सम्प्रदाय का पूरा संगठन ही समन्वय की भावना से प्रेरित है।

१६०. नाथपन्थ के हिन्दी-कवि

[१६५६ ई०]

श्री शान्तिप्रसाद चन्दोला का प्रबन्ध 'नाथपन्थ के हिन्दी-कवि' सन् १६५६ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया।

प्रस्तुत प्रवन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में नाथ-परम्परा की भूमिका निर्दिष्ट है। नाथमत का वैशिष्ट्य वतलाते हुए शिव-शक्ति-योग-सम्प्रदायों में 'नाथ' शब्द का अनुसन्धान किया गया है। पुरातत्त्व तथा साहित्यिक सामग्री में शिव-शक्ति-योग के संकेत और विवरण दिये गये हैं। विदेशी भाषाओं के भी एतद्विषयक विवरण दिये गये हैं और आदि नाथ आदि पर विचार किया गया है।

दूसरे अध्याय में कुछ एक नाथसिद्धों की ऐतिहासिकता पर विचार किया गया है। इस क्रम में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, भर्तृहरि, हाजी बावा, चर्पटनाथ, नागार्जुन, कृष्णपाद, सत्यनाथ, अजयपाल आदि सिद्धों की ऐतिहासिकता का विवेचन किया गया है। तीसरा अध्याय 'नाथ-पन्थ' है। इस अध्याय में नाथ-पंथ का विस्तृत परिचय दिया गया है। विभिन्न प्रकार के योगियों, पन्थ के विविध संस्कारों, मठों और तीर्थस्थानों, वर्तमान नाथ-गद्दियों और उनके अधिकारियों आदि का अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है।

चौथे अध्याय 'दर्शन' में पिंडोत्पत्ति, जीव, जगत् और ईश्वर, परमपद, पूर्णत्व अथवा शिवत्व, देहतत्त्व-विज्ञान, पिंड-संविति आदि शीर्षकों के अन्तर्गत नाथ-पंथ के दर्शन का उपस्थापन है। पांचवां अध्याय 'साधनाप्रणाली' है। इसमें पुरुषकार-तत्त्व की विवेचना है। सर्वाधिष्ठानरूप सद्गुरु और गुरुत्व, नादानुसन्धान और नाथ की चार दशाओं आदि की व्याख्या तथा शून्य-साधना का अध्ययन है। कामसिद्धि का परिचय प्रस्तुत करते हुए वियोग और योग-मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। बिन्दुयोग, वायुयोग, वनस्पतियोग, खेचर-योग आदि का प्रतिपादन है। रसवाद तथा खेचरी तत्त्व की भी चर्चा की गयी है।

छठे अध्याय 'नामवाणियों का साहित्यिक मूल्यांकन' में नाथ-सम्प्रदाय के साहित्य की भाषा, छन्द, कथोपकथन-शैली और गद्य, सामाजिक चेतना, काव्यात्मकता, उलटबांसी अथवा विपर्यय, रस-अलंकार, मर्म की अभिव्यक्ति, रहस्यवाद आदि अनेक दृष्टियों से समीक्षा की गयी है। परिशिष्ट में कुछ अप्रकाशित नाथ-वाणियां संकलित हैं। आधारभूत सामग्री प्रस्तुत की गयी है तथा प्रमुख नाथ-तीर्थों के मानचित्र दिये गये हैं।

१६१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गांधीवाद—एक अध्ययन
[१९५६ ई०]

कु० शकुन्तला वर्मा को उनके प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गांधीवाद —एक अध्ययन' पर लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह प्रबन्ध अभी तक अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। विषय-प्रवेश में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन है। जिसमें महात्मा गांधी के पूर्व धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों, भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्म और विकास, महात्मा गांधी की जीवनी और उनके महासभा के साथ सहयोग की संक्षिप्त चर्चा की गयी है। पहले अध्याय में निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत गांधीवाद का विश्लेषण है :

१. गांधीवाद के मुख्य सिद्धान्त, अहिंसा, अहिंसा का इतिहास, गांधीजी का अहिंसा-सिद्धान्त।
२. गांधीवाद का आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण, सत्य।
३. गांधीवाद के धार्मिक सिद्धान्त—रामनाम और प्रार्थना, उपवास, नैतिक दृष्टिकोण, सत्याग्रह।
४. गांधीवाद के सामाजिक सिद्धान्त—साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता, मद्य-निषेध, स्त्रियों का उन्नयन।
५. गांधीवाद के राजनैतिक सिद्धान्त—स्वतन्त्रता-आन्दोलन, असहयोग, सविनय अवज्ञा, रामराज्य-भावना, पंचायतराज, राष्ट्रीय ध्वज।
६. गांधीवाद के आर्थिक सिद्धान्त—गांधीवाद और समाजवाद, खादी और चरखा, गृह-उद्योगों का प्रसार, सहकारिता, शिक्षा-विषयक सिद्धान्त, भाषा-साहित्य-सम्बन्धी विचार, ग्राम-सुधार।

दूसरे अध्याय में गांधी-युग के पूर्व आधुनिक हिन्दी-साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत करके उसकी विकासकारिणी प्रगतिशील शक्तियों और उस पर पड़ने वाले गांधीवाद के प्रभावों का निरूपण है। तीसरे अध्याय में आधुनिक हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त गांधीवादी विचारधारा का, पहले अध्याय में बतलायी गयी विशेषताओं के आधार पर, अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में उपन्यास का संक्षिप्त विकास प्रदर्शित करके उसमें गांधीवादी विचारों की खोज की गयी है। पांचवें अध्याय में उसी क्रम और दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-कहानियों में गांधीवाद के प्रभावों का आकलन है। छठे अध्याय में नाटकों का विकास-क्रम

दिखलाकर उन पर गांधीवादी अहिंसा, समाज-सुधार, ग्राम-सुधार आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रभावों की विवेचना की गयी है। सातवें अध्याय में हिन्दी-साहित्य के अन्य रूपों (निबन्ध, आलोचना, जीवन-चरित्र और सामाजिक साहित्य) पर पड़ने वाले गांधीवादी प्रभावों का अनुशीलन है।

१६२. सूर की काव्यकला

[१९५६ ई०]

श्री मनमोहन गौतम को उनके प्रबन्ध 'सूर की काव्यकला' पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। इसी नाम से इसका प्रकाशन हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, ने सन् १९५६ ई० में किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात प्रकरणों में विभक्त है। सर्वप्रथम पृष्ठभूमि के अन्तर्गत काव्य और कला के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की परीक्षा की गयी है। काव्य-शिल्प के उपकरण तथा सूर की आधारभूमि की विवेचना की गयी है। सूर के ग्रन्थों तथा उनके वर्ण्य विषयों की भी निर्धारणा की गयी है।

पहला प्रकरण 'सूर का गीतिकाव्य' है। गीतिकाव्य का स्वरूप-निर्धारण करने के अनन्तर सूर के गीतिकाव्य का वर्गीकरण किया गया है। सूर के गीति-काव्य में वस्तुगत आधार की गवेषणा की गयी है। प्रबन्धात्मक गीतात्मकता को स्पष्ट किया गया है। सूर के गीतिकाव्य का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उनके गीतों के सहज गुणों का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकरण में वर्ण-योजना, वर्ण-संगीत, वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगति, गुण (माधुर्य, प्रसाद, ओज) शब्द-शक्ति, ध्वनि, चित्रणकला आदि के आधार पर सूर के अभिव्यंजना-कौशल की विशद समीक्षा की गयी है।

तीसरे प्रकरण में सूर की अप्रस्तुतयोजना और उक्तिवैचित्र्य पर विस्तार से विचार किया गया है। इस विवेचन के उपरान्त अनुसन्धाता ने सर्वेक्षण द्वारा कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। सूर ने अप्रस्तुतयोजना में प्रायः कवि-परम्परा का ही अनुसरण किया है, परन्तु कहीं-कहीं वे स्वतन्त्र भी हो गये हैं। उन्होंने प्रायः अलौकिक उपमानों का आश्रय लिया है। ग्रामीण उपमानों का प्रयोग सूर की

अपनी विशेषता है। अन्त में, यह योजना रसोत्कर्ष में साधक है या बाधक—इस पर भी विचार किया गया है।

चौथा प्रकरण 'सूर की भाषा' है। सबसे पहले ब्रजभाषा के स्वरूप-निर्माण के विकास में सूर के योग का महत्वांकन किया गया है। इसके उपरान्त सूर की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भाषा के गुणों के साथ-साथ दोषों का भी वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अन्त में दिखाया गया है कि भाषा पर सूर का पूर्ण अधिकार था।

पांचवें प्रकरण में सूर की पदरचना का अनुशीलन किया गया है। सूर न केवल कवि थे बल्कि संगीतज्ञ भी थे और इस संगीतात्मक मनोवृत्ति का उनकी पद-रचना पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। इस प्रकरण में रागरागिनी-पद्धति के प्रकाश में सूर के पदों का अवलोकन किया गया है, साथ ही इस पद-रचना के अन्तर्गत छन्द-विधान का भी अध्ययन किया गया है।

छठे प्रकरण में सूर का कला पर पूर्ववर्ती कवियों की कला के प्रभाव का आकलन किया गया है। अपने परवर्ती अथवा समसामयिक कवियों पर सूर की काव्यकला का प्रभाव भी निरूपित किया गया है। इस प्रसंग में भक्तिकाल से लेकर आधुनिक युग तक के ब्रजभाषा के अनेक कवियों का सूर से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

सातवें प्रकरण में सूर की काव्यकला का मूल्यांकन किया गया है। परिशिष्ट में गीतिकाव्य की परम्परा विस्तार से प्रदर्शित की गयी है।

१६३. हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य

[१९५६ ई०]

श्री सत्यदेव चौधरी का प्रबन्ध 'हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' सन् १९५६ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, से सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य-कवि, वर्ण्य विषय की दृष्टि से, तीन प्रकार के हैं—रसनिरूपक, अलंकारनिरूपक और विविधकाव्यांगनिरूपक। प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्तिम प्रकार के आचार्यों को 'प्रमुख आचार्य' कहा गया है। और तद-

नुसार निम्नांकित पाँच आचार्यों का काव्यशास्त्रीय विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास तथा प्रतापसाहि।

इस ग्रन्थ में ग्यारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम 'विषय-प्रवेश' है। इसमें संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण, उद्देश्य और निरूपणशैली की दृष्टि से रीतिकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र की संस्कृत-काव्यशास्त्र से तुलना, अनुसन्धेय विषय पर उपलब्ध सामग्री का विहंगावलोकन, प्रस्तुत प्रबन्ध की आवश्यकता तथा उसकी विषयनिरूपण-प्रणाली, विशिष्टता एवं मौलिकता, विवेच्य आचार्यों के उपलब्ध जीवनवृत्त और उनके ग्रन्थों के वर्ण्य विषय पर विचार किया गया है।

द्वितीय से दशम तक के अध्यायों में विभिन्न काव्यांगों को लक्ष्य में रखकर उक्त पाँच आचार्यों द्वारा निरूपित सामग्री का विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अध्याय की पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत आचार्यों द्वारा विवेचित काव्यांगों का निरूपण भी किया गया है। इस प्रकार द्वितीय अध्याय में काव्य के स्वरूप, हेतु और प्रयोजन का अध्ययन किया गया है। उसके बाद के अध्यायों में शब्द-शक्ति, ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य, रस, नायक-नायिका-भेद, दोष, गुण, रीति और अलंकार की विवेचना की गयी है। इस अध्ययनक्रम में यह भी दिखलाया गया है कि इन आचार्यों पर पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी आचार्यों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। प्रत्येक आचार्य के प्रत्येक काव्यांगनिरूपण के अन्त में इन आचार्यों का तुलनात्मक सर्वेक्षण भी प्रस्तुत किया गया है।

अंतिम अध्याय 'उपसंहार' है जिसमें इन आचार्यों के विषय-विस्तार, मूल-स्रोत, निरूपण-पद्धति और मौलिक विवेचना पर विहंगम दृष्टिपात करने के उपरान्त इनके पारस्परिक तुलनात्मक समवलोकन के आधार पर इन सबका मूल्यांकन किया गया है। यदि हम इन आचार्यों की विशिष्टताएं एक-एक वाक्य में कहना चाहें तो, प्रबन्धकार के शब्दों में, कह सकते हैं कि "चिन्तामणि की प्रवृत्ति अधिक सामग्री के संकलन की ओर है। कुलपति उल्था को सुबोध रूप में प्रस्तुत करने में निपुण हैं। सोमनाथ की प्रतिपादनशैली अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और 'बालानां सुखबोधाय' है। दास मौलिकता की ओर अपेक्षाकृत अधिक बढ़े हैं। प्रतापसाहि 'व्यंग्यार्थकौमुदी' में जितने सफल कवि हैं, 'काव्य-विलास' में वे उतने सफल आचार्य नहीं हैं।"

१६४. राधावल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हितहरिवंश का विशेष अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री विजयेन्द्र स्नातक को उनके शोध-प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हितहरिवंश का विशेष अध्ययन' पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' के नाम से हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के निमित्त नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, ने सन् १९५७ ई० में प्रकाशित किया।

यह प्रबन्ध दो खंडों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध (सिद्धांत-खंड) में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में वैष्णव धर्म और भक्ति के उदय का सिंहावलोकन किया गया है। वैदिक युग से लेकर मध्ययुग तक भक्ति के क्रमिक विकास पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में चतुःसम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय का अध्ययन किया गया है। माध्व या गौड़ीय और निम्बार्क सम्प्रदाय से राधावल्लभ सम्प्रदाय की पृथक्ता का निर्देश किया गया है। धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय के उल्लेख का विवेचन किया गया है। इस विषय में हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहासकारों के मतों का उल्लेख भी किया गया है।

तीसरे अध्याय में सम्प्रदाय-प्रवर्तक श्री हितहरिवंश का अध्ययन है। उनकी जन्मकालीन सामाजिक, साहित्यिक और धार्मिक परिस्थितियों का पर्यालोचन करते हुए उनके जीवन के विषय में विविध सूचनाएं एकत्र की गयी हैं। चौथे अध्याय में भक्ति-सिद्धान्त का विवेचन है। पांचवें अध्याय में नित्य-विहार के विधायक तत्त्वों (राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी) पर विचार किया गया है। इनमें से प्रत्येक तत्त्व की विशद ऐतिहासिक समीक्षा करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय में गृहीत उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। छठे अध्याय में भक्ति के बाह्य विधान [गद्दी-सेवा, नाम-सेवा, समाज, अष्टयाम-सेवा, साम्प्रदायिक नैमित्तिक उत्सव, तिलक और कंठी] की चर्चा की गयी है और सातवें अध्याय में रासलीला के स्वरूप और महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध [साहित्य खंड] में ग्यारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में

श्री हितहरिवंश-रचित साहित्य का अनुशीलन किया गया है। उनकी कृतियों [राससुधानिधि, यमुनाष्टक, हितचौरासी, स्फुटवाणी] तथा गद्यात्मक पत्रों के आधार पर विस्तार से उनके काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। दूसरे से लेकर दसवें अध्याय तक राधावल्लभ सम्प्रदाय के नौ कवियों की काव्य-समीक्षा की गयी है। इन कवियों के नाम इस प्रकार हैं—दामोदरदास [सेवकजी], हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास, कल्याण पुजारी, अनन्य अली, रसिकदास और वृन्दावनदास [चाचाजी]। ग्यारहवें अध्याय में राधावल्लभ सम्प्रदाय के योगदान का मूल्यांकन किया गया है। आचार्य की विलक्षणताओं तथा साधना-पद्धति की नवीनताओं का उद्‌घाटन करते हुए अन्य सम्प्रदायों पर इस सम्प्रदाय का प्रभाव निरूपित किया गया है। ग्रंथ के अन्त में निम्नलिखित चार परिशिष्ट जोड़ दिये गये हैं :

१. बिन्दु तथा नादवंशीय साहित्य-सूची।
२. राधावल्लभीय वंश-परम्परा-वर्णन।
३. राधावल्लभीय वंश-परम्परा-वर्णन—गोपाल प्रसाद शर्मा
४. सहायकग्रन्थ-सूची।

१६५. कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य

[१९५६ ई०]

श्री गोवर्द्धनलाल शुक्ल को उनके प्रबन्ध 'कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य' पर सन् १९५६ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। प्रस्तुत प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है। इस ग्रन्थ के सार रूप में 'कविवर परमानन्ददास और उनका साहित्य [प्रबन्ध-सार]' शीर्षक से एक छोटी-सी पुस्तिका अनुसन्धान-प्रकाशन-माला, संस्कृत-हिन्दी-विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, से प्रकाशित हुई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य अष्टछाप के प्रमुख कवि परमानन्ददास की प्रामाणिक जीवनी तथा उनके काव्य की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करना है। सर्वप्रथम अन्तस्साक्ष्य एवं बहिस्साक्ष्य के आधार पर कवि का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। वार्ताओं, भक्तिकालीन अन्य ग्रन्थों, खोज-रिपोर्टों तथा इतिहास-ग्रन्थों और अष्टछाप के कवियों पर लिखी गयी शोधपरक कृतियों में प्राप्त जीवनवृत्त

का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए अनुसन्धाता ने भक्तकवि परमानन्ददास की जाति, नाम, स्थान, माता-पिता, जन्मकाल, शैशव, शिक्षा-दीक्षा, गृह-त्याग, गुरु, सम्प्रदाय में दीक्षा, विवाह, ब्रज के लिए प्रस्थान, गोलोकवास आदि के आधार पर उनका प्रामाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है। कवि के व्यक्तित्व एवं स्वभाव पर भी प्रकाश डाला है।

तत्पश्चात् परमानन्ददास की रचनाओं पर विचार किया गया है। अनुसन्धाता के मत से केवल 'परमानन्दसागर' ही कवि की प्रामाणिक कृति है। उसके नाम के साथ प्रचलित अन्य सभी कृतियां अप्रामाणिक हैं। प्रस्तुत प्रसंग में 'परमानन्दसागर' की अनेक उपलब्ध प्रतियों पर भी विचार किया गया है। इसके बाद शुद्धाद्वैत दर्शन और परमानन्ददास का सम्बन्ध बतलाया गया है। वस्तुतः कवि का मुख्य उद्देश्य भगवल्लीला का गायन ही था, शुद्धाद्वैत का व्यवस्थित दार्शनिक प्रतिपादन नहीं। फिर भी जहां ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि की चर्चा की गयी है वहां कवि का प्रतिपादन शुद्धाद्वैत के अनुकूल है। तदुपरांत परमानन्ददास की भक्ति का अध्ययन किया गया है। परमानन्ददास को भक्त-हृदय मिला था। उन्होंने वैधी भक्ति का भी सम्मान किया है। किन्तु मुख्य रूप से प्रेमलक्षणा या रागानुगा भक्ति को ही अपनाया है। यहीं पर परमानन्द के गोपीभाव की भी समीक्षा की गयी है। उनके पदों में अभिव्यक्त प्रेम के तीनों रूपों (स्नेह, आसक्ति और व्यसन) तथा आसक्ति के तीनों रूप [स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति] का निदर्शन करते हुए कवि के भक्ति-निरूपण का व्यापक अनुशीलन किया गया है।

भक्ति-निरूपण के उपरांत कवि के भगवल्लीला-विषयक पदों का अध्ययन किया गया है। भगवल्लीला का निरूपण प्रायः भागवत के आधार पर है किन्तु यत्र-तत्र वह उससे छूटकर स्वतन्त्र भी हो गया है। इसके पश्चात् 'परमानन्द-सागर' में अंकित कृष्ण, राधा, गोपियों और रास का विवेचन है। इन सबके विषय में कवि पर पुष्टि-सम्प्रदाय की मान्यताओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा है, जिसमें वे दीक्षित थे। तदनन्तर कवि के काव्यपक्ष का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन भाव और कला—दोनों दृष्टियों से किया गया है। कलापक्ष के अंतर्गत अलंकार, छन्द आदि का सोदाहरण विस्तृत विवेचन किया गया है।

१६६. हिन्दी के पौराणिक नाटकों का अध्ययन

[१९५६ ई०]

श्री देवर्षि सनाढ्य को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी के पौराणिक नाटकों का अध्ययन' पर सन् १९५६ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली ।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में उस पौराणिक कथा-साहित्य का संक्षिप्त परिचय कराया गया है जिसकी पृष्ठभूमि पर ये पौराणिक नाटक निर्मित हैं । 'पुराण' शब्द से गृहीत भाव, उनके निर्माण-काल से सम्बन्ध रखने वाले मत, उनका मूल स्रोत और उनके विषय का उल्लेख किया गया है । तृतीय अध्याय में प्रमुख हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के पौराणिक नाटकों की चर्चा की गयी है । हिन्दी के नाट्य-साहित्य का संबंध बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू के नाटकों से अधिक रहा है । इसलिए विशेषरूप से इन भाषाओं के मुख्य-मुख्य पौराणिक नाटकों, उनके इतिहास और शैली एवं शिल्प पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है । साथ ही कुछ अन्य भाषाओं के पौराणिक नाटकों का सिंहावलोकन है । चतुर्थ अध्याय में हिन्दी के प्रारम्भिक पौराणिक नाटकों की चर्चा के साथ-साथ हिन्दी-नाटकों के आरम्भ में पौराणिक कथा का योग एवं उल्लिखित नाटकों पर एक दृष्टि डालने का प्रयत्न किया गया है । भारतेन्दु-युग से पूर्व लिखे गए पौराणिक नाटकों की चर्चा भी की गयी है । पंचम अध्याय को हिन्दी के पौराणिक नाटकों का प्रथम युग मानकर भारतेन्दु के नाटकों से आरम्भ करते हुए १९११ ई० तक लिखे गये पौराणिक नाटकों का उल्लेख किया गया है । षष्ठ अध्याय में १९१२ ई० से १९३१ ई० तक लिखे गये पौराणिक नाटकों का उल्लेख है । प्रारम्भ एवं अन्त में इस युग में विभिन्न परिवर्तनों की चर्चा की गयी है । सप्तम अध्याय में १९४४ ई० तक लिखे गये पौराणिक नाटकों का विवरण है । यह तृतीय युग है । इस युग में पौराणिक नाटकों ने एक नवीन रूप पाया है । अष्टम अध्याय में उन नाटकों का उल्लेख है जो नाटक-संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित होने के लिए लिखे गये हैं । नवम अध्याय में संस्कृत, बंगला, मराठी एवं गुजराती भाषाओं से अनूदित नाटकों का परिचय दिया गया है । दशम अध्याय में हिन्दी के नाटकों की शिल्प-विधि पर विचार किया गया है । इस अन्तिम अध्याय में पौराणिक नाटकों की कथावस्तु,

चरित्र-चित्रण, भाषा, कविता आदि का विवेचन करके पौराणिक नाटकों की शिल्प-विधि पर हिन्दी में प्राप्त मतों का भी उल्लेख किया गया है।

१६७. कबीर की कृतियों के पाठ और समस्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री पारसनाथ तिवारी का शोध-प्रवन्ध 'कबीर की कृतियों के पाठ और समस्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन' १९५७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रवन्ध में कबीर की रचनाओं की जितनी भी प्रतियां हस्तलिखित अथवा मुद्रित रूप में प्राप्त हुई हैं और जो भी सामग्री टीका-टिप्पणियों के रूप में प्राप्त हो सकी है, उनके माध्यम से कबीर की वाणी का प्रामाणिक और वैज्ञानिक स्वरूप निर्धारित किया गया है।

विभिन्न हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में कबीर के नाम से कुल मिलाकर लगभग सोलह सौ पद, साढ़े चार हजार साखियाँ और एक सौ चौंतीस रमैनियां मिलती हैं। इसके अतिरिक्त भी कबीर-कृत पदों और रचनाओं का एक विपुल भंडार बतलाया जाता है। इन पदों की विपुलता के अतिरिक्त विभिन्न पद-पाठों के मिलान में कठिनाई पड़ती है। प्रस्तुत सम्पादन में जिन प्रतियों का विस्तृत पाठ मिलान किया गया है उनमें से पद सात प्रतियों में, साखियां नौ में और रमैनियां पांच प्रतियों में मिलती हैं। इस प्रकार वह अंश जो समस्त प्रतियों में समान रूप से मिलता है सुगमता से मान्य कहा जा सकता है। लेकिन कबीर के पाठों में समानता की दृष्टि से बड़ी विषमता पायी जाती है। इस प्रकार गन्तव्य स्थान तक पहुंचने के लिए इस निरापद मार्ग का अनुकरण किया गया है कि विभिन्न प्रतियों का पाठ-सम्बन्ध स्थिर किया जाय और तदनन्तर उन्हीं पाठियों को प्रामाणिक स्वीकृत किया जाय जो किन्हीं भी दो या अधिक ऐसी प्रतियों में मिलती हैं जिनमें किसी प्रकार का संकीर्ण सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिनमें पाठ-सम्बन्धी ऐसी विकृतियां समान रूप में नहीं पायी जातीं जिनका आविर्भाव कवि के मूल पाठ के अनन्तर का सिद्ध होता हो और इसी आधार पर इन वाणियों का पाठ भी निर्धारित किया जाय।

प्रस्तुत प्रबन्ध में दो खंड हैं। प्रथम खंड में सर्वप्रथम नाना संस्थाओं तथा व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित हस्तलिखित प्रतियों तथा विभिन्न रूपान्तरों में प्राप्त मुद्रित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण करके कबीर की तथाकथित रचनाओं से प्रमुख आधारभूत प्रतियों को पृथक् किया गया है। टीका-टिप्पणी आदि के रूप में उपलब्ध सहायक सामग्री का भी निर्देश किया गया है जिससे पाठ-निर्धारण में वास्तविक सहायता मिलती है। इसके पश्चात् सम्पादन के हेतु प्रमुख रूप से चुनी हुई प्रतियों का विस्तृत विवरण देते हुए पाठ-विकृतियों के आधार पर उनका पारस्परिक संकीर्ण सम्बन्ध स्थिर किया गया है और उनकी समस्त विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए कबीर-वाणी की पाठ-परम्परा भी निर्धारित की गयी है। आगे इसी आधार पर कबीर-वाणी की प्रामाणिक रचनाओं की संख्या निर्दिष्ट कर उन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है जिनका प्रयोग वाणी के पाठ-निर्धारण में हुआ है। एक पृथक् अध्याय में रचनाओं के क्रम के सम्बन्ध में विभिन्न प्रतियों के साक्ष्यों की विवेचना करते हुए प्रस्तुत निबन्ध में अपनाये जाने योग्य क्रम का निर्धारण किया गया है। अन्तिम अध्याय में कुछ ऐसे स्थलों का निर्देश किया गया है जहां पर पाठ-निर्णय के उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा पाठ-समस्या का समाधान न होते देखकर विशेष संशोधनों का प्रस्ताव किया गया है। द्वितीय खंड में उन पदों, रमैनियों और साखियों को संकलित कर उनका पाठ-निर्धारण किया गया है जो उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित रूप से प्रमाणित सिद्ध हुए हैं।

परिशिष्ट में अनुक्रमणिका, विकृति-सूची और सहायक साहित्य का महत्त्व-पूर्ण विशद संकलन है।

१६८. मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में नारी-भावना (१५००-१७५० ई०)

[१९५७ ई०]

श्री० उषा पांडेय को सन् १९५७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से उनके प्रबन्ध 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में नारी-भावना [१५००–१७५०]' पर डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

आलोच्य काल [१५००–१७५० ई०] का समय भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके प्रारम्भ का युग भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य में स्वर्ण-युग की संज्ञा से अभिहित होता है। आलोच्य काल का उत्तर भाग रीतिकाव्य का युग है, किन्तु इसका राजनीतिक और सांस्कृतिक महत्व भी न्यून नहीं है। भारत के राजनीतिक इतिहास पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि यह संक्रान्ति का युग है। इस समय मुग़ल शासन की केन्द्रीय दुर्बलता और परवर्ती शासकों की शक्तिहीनता से विदेशी शक्तियां प्रबल हो रही थीं। मध्ययुग समाप्त हो रहा था, आधुनिक युग की सीमा-रेखाएं स्पष्ट हो रही थीं।

आलोच्य काल की इन्हीं विशेषताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य की नारी-भावना का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध के दो भाग हैं। प्रथम भाग में पहले अध्याय 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत आलोच्य काल से पूर्व की नारी की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में इस्लाम से भारत का सम्पर्क, इस्लामी संस्कृति के सम्पर्क से प्रभावित आलोच्य काल की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों में नारी की स्थिति का विवेचन किया गया है। इस्लाम ने भारतीय नारी के जीवन में कोई मौलिक क्रांति न प्रस्तुत करते हुए भी प्रत्यक्षतः एवं अप्रत्यक्षतः उसे प्रभावित अवश्य किया है। भारतीय राजपूती सामन्तवाद से इस्लामी संस्कृतियों के संगम और उनकी सामन्तवादी परम्परा के योग ने किस प्रकार वैभव एवं विलास की अतिशयता का ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया, जिसमें नारी का स्थान केवल विलास के एक उपकरण के रूप में रहा, इस पर भी द्वितीय अध्याय में विचार किया गया है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध में किये गये विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग का कवि सामान्य नारी को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से नहीं देखता है। नारी-आदर्श के विषय में उसकी निजगत व्याख्याएं हैं। सन्तकाव्य से रीतिकाव्य की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों में उद्भूत काव्य में सैद्धान्तिक मतभेद तथा व्यावहारिक विषमताएं होने पर भी इस विषय में एकरूपता है। सभी कवियों ने समवेत स्वर में उसे कामवासना का मूल बताया तथा उसी रूप में देखा है।

१६६. हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव

[१६५७ ई०]

कुमारी शशि अग्रवाल को सन् १६५७ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि मिली। उनके प्रबन्ध का विषय था 'हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य पर पुराणों का प्रभाव'। यह प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है। इसकी सामग्री आठ अध्यायों में संकलित की गयी है। पहले अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य को प्रभावित करने वाले तथा अन्य महापुराणों का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में पार्जिटर, विल्सन आदि कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के विचारानुसार महापुराणों की सूची दी गयी है। कृष्णकाव्य को प्रभावित करने वाले वैष्णव पुराणों का परिचय अलग से दिया गया है तथा शैव और ब्राह्मण ग्रन्थों का अलग।

दूसरे अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए १५०० ई० से लेकर वर्तमान काल तक के हिन्दी कृष्णभक्त कवियों की जीवनी तथा काव्य पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य की दार्शनिक विचारधारा पर पौराणिक काव्य के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य के ब्रह्म, जीव, जगत्, राधा, रास और ब्रज-बृन्दावन के वर्णन में पुराणों की दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। दार्शनिक विवेचन में वेदान्त तथा उपनिषदों के अध्ययन का भी आश्रय लिया गया है। चौथे अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य की भक्ति और उस पर पुराणों की भक्ति के प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

पांचवें अध्याय में राधा के आविर्भाव तथा संस्कृत-साहित्य, पौराणिक साहित्य और उपनिषदों आदि में राधा के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। साथ ही भक्ति के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में राधा का जैसा स्वरूप है उसका भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्ययन किया गया है। छठे अध्याय में भगवान् विष्णु के विभिन्न अवतारों का अध्ययन किया गया है। पुराणों के चौबीस अवतारों के स्थान पर सूर ने केवल सत्रह अवतारों का वर्णन किया है। इस अध्याय में इन सत्रह अवतारों के वर्णन पर पौराणिक प्रभाव का आकलन किया गया है।

सातवें अध्याय में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में जो सृष्टि-उत्पत्ति और

राजवंशों का वर्णन किया गया है उस पर पौराणिक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। आठवें अध्याय में कृष्णभक्ति-काव्य पर पौराणिक काव्य के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इस प्रसंग में नंददास के काव्य पर श्रीमद्भागवत के विशेष प्रभाव का अध्ययन हुआ है। परिशिष्ट भाग में हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्यों, हिन्दी के सहायक ग्रन्थों, संस्कृत के सहायक ग्रन्थों, अंग्रेजी के सहायक ग्रन्थों तथा पौराणिक साहित्य के ग्रन्थों की सूची दी गयी है।

१७०. डिंगल-पद्यसाहित्य का अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का प्रबन्ध 'डिंगल-पद्यसाहित्य का अध्ययन' सन् १९५७ ई० में इलाहाबाद में विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुआ। इस प्रबन्ध के भूमिका भाग में डिंगल-साहित्य के संदर्भ में उसके नामकरण, काल-विभाजन तथा संक्षिप्त इतिहास पर अध्यवसायपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंग में डिंगल-साहित्य का हिन्दी-साहित्य में स्थान निरूपित किया गया है। साथ ही डिंगल साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रखने से हिन्दी-साहित्य तथा इसके इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ता है इस पर भी विचार किया गया है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में नौ रचनाओं 'ढोला मारू रा दूहा', 'बेलि क्रिसन रुक्मिणी री', 'हाला झाला रा कुंडलिया', 'वीर सतसई', 'छंद राज जैतसी रउ', 'वचनिका राठौड रतनसिंह जीरी महेसदासोत्तरी', 'रघुनाथ रूपक गीतांरी', 'नीति मंजरी' एवं 'धवल पचीसी' का विषयानुसार आलोचनात्मक विवेचन कर डिंगल-साहित्य की श्रेष्ठता एवं संपन्नता का प्रकाशन किया गया है। द्वितीय अध्याय में डिंगल-पद्यसाहित्य में उपलब्ध सामग्री का विषयानुसार विभाजन, प्रत्येक विषय का विवेचन एवं प्रत्येक विषय की उपलब्ध रचनाओं का कालक्रम के अनुसार परिचय प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में डिंगल के अलंकार-ग्रन्थों का परिचय, वैण सगाई तथा डिंगल में प्रयुक्त अलंकारों का उल्लेख और प्रथम अध्याय में उल्लिखित नौ रचनाओं में प्रयुक्त अलंकारों का निदर्शन है। चतुर्थ अध्याय में छंद-सम्बन्धी

रचनाओं का उल्लेख, नवीन एवं मौलिक छन्दों के नाम तथा विशिष्ट छन्दों का परिचय और प्रथम अध्याय में उल्लिखित नौ रचनाओं में प्रयुक्त छंदों की व्याख्या है। पंचम अध्याय में डिंगल भाषा का अभ्युदय, विकास एवं प्रत्येक काल की प्रमुख विशेषताओं का निरूपण तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचन है।

षष्ठ अध्याय में ऐतिहासिक सामग्री के मूल्यांकन के आधुनिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए छः रचनाओं 'राज जैतसो रो छन्द', 'बिरह छियत्तरी', 'वचनिका राठौड रतनसिंह जी री', 'राय रूपक', 'विरह सिंगार' और 'केहर प्रकाश' में प्राप्त सामग्री का परीक्षण किया गया है। परिशिष्ट भाग में डिंगल-साहित्य के प्रकाशित व अप्रकाशित ग्रंथों, सहायक ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं तथा निबन्धों का विवरण है।

१७१. ब्रजबुली

[१९५७ ई०]

सुश्री कनिका विश्वास को सन् १९५७ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने 'ब्रजबुली' का अध्ययन प्रस्तुत करने पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

१७२. आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ

[१९५७ ई०]

श्री रामदरश मिश्र को उनके प्रबन्ध 'आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियां' पर सन् १९५७ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

१७३. कविसमय-मीमांसा

[१९५७ ई०]

श्री विष्णुस्वरूप को उनके शोध-प्रबन्ध 'कविसमय-मीमांसा' पर सन् १९५७ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। प्रबन्ध के आरम्भ में प्रस्तावना है जिसमें विषय के महत्व, सीमा-विस्तार, इस क्षेत्र में अब तक किये गये कार्य और प्रस्तुत अध्ययन के लक्ष्य एवं अनुसंधान-प्रणाली का उपस्थापन किया गया है।

मुख्य प्रबन्ध दो खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में सैद्धान्तिक पक्ष 'कवि समय के स्वरूप' का निरूपण है। संस्कृत-काव्य शास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त 'कवि-समय' शब्द तथा इसके पर्यायवाची 'काव्यसमय', कविसम्प्रदाय' 'कविमत' आदि शब्दों की व्याख्या की गयी है। 'कविसमय' के प्रमुख लक्षणों (कवियों द्वारा उपनिबद्ध अर्थ, अशास्त्रीय और अलौकिक अर्थ-निवन्धन, तथा परम्परायात अर्थनिवन्धन) की विवेचना की गयी है। 'कविसमय' की मुख्य प्रवृत्तियों (असत्-निबन्धन, सत्-निबन्धन एवं नियम-निबन्धन) तथा उपप्रवृत्तियों का व्याख्यान करके यह बतलाया गया है कि 'कविसमय' में गृहीत वस्तु नितांत अस्तित्वहीन अथवा काल्पनिक नहीं होती, 'कविसमय' का मूल उद्देश्य वस्तु को चारुत्व से मंडित करना है। खंड के अन्त में काव्यशास्त्र में 'कविसमय' का स्थान निर्धारित करते हुए उसके पांच रूपों की चर्चा की गयी है—कविशिक्षा रूप, अलंकार-साधन रूप, दोषापहार एवं गुणत्व रूप, ध्वनिव्यंजना रूप और औचित्य रूप।

द्वितीय खण्ड में 'कविसमय' के व्यावहारिक पक्ष 'कविप्रसिद्धियों' का अध्ययन है। 'वनस्पति-वर्ग' के अन्तर्गत पद्म, नीलोत्पल, कुन्द, मालती, शेफा-लिका, भूर्जपत्र, चन्दन, वृक्षदोहद, प्रियंगु, बकुल, अशोक, तिलक, कुरबक, मन्दार, चम्पक, सहकार और कर्णिकार से सम्बद्ध; 'पक्षिवर्ग' के अन्तर्गत हंस, मयूर, कोकिल, चक्रवाक, चकोर और चातक से सम्बन्ध रखने वाली; 'रत्नवर्ग' के अन्तर्गत सुवर्णरत्नादि और मोती विषयक; 'वारिवर्ग' के अन्तर्गत समुद्र, मकर और शेवाल सम्बन्धिनी; 'आकाशवर्ग' के अन्तर्गत ज्योत्स्ना और तिमिर सम्बन्धिनी; 'वर्णवर्ग' के अन्तर्गत शुक्ल गौर, पीतरक्त, नील-हरित-कृष्ण और आंखों के रंग सम्बन्धिनी; 'संख्यावर्ग' के अन्तर्गत भुवन, समुद्र, दिशा, विद्या और शृंगार सम्बन्धिनी; 'स्वर्ग्यवर्ग' के अन्तर्गत नारायण, लक्ष्मी, आदित्य, चन्द्रमा और कामदेव सम्बन्धिनी; 'पातालीयवर्ग' के अन्तर्गत दैत्य-दानव-असुर

और नाग-सर्पसम्बन्धिनी तथा खण्ड के अन्त में कतिपय संकीर्ण कवि-प्रसिद्धियों का अध्ययन किया गया है।

उपसंहार में हिन्दी-काव्य में 'कविसमय' की स्थिति का निदर्शन है। परिशिष्ट में लक्षण-ग्रन्थों से 'कविसमय' के विवेचनपरक अंशों के उद्धरण एवं प्रसिद्ध उपमान भी दे दिये गये हैं।

१७४. हिन्दी में गद्यकाव्य का विकास

[१९५७ ई०]

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ने श्री अष्टभुजा प्रसाद पांडेय को उनके प्रबन्ध हिन्दी में गद्यकाव्य का विकास' पर सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

१७५. सूर-पूर्व की ब्रजभाषा

[१९५७ ई०]

श्री शिवप्रसाद सिंह का प्रबन्ध 'सूरपूर्व की ब्रजभाषा' सन् १९५७ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, ने इसका प्रकाशन 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' नाम से किया है।

यह प्रबन्ध ग्यारह परिच्छेदों में विभक्त है। 'प्रास्ताविक' नामक पहले परिच्छेद में ब्रजभाषा के उदय-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की धारणाओं, प्रस्तुतविषय-सम्बन्धी कार्य, आदिकालीन तथा भक्तिकालीन काव्य की पृष्ठभूमि, विषय की आधारभूत सामग्री और उसके पुनर्निरीक्षण आदि की चर्चा करके साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्यरूपों के अध्ययन के लिए दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के व्रज-साहित्य के अनुसन्धान की आवश्यकता बतलायी गयी है।

दूसरे परिच्छेद में ब्रजभाषा के रिक्थ के रूप में मध्यदेशीय भारतीय आर्य-

भाषा के विकास और विशेषताओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तीसरे परिच्छेद में ब्रजभाषा के उद्‌गम शौरसेनी अपभ्रंश (वि० १०००-१२००) का अध्ययन करके सूरदास की भाषा से इस भाषा का पूर्वापर-सम्बन्ध निरूपित किया गया है। चौथे परिच्छेद में ग्राम्य अपभ्रंश, नागर अपभ्रंश, पिंगल, डिंगल, अवहट्ट आदि का विवेचन करके संक्रान्तिकालीन आरंभिक ब्रजभाषा (वि० १२००-१४००) का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है। पांचवें परिच्छेद में यह प्रतिपादित किया गया है कि औक्तिक ब्रज से उसके परिनिष्ठित रूप का निर्माण हुआ (वि० १४००-१६००)। इस परिच्छेद में तत्कालीन अप्रकाशित सामग्री का परिचय और परीक्षण भी है। प्रद्युम्नचरित (वि० १४११), हरिचन्द पुराण वि० १४५३), लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (वि० १५६१), डूंगर बावनी (वि० १५३८), वेतालपचीसी (वि० १५४६), छिताई वार्ता (वि० १५५०), गीता भाषा (वि० १५५७), मधुमालती कथा (वि० १५५७) आदि की समीक्षा है।

छठे परिच्छेद में 'गुरुग्रन्थ' में उल्लिखित ब्रजकवियों (नामदेव, त्रिलोचन, वेनी, रामानन्द, कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना और नानक) का अध्ययन है। सातवें परिच्छेद में अन्य कवियों (हरिदास निरंजनी, निम्बार्क-सम्प्रदाय के कवियों, नरहरि भट्ट, मीरां, खुसरो, बैजू बावरा आदि) का अनुशीलन है। परिच्छेद के अन्त में हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवियों की विवेचना है। आठवें परिच्छेद में तेरह शिलालेखों (१४ वीं से १६ वीं शती) के आधार पर प्राचीन ब्रजभाषा के स्वरूप का विवेचन किया गया है। नवें परिच्छेद में ब्रजकाव्य की मूल प्रवृत्तियों (भक्ति, शौर्य, शृंगार, नीति) की समीक्षा है। दसवें परिच्छेद में आरंभिक ब्रजभाषा काव्यरूपों (चरितकाव्य, कथाकाव्य, लीलाकाव्य, षड्ऋतु और बारहमासा, वेलिकाव्य, बावनी, विप्रमतीसी, गेय मुक्तक और मंगलकाव्य) का अध्ययन है।

'उपसंहार' नामक ग्यारहवें परिच्छेद में भाषा और साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से प्राप्त निष्कर्षों तथा उपलब्धियों का उपस्थापन है। परिशिष्ट में चौदहवीं से सोलहवीं शती वि० में लिखी गयी रचनाओं के हस्तलेखों से उद्धृत अंश भी दे दिये गये हैं।

१७६. हिन्दी की निर्गुणमार्गी काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

[१९५७ ई०]

डा० गोविन्द त्रिगुणायत का प्रबन्ध 'हिन्दी की निर्गुणमार्गी काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चार अध्यायों में विषय का सामान्य परिचय देते हुए दार्शनिक और साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है। अन्तिम पांच अध्यायों में निर्गुणकाव्य-धारा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके उनके स्वरूप की व्याख्या की गयी है। प्रथम अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। उसमें सर्वप्रथम भारत के सांस्कृतिक विकास में निर्गुणकाव्य-धारा के योग एवं महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। 'अभिधान की सार्थकता' शीर्षक से वैदिक और लौकिक साहित्य में प्रयुक्त 'निर्गुण' शब्द का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। निर्गुणियों द्वारा स्वीकृत रूप का भी निदर्शन है। इसके बाद प्रस्तुत अध्ययन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। चौदहवीं से लेकर उन्नीसवीं शती तक के प्रमुख निर्गुणियों (कवियों) के कालक्रम और जीवनवृत्त का निर्देश करते हुए तात्कालिक राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों एवं घटनाओं का खोजपूर्ण उल्लेख करने के अनन्तर उनकी चिन्तना की समुचित पीठिका निर्दिष्ट की गयी है।

द्वितीय अध्याय में हिन्दी की निर्गुणकाव्यधारा को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाली प्राचीन धार्मिक और दार्शनिक पद्धतियों का उल्लेख किया गया है। सन्तों पर पड़े हुए श्रौत तथा औपनिषदिक प्रभावों का सविस्तार विवेचन है। सन्तों पर उपनिषदों के आत्मवाद का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था। सन्त लोग वैष्णवों की सदाचरण-प्रियता, सात्विकता, जन्मान्तरवाद प्रपत्तिभाव आदि से भी बहुत प्रभावित हुए थे। सन्तों ने षड्दर्शनों में से वेदान्त के अतिरिक्त किसी के प्रति अपनी निष्ठा नहीं दिखलायी है, कारण, उनका अध्ययनपक्ष नितान्त दुर्बल था। वेदांत का उन पर गम्भीर प्रभाव है। शंकर के मायावाद, ज्ञानवाद और विवर्तवाद आदि ने उन्हें विशेष प्रभावित किया है। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थ 'गीता' के कर्मयोग तथा समत्वयोग आदि का भी सन्तों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है। सन्त लोगों पर शब्दाद्वैत का भी प्रभाव पड़ा था।

आलोचक के अनुसार कबीर आदि का 'शब्दसुरतियोग' शब्दाद्वैत के 'प्रणववाद' की ही परिणति है। सन्त कवि तान्त्रिकों तथा नाथपंथियों से भी प्रेरित हुए थे। नास्तिक दर्शनों में सन्त कवि जैन और बौद्ध मतों से प्रभावित हुए थे। आचरण में वे जैनमत से विशेष प्रभावित थे। सन्त लोग बौद्ध दर्शन की भांति बुद्धिवादी तथा प्रतिक्रियावादी थे। अनात्मवाद और नास्तिकवाद के अतिरिक्त वे बौद्धधर्म के प्रायः सभी सिद्धान्तों से प्रभावित हुए थे। इस अध्याय में इन सब प्रभावों का विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय में भी दार्शनिक पृष्ठभूमि की ही चर्चा की गयी है। इस अध्याय में निर्गुणकाव्यधारा को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों की चर्चा की गयी है। तन्त्रमत की शैव, शाक्त और बौद्ध नामक लुप्तप्राय शाखाओं ने सन्तों की विचारधारा को सर्वाधिक प्रभावित किया था। इन दोनों शाखाओं का प्रामाणिक परिचय और सन्तमत पर उनके प्रभाव का सम्यक् निरूपण इस अध्याय में किया गया है। इसके पूर्व ही पृष्ठभूमि के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से सन्त कवियों की विचारधारा को प्रभावित करने वाली शैवदर्शन-पद्धतियों का प्रभाव निर्दिष्ट किया गया है। शैव-शाक्त तन्त्रों के साम्यवाद, बाह्याचार-विरोध, भुक्ति-मुक्ति की समरसता के ज्ञान का महत्व, रहस्यवाद एवं अध्यात्मचिन्तन आदि तथा बौद्ध तान्त्रिकों के धर्मग्रन्थों की समानता, सहजावस्था की धारणा, शून्यवाद, नाद-बिन्दु-साधना एवं योगसाधना आदि अनेक तत्वों के प्रभाव-निरूपण द्वारा निर्गुणकाव्यधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि का स्पष्टीकरण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है। इसमें मध्यकालीन देशी-विदेशी साधु-परम्पराओं और उनके प्रभाव का विवेचन किया गया है। कापालिक, कालमुख, लकुलीश, नाथपंथी, दक्षिण के तामिल शैव सन्त आदि अनेक साधुवर्गों की प्रवृत्तियों की व्याख्या की गयी है। इसके अनन्तर अक्रियावादी, उच्छेदवादी, अकृततावादी, चतुर्यामसंवरवादी, आजीवक बौद्ध और जैन आदि नास्तिक ब्राह्मणेतर साधु-परम्पराओं और उनके प्रभाव का उल्लेख किया गया है। अन्त में मध्ययुगीन साधु-सन्त-परम्पराओं को स्पष्ट करके निर्गुणकाव्यधारा के सन्तों से उनका संबन्ध-निर्देश किया गया है।

पांचवें और छठे अध्याय अध्यात्म-चिन्तन से सम्बद्ध हैं। सन्तों के आध्यात्मिक विचारों के मूल, उनकी अनुभूति का स्वरूप-निरूपण तथा ब्रह्म के लिए सन्तों द्वारा प्रयुक्त अभिधानों की व्याख्या की गयी है। तत्पश्चात् उनके ब्रह्म-निरूपण तथा उस पर ज्ञान, भक्ति और योग के प्रभाव का विवेचन है।

इसके बाद मायावाद के ऐतिहासिक विकासक्रम के प्रकाश में सन्तों की जीव-सम्बन्धी धारणाओं का निदर्शन किया गया है। तत्पश्चात् जगत्-सम्बन्धी सन्त-धारणाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। मोक्ष-सम्बन्धी धारणाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में सन्तों की दार्शनिक पद्धति की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

सातवें अध्याय में सन्तों की रहस्य और सहज साधनाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। उनके साम्यवाद और सामाजिक सुधारों पर विचार किया गया है। आठवें अध्याय में सन्तवाणी की अभिव्यक्ति और साहित्यिकता पर विचार किया गया है। सन्तों के काव्य का प्राण 'आत्मरस' सिद्ध किया गया है। सन्तों की शैलियों के भेद-प्रभेदों की छानबीन की गयी है। भाषा, प्रतीक, छन्द, संगीत आदि की विस्तृत समीक्षा की गयी है।

नवां अध्याय उपसंहार है। विविध प्रेरणाओं और परिस्थितियों के बीच उदित एवं विकसित सन्तमत की प्रमुख प्रवृत्तियों और चेतनाओं की समीक्षा की गयी है। परिशिष्ट में सन्तों की पारिभाषिक शब्दावली का ऐतिहासिक विकास-क्रम दिया गया है।

१७७. मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य के प्रेमगाथाकाव्य और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता-तत्व

[१९५७ ई०]

डा० सत्येन्द्र का प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की प्रेलगाथाओं और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता-तत्त्व' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। उसकी रूपरेखा इस प्रकार है :—

अध्याय १ पूर्व पीठिका—लोकवार्ता—मूल्य—लोकगीत के मूल तत्त्व—लोक-गीत-साहित्य—लोकगीतों के विविध प्रकार—साहित्य पर लोकगीत का क्यों और कब प्रभाव पड़ता है—विश्व का लोकगीत साहित्य और उसकी शाखाएं—भारत : भारत की लोकगीत-प्रवृत्तियों का आकलन—इसमें हिन्दी-क्षेत्र का स्थान—हिन्दी साहित्य के विकास की लोकगीत-पृष्ठभूमि : बौद्ध, जैन, नाथ, सिद्ध, सहजिया, वैष्णव, शैव आदि; विभिन्न सम्प्रदाय तथा ऐसे तत्व और लोकगीत—

—हिन्दी-साहित्य के विकास में उनका योगदान—हिन्दी-साहित्य का सूत्रपात —वीरगाथाकाल—भक्ति एवं प्रेमगाथा काल में परिणति—लोकतत्त्व का उत्थान ।

अध्याय २ : प्रेमगाथा काव्य—प्रेमगाथाएं—उनकी मूलवर्ती कथाएं—इन कथाओं का विश्लेषण—वैदिक, बौद्ध, ब्राह्मण, जैन-साहित्यों एवं युगों से वर्तमान समय तक इन कथाओं के विविध अभिप्रायों का ऐतिहासिक विकास—इन कथाओं की पौराणिक एवं लोकगीतात्मक विशेषताएं—बौद्ध एवं जैन परंपरागत कथाएं—हिन्दी लोक-कथाओं और उनकी कला के प्रति धर्म एवं धर्मेतर तत्वों का योगदान—उनका प्रभाव ।

अध्याय ३ : निर्गुणभक्ति-काव्य—निर्गुणसम्प्रदाय के काव्य का वस्तुतत्त्व —विभिन्न दार्शनिक अवधारणाएं—ब्रह्म, माया, सहज आदि, उनका उद्भव तथा इन धाराओं में विकास, १. ज्ञानमूल दर्शन की धारा, २. इतर प्रभाव की धारा, ३. लोकविश्वास की धारा—निर्गुणसम्प्रदाय के दर्शन की उपर्युक्त लोकशैली को प्रभावित करने में इनका योगदान—भक्तिमूलक प्रतीकवाद, उसकी लोकतात्विक विशेषताएं—रूपविधान—उनका उद्भव—भाषा—उसकी प्रकृति ।

अध्याय ४ : सगुणभक्ति-काव्य : कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय—कृष्ण—एक भव्य पौराणिक व्यक्तित्व—उसका मूलस्वरूप और विकास—कृष्ण-कथा के विकास के विभिन्न युग—उसके विकास में लोकतत्त्वों का योगदान—भागवत में उसका चरम स्वरूप—लोकदेवता एवं लोकप्रचलित कथाओं की पुराणकथाओं के रूप में परिणति—लोकगीत-तत्त्व—परवर्ती लोकप्रचलित कथा की पुराणकथा में परिणति—उसमें लोकगीत-तत्त्व—भागवत और सूरदास —सूरदास में नये अभिप्रायों का उद्भव—परवर्ती कृष्णकाव्य और लोकतत्व—लोककला की प्रमुखता के कारण—वस्तुतत्व और स्वरूपविधान ।

अध्याय ५ : सगुणभक्ति-काव्य : रामभक्ति-सम्प्रदाय—राम—एक महान् पौराणिक व्यक्तित्व—उसका मूलस्वरूप विभिन्न अभिप्रायों का विश्लेषण—वस्तुतत्व, अवधारणाओं, रूपविधानों एवं लोकसूत्रों में से प्रत्येक का संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास—लोक-उद्देश्य एवं लोक-कला ।

अध्याय ६ : काव्यकला में लोकरूप—लोक-कविता—विभिन्न रूप—पिंगल, मात्रिक छंन्द, दोहों, चौपाइयों, कवित्तों, पदों का विकास कैसे हुआ—लोकतत्त्वों में उनके सूत्र—ऐतिहासिक विवेचना—अलंकार : उपमाएं और शैली—उनका लोकतात्त्विक स्वरूप—उनकी अंगीकृति के कारण ।

अध्याय ७ : लोक-विश्वास, लोक-संस्कृति, कहावतें, पहेली, लोक-दर्शन

लोक-मनोविज्ञान, लोक-कला ।

अध्याय ८ : उपसंहार ।

१७८. पं० बालकृष्ण भट्ट : उनका जीवन और साहित्य
[१९५७ ई०]

श्री राजेन्द्र प्रसाद शर्मा को उनके प्रबन्ध 'पं० बालकृष्ण : उनका जीवन और साहित्य' पर सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की । यह प्रबन्ध विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, से १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ ।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है । पहले अध्याय में आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास में भारतेन्दु-युग के योगदान पर विचार किया गया है । पं० बालकृष्ण भट्ट का इस युग से घनिष्ठ सम्बन्ध था । दूसरे अध्याय में भट्ट जी का जीवनचरित प्रस्तुत किया गया है । उनका प्रामाणिक जीवनवृत्त देते हुए उनके चरित्र की विशेषताओं का सम्यक् उद्घाटन किया गया है । तीसरे अध्याय में भट्ट जी के पत्रकार-रूप का विवेचन किया गया है । भट्ट जी अत्यन्त निर्भीक प्रकृति के सुधारवादी पत्रकार थे । वे कट्टर राष्ट्रवादी व्यक्ति थे और एक बुद्धिमान् सम्पादक भी थे । हिन्दी-पत्रकारिता भट्टजी की ऋणी रहेगी ।

चौथे अध्याय में भट्ट जी को एक निबन्ध-लेखक के रूप में देखा गया है । उनके निबन्धों का वर्गीकरण (राजनैतिक, समाजसुधार-सम्बन्धी, साहित्यिक) किया गया है । उनकी भाषा तथा शैली विषयक विशेषताओं का विवेचन किया गया है । परवर्ती निबन्धकारों (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, अध्यापक पूर्णसिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, डा० रामविलास शर्मा आदि) पर भट्ट जी का प्रभाव निरूपित किया गया है। पांचवें अध्याय में भट्ट जी के आलोचक रूप की समीक्षा की गयी है । भट्ट जी की आलोचना के मूल सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । उनकी आलोचना के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी-आलोचना-साहित्य में उनका स्थान निर्धारित किया गया है ।

छठे अध्याय में भट्ट जी के उपन्यासों, नाटकों और कहानियों की आलोचना करते हुए हिंदी के कथाकारों में उनका स्थान निर्धारित किया गया है। इस

अध्याय में भट्ट जी के सात उपन्यासों, ग्यारह नाटकों और अनेक कहानियों का खोजपूर्ण विवरण देते हुए उनकी व्यापक समीक्षा की गयी है। सातवें अध्याय में भट्ट जी के अप्रकाशित साहित्य का विवरण दिया गया है। उनके एक अप्रकाशित निबन्ध का नाम 'निस्सहाय हिन्दू' है। इसी प्रकार, भट्ट जी के हस्त-लेख के प्राप्त ३६४ पृष्ठ अप्रकाशित हैं जो संस्कृत के विभिन्न कवियों की आलोचना के रूप में लिखे गये हैं।

प्रबन्ध के अन्त में पांच परिशिष्ट इस प्रकार हैं :—

१. भट्ट जी का अप्रकाशित लेख।

२. प्रदीप के ग्राहकों की मूल सूची।

३. भट्ट जी के प्रतिनिधि साहित्यिक निबन्धों की तालिका।

४. भट्टजी की मृत्यु पर संवेदना में प्राप्त पत्र आदि।

५. सहायक-ग्रन्थों की सूची।

१७९. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य

[१९५७ ई०]

श्री गोपीनाथ तिवारी का प्रबन्ध 'भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध हिंदी भवन, जालन्धर, से प्रकाशित हुआ है।

यह प्रबन्ध चार खंडों में विभक्त है। पहले खंड के प्रथम तीन अध्यायों में भारतेन्दुपूर्व युग (१६१०–१८५० ई०) के मौलिक तथा अनूदित नाटकों का अनुशीलन है। इस प्रसंग में इस काल के नाटकों को नाटक न मानने वाले विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं। चौथे और पांचवें अध्यायों में इन विद्वानों के मतों का निराकरण करते हुए सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि इस काल के नाटकों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं। केवल 'सभासार' या 'समयसार' को छोड़कर इन सभी में शृंखलित कथानक, चरित्रचित्रण, अन्त-र्द्वन्द्व, नाट्यकला या अभिनय के संकेत आदि गुण पाये जाते हैं। लेखक का मत है कि ये नाटक जन-नाट्य-शैली (स्वांग, लीला, रास आदि) के अनुकरण पर लिखे गये हैं।

दूसरे खंड का विवेच्य सन्धि-काल (१८५७–१८६७ ई०) है। इस काल की

शैलियां ही उत्तराधिकार के रूप में भारतेन्दु एवं उस काल के अन्य नाटककारों को प्राप्त हुई। यह काल भारतेन्दु-काल के नाटकों का जनक है। इस काल के प्रमुख नाटक 'प्रद्युम्न विजय' या 'प्रभावती नाटक' में संस्कृत-नाटक की संधियां ही नहीं चौंसठ संध्यंग भी प्राप्त होते हैं।

तीसरे खंड के पहले पांच अध्यायों में भारतेन्दु-काल के नाटकों की समालोचना है जिसमें इस काल के नाटकों की अनेक प्रमुख धाराओं-उपधाराओं का विवेचन किया गया है। मौलिक नाटकों की तीन प्रमुख धाराएँ मानी गयी हैं। (१) पौराणिक (२) प्रेमप्रधान और (३) सामाजिक-धार्मिक। इस खंड के अन्तिम तीन अध्यायों में अनूदित एवं जननाटकों का अध्ययन किया गया है। अनुवाद प्रमुखतः बंगला, संस्कृत एवं अंग्रेज़ी से किये गये। जन-नाटकों के दो वर्ग माने गये हैं . (१) स्वांग नाटक और (२) इन्द्रसभा का थियेट्रिकल नाटक। इन दोनों धाराओं की परम्परा, विकास तथा शैलियों पर विचार किया गया है।

चतुर्थ खंड 'तत्त्व-विवेचन' है। इस खंड में हिन्दी-नाटकों के आधार पर नाटकीय तत्त्वों की चर्चा हुई है। भारतेन्दुकालीन नाटकों में नाटक के नौ तत्त्व मिलते हैं (१) प्रस्तावना (२) कथानक (३) पात्र (४) संवाद (५) भाषा (६) देशकाल (७) शैली (८) उद्देश्य एवं (९) अभिनय। इस खंड के प्रथम दो अध्यायों में प्रस्तावना के पांच अंगों (मंगलाचरण, प्रस्ताव, सुझाव, परिचय और अन्त) एवं दो प्रकार के कथानकों (भारतीय नाट्यशास्त्र के लक्षणों से युक्त एवं पश्चिमी संकलनत्रय आदि सिद्धान्तों के अनुसार निबद्ध) का विवेचन है। तीसरे अध्याय में पात्रों के चरित्रचित्रण का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों की दृष्टि से संवादों की समीक्षा की गयी है। पांचवें एवं छठे अध्यायों में नाटकों की भाषा तथा देश-काल पर विचार किया गया है। सातवें अध्याय में नाटकों की शैली की समीक्षा की गयी है। अन्तिम दो अध्यायों में नाटक के उद्देश्य (उपदेश और रसानुभूति) अभिनय, रंग-संकेत आदि की विवेचना की गयी है।

१८०. बाबू बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री नत्थन सिंह का शोध-प्रबन्ध 'बाबू बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा, से सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

इस प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। भूमिका में गुप्त जी विषयक विवेचन का मूल्यांकन तथा उनके जीवन और साहित्य के विशद अध्ययन की उपादेयता आदि पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में उनके जन्म, शिक्षा, बाल्य-कालीन प्रतिभा आदि का गवेषणात्मक विवेचन, 'कोहेनूर' (लाहौर) 'अखबारे चुनार' आदि उर्दू-पत्रों द्वारा उर्दू-साहित्य-सर्जन, 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारत मित्र' आदि हिन्दी-पत्रों के सम्पादन, उनके व्यक्तित्व तथा साहित्यिक यात्राओं के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

दूसरे अध्याय में उर्दू-लेखक के रूप में गुप्त जी का मूल्यांकन किया गया है। तीसरे अध्याय में उनके प्रारंभिक गद्य की समीक्षा है। 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'भारतमित्र' कालीन उनके कार्य का विवेचन और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ लिखे गये उनके साहित्य का उल्लेख कर के 'भारतमित्र' द्वारा हिन्दी पत्रकारकला में किये गये नव विकास का महत्व निर्धारित किया गया है। इनके अतिरिक्त इस अध्याय के विवेचित तत्व हैं—गुप्त जी की भाषा-नीति का अनुशीलन, उनके ऊपर 'भारतेन्दु' की पत्रकारिता के प्रभाव का अध्ययन तथा सामयिक पत्रों पर उनकी नीति के प्रभाव का विवेचन। चौथे अध्याय में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ हुए भाषा-सुधार-आन्दोलन का ऐतिहासिक एवं साहित्यिक अध्ययन, 'शेष' शब्द पर पं० लज्जाराम मेहता के साथ हुए विवाद की समीक्षा तथा व्याकरण एवं शैली के विषय में गुप्त जी के विचारों की विवेचना है।

पांचवां अध्याय आलोचक गुप्त जी की समीक्षा-शैली का विवेचन प्रस्तुत करता है। आपने उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला आदि भाषाओं के साहित्य-कारों के जीवनचरित-प्रकाशन की अभूतपूर्व शैली का श्रीगणेश किया था, आलोचना की तुलनात्मक तथा लोकमंगल की साधना वाली समीक्षापद्धतियों

का प्रारम्भ किया था, साहित्य में पुनः प्रविष्ट शृंगारिक प्रवृत्ति का प्रबल खंडन तथा अरुचिकर एवं कुरूप अनुवाद की रीति का निरसन किया था। प्रस्तुत अध्याय में उनकी आलोचकीय विशेषता का मूल्यांकन तथा नवीन लेखकों को दिये गये प्रोत्साहन का आकलन है। छठे अध्याय में गुप्त जी के व्यंग्यात्मक लेखों का विवेचन है। शिवशम्भु के चिट्ठों के ऐतिहासिक महत्व का प्रतिपादन, बंगाल के गवर्नर लार्ड मिन्टो और लार्ड मार्लो को लिखे गये पत्रों की कलात्मक विशेषता की समीक्षा तथा व्यंग्यात्मक लेखों में अन्तर्हित राष्ट्रीयभावना तथा साहित्यिकता आदि का मूल्यांकन किया गया है।

सातवें अध्याय में गुप्तजी के पद्य-साहित्य का अध्ययन है। उनकी उर्दू-कविता की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उर्दू-काव्य में उनके स्थान का निर्धारण किया गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में देशभक्तिपरक रचना, धार्मिक कविता, हास्य एवं व्यंग्यात्मक काव्य का कलात्मक मूल्यांकन करते हुए जोगीड़ा तथा जनगीतों (टेसू) की विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही 'भारतेन्दु' तथा प्रतापनारायण मिश्र द्वारा प्रवर्तित व्यंग्यकाव्य की परम्परा की शृंखला के रूप में गुप्तजी की कविता की समीक्षा की गयी है।

आठवें अध्याय में हिन्दी-उर्दू-विवाद में गुप्तजी के योगदान, नागरी-आन्दोलन तथा उसमें गुप्तजी द्वारा किये गये कार्य का मूल्यांकन है। हिन्दी-उर्दू-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ों की कूटनीतिज्ञता तथा जातिगत भेदभाव की नीति के प्रोत्साहन का रहस्योद्घाटन गुप्तजी ने बड़ी निर्भीकता तथा प्रामाणिकता के साथ करके राष्ट्रभाषा के रूप की स्थापना और हिन्दी भाषा एवं नागरी लिपि की उपादेयता सप्रमाण सिद्ध की थी। प्रस्तुत अध्याय में उनके राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी महान् कार्यों और मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

उपसंहार में गद्य-निर्माता बालमुकुन्द गुप्त पर विचार किया गया है। गद्यशैली-निर्धारण के क्षेत्र में गुप्तजी तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। परवर्ती गद्यलेखकों पर भाषाशैलीगत प्रभाव का अंकन तथा शैलीकार के रूप में उनका मूल्यांकन किया गया है। अन्त में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में अनुवादक गुप्तजी पर विचार किया गया है। और द्वितीय परिशिष्ट में उनके प्रमुख अप्रकाशित लेखों की तालिका प्रस्तुत की गयी है।

१८१. 'शिवसिंह सरोज' में दिये कवियों सम्बन्धी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण

[१९५७ ई०]

श्री किशोरीलाल गुप्त का प्रबन्ध 'सरोज सर्वेक्षण' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, से प्रकाशित हो रहा है।

यह शोधग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग भूमिका है। यह भूमिका भी सात अध्यायों में विभाजित की गयी है। पहले अध्याय में 'सरोज', 'सरोजकार' (शिवसिंह) तथा 'सरोज'कार के पुस्तकालय का परिचय दिया गया है और 'सरोज' के रचना एवं प्रकाशनकाल पर भी विचार किया गया है। दूसरा अध्याय 'सरोज' का महत्त्व है। इसमें गार्सा द तासी, महेशदत्त तथा मातादीन मिश्र आदि 'सरोज' के पूर्ववर्ती (हिन्दी-साहित्य के) इतिहासकारों एवं ग्रियर्सन आदि परवर्ती इतिहासकारों के ग्रन्थों से 'सरोज' की तुलना करते हुए उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। तीसरे अध्याय में 'सरोज' के आधार-ग्रन्थों का विवेचन है। चौथे अध्याय में 'सरोज' की भूलों पर प्रकाश डालते हुए इसके सुसम्पादित संस्करण की आवश्यकता पर बल दिया गया है। पांचवें अध्याय में सरोज के सन्-संवतों की परीक्षा की गयी है। छठे अध्याय में 'सरोज' के अध्ययन की आवश्यकता बतलायी गयी है तथा इस अध्ययन के सीमा-विस्तार पर प्रकाश डाला गया है। सातवें अध्याय में सर्वेक्षण के प्रमुख सहायक सूत्रों की चर्चा की गयी है।

प्रबन्ध के दूसरे भाग में मुख्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परीक्षण है। 'सरोज' में उल्लिखित सामग्री की खोज-रिपोर्टों और शोधग्रन्थों के आधार पर आलोचनात्मक परीक्षा की गयी है। विवेच्य कवियों के विषय में जो नवीन सूचनाएं सुलभ हुई हैं, उन सबका भी समावेश यथास्थान कर लिया गया है। उपसंहार में तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय तिथि-निर्णय है। इसमें दिखाया गया है कि 'सरोज' में दी गयी ६८७ तिथियों में से ४८२ की जांच की जा चुकी है। इन तिथियों में से तीस तिथियां ईस्वी सन् में हैं, शेष विक्रम संवत् में। ३९ संवत् ग्रन्थविशेषों के रचना-काल हैं। २४५ संवत् विभिन्न प्रमाणों से उपस्थिति-काल सिद्ध होते हैं। ३२ संवत् तर्क के सहारे उपस्थिति-काल सिद्ध होते हैं, केवल २४ संवत् जन्म-काल सिद्ध होते हैं (यद्यपि ग्रियर्सन ने सभी को

जन्मकाल मान लिया था) और ११३ संवत् अशुद्ध सिद्ध होते हैं। 'सरोज' के २०५ संवतों की जांच नहीं हो सकी। इन संवतों को तब तक उपस्थिति-काल ही मानना चाहिए जब तक ये भविष्य में अन्यथा न सिद्ध हो जायें। 'सरोज' में २६३ अज्ञाततिथि कवि हैं। इनमें से १२४ के सम्बन्ध में नयी तिथियां ज्ञात हुई हैं।

दूसरे अध्याय (कवि-निर्णय) में दिखाया गया है कि 'सरोज' में एक ही कवि कई-कई कवियों के नाम से उल्लिखित हो गया है। इस प्रकार ५९ कवि १२४ कवियों के रूप में आये हैं और ६५ कवियों की मिथ्या सृष्टि हो गयी है। इसी प्रकार १२ और ऐसे कवि हैं जो सरोजकार की विशुद्ध सृष्टि हैं, किसी दूसरे कवि के प्रतिरूप नहीं हैं। लगभग दस कवि ऐसे हैं जिनका नाम अतः अस्तित्व सन्दिग्ध है। ठीक इसके विपरीत कई-कई कवियों को भी मिलाकर सरोजकार ने एक कर दिया है। कई कवियों का उल्लेख उनके (कवियों के) आश्रयदाताओं के नाम से हो गया है। इस सर्वेक्षण में सात-आठ ऐसे कवियों के वास्तविक नामों का भी अनुसंधान किया गया है। तीसरे अध्याय में तथ्यों का परीक्षण किया गया है। जन्मस्थान, जाति, ग्रन्थ, उद्धरण आदि से सम्बद्ध तथ्यों की आलोचनात्मक परीक्षा करते हुए उसमें वांछित सुधार किया गया है।

१८२. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन

[१९५७ ई०]

श्री द्वारिका प्रसाद सक्सेना का प्रबन्ध 'कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। पुस्तक-रूप में इसका प्रकाशन विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, ने सन् १९५८ ई० में किया।

यह प्रबन्ध आठ प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण में प्रसाद-काव्य को (विशेष रूप से 'कामायनी' को) अनुप्राणित करने वाली मूल प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं का अध्ययन किया गया है। द्वितीय प्रकरण में 'कामायनी' की कथा-वस्तु के विभिन्न स्रोतों की गवेषणा की गयी है। 'कामायनी' की कथावस्तु में सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसके प्रबन्धकाव्यत्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय प्रकरण में 'कामायनी' के महाकाव्यत्व, रूपकत्व आदि का विवेचन करते हुए उसके सौन्दर्य-दर्शन, सौन्दर्य एवं रस आदि का पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है। चतुर्थ प्रकरण में लेखक ने 'कामायनी' के कलापक्ष की सांगोपांग समीक्षा प्रस्तुत की है। 'कामायनी' का मूल्यांकन करते हुए विश्व-साहित्य में उसका स्थान निर्धारित किया गया है। इस प्रसंग में 'कामायनी' के मूल्यांकन का आधार तुलनात्मक अध्ययन न होकर विश्व-काव्य की विशेषताएं है।

पंचम प्रकरण में 'कामायनी' के सांस्कृतिक पक्ष के विवेचन एवं उसके सांस्कृतिक योगदान का अध्ययन किया गया है। षष्ठ प्रकरण में 'कामायनी' के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का उपस्थापन है। मन, काम, इच्छा, क्रिया, ज्ञान आदि का भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हुए लेखक ने मन के क्रमिक विकास में श्रद्धा तथा इड़ा (बुद्धि) के सापेक्ष महत्त्व का अध्ययन प्रस्तुत किया है। सप्तम प्रकरण में 'कामायनी' की दार्शनिकता का विवेचन है। 'कामायनी' में अभिव्यक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन की विवेचना करते हुए 'कामायनी' की दार्शनिक देन के महत्वांकन का प्रयास किया गया है। 'कामायनी' की पारिभाषिक शब्दावली पर भी विचार किया गया है। अष्टम प्रकरण 'कामायनी' पर लिखित आलोचनाओं की आलोचना है। विस्तृत आलोचना के उपरांत 'कामायनी' के काव्य, संस्कृति और दर्शन में निहित जीवन-सन्देश का स्पष्टीकरण किया गया है। इस स्पष्टीकरण का प्रयोजन काव्य की उपयोगिता और उसके नैतिक मूल्य को उद्घाटित करना है।

१८३. अपभ्रंश-साहित्य

[१९५७ ई०]

श्री देवेन्द्र कुमार जैन को 'अपभ्रंश-साहित्य' का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने पर सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का उपस्थापन निम्नांकित ग्यारह अध्यायों में किया गया है :—

अध्याय १—अपभ्रंश भाषा : प्राकृत और अपभ्रंश, आर्य भाषा की तीन

भूमिकाएं, आर्य-भाषा और प्राकृतें, प्राकृत-साहित्य का स्वरूप और विकास, अपभ्रंश—अन्तिम अवस्था, अध्ययन का आधार, वैयाकरणों का उल्लेख, अन्य स्रोत, आभीर और अपभ्रंश, विकास की व्याख्या तथा प्रादेशिक तत्त्व, अपभ्रंश-साहित्य का स्वरूप, प्राकृत अपभ्रंश या हिन्दी अपभ्रंश का युग, अपभ्रंश-व्याकरण।

अध्याय २—युग और स्रोत : अपभ्रंश-युग, राजपूतपूर्व युग, राजनैतिक अवस्था, गुर्जर-प्रतिहार, पालवंश, दक्षिण भारत के चालुक्य, राष्ट्रकूट-शासन, गुजरात के चालुक्य-चौहान-वंश, चेदि, चन्देल-परमार-वंश, उपसंहार, यवन-राज्य का विस्तार, यवन-आक्रमण और अपभ्रंश-साहित्य, सामाजिक स्थिति, शिक्षा, धार्मिक दशा, वैष्णव धर्म, शैव, बुद्ध, जैन, इस्लाम धर्म, धार्मिक सहिष्णुता, दार्शनिक चिन्तन, विविध साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य के स्रोत, युग-चेतना का प्रभाव।

अध्याय ३—कवियों की जीवनी, प्रेरणा, उद्देश्य और विचार : स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, कनकामर, अब्दुल रहमान, जिनदत्त सूरि, जोइन्दु, रामसिंह, लक्ष्मीचन्द आदि।

अध्याय ४—वस्तु और विषय : प्रबन्धकाव्य, महापुराण, कथानक, आलोचना, साहित्य और पौराणिक रूढ़ियां, शैली की कसौटी, चरितकाव्य, पउमचरिउ, पुराण और चरितकाव्य की तुलना, कथानक शैली का आलोचना, णाय कुमार चरिउ, भविसयत्तकहा आदि, सम्बन्ध-निर्वाह और भावुकता, आत्मलघुता, गीततत्त्व, अनुश्रुतियां, अवान्तर कथाएं, चरितकाव्य के प्रकार और विशेषताएं, रामकथा की धाराएं, खंडकाव्य, मुक्तककाव्य, चर्चरी, पद, दोहा, कोश आदि।

अध्याय ५—विवरण : विवरण का अभिप्राय, देश-नगर आदि, विवाह, भोजन, गर्भावस्था, पुत्रोत्सव, स्वयंवर, युद्ध, शस्त्रपूजा आदि, जलक्रीड़ा, स्त्री-वर्णन, रूप-चित्रण, अन्य पात्रों की योजना, भाव-व्यंजना, तथ्य-व्यंजना, वस्तु-व्यंजना, संवाद-शैली आदि।

अध्याय ६—रस : अपभ्रंश कवियों की रस-व्यंजना, भरतमुनि और रस, शान्त, वात्सल्य, शृंगार, पूर्वराग, कामदशाएं, विप्रलम्भ, वीर, रौद्र, बीभत्स, भयानक, करुण, वात्सल्य, कृष्ण की बाललीला, शान्त रस और भक्त।

अध्याय ७—अलंकार : अलंकार का शास्त्रीय विवेचन, उपमा, उत्प्रेक्षा, निष्कर्ष, रूपक, परिसंख्या, एकावली, व्यतिरेक, उल्लेख, अनन्वय, उदाहरण, निदर्शना, दीपक, विरोधाभास, भ्रांतिमान्, सन्देह, श्लेष, अन्त्यानुप्रास, यमक, प्रतीक-शैली, ऊहात्मक और कूट शैली।

अध्याय ८—छन्द : अध्ययन की सामग्री, प्रयाग-शैली, कड़वक-रचना,

घत्ता का स्वरूप, छन्द का आधार, दुवई, निष्कर्ष, पद्धड़िया, अड़िल्ल, विलासिनी आदि।

अध्याय ९—प्रकृति-चित्रण : प्रकृति-चित्रण की विधाएं, पृष्ठभूमि, अलंकृत शैली, आरोप-शैली, श्लिष्ट चित्रण, उद्दीपन, अन्य वाद, प्रकृति और कवि की भावदशा, अन्तिम निष्कर्ष।

अध्याय १०—समाज और संस्कृति : परिवार, राजनैतिक अवस्था, राजा का कर्तव्य, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, आमोद-प्रमोद, साधारण जनता, लोकाचार, अन्ध-विश्वास, आर्थिक स्तर, रहन-सहन।

अध्याय ११—दार्शनिक मत : चार्वाक, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद, वेदान्त, जीवहिंसा, सृष्टिकर्तृत्व, जैनधर्म, विविधरूप, उपवास का महत्त्व, जिनपूजा, बिम्ब-प्रतिष्ठा, साहित्यिक उद्देश्य, आध्यात्मिक रूप। उपसंहार।

१८४. मालव-लोकसाहित्य—एक अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री बद्री प्रसाद परमार को उनके प्रबन्ध 'मालव-लोकसाहित्य—एक अध्ययन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

सर्वप्रथम उपोद्घात है, जिसमें लोकगीत, लोकवार्ता और लोक-साहित्य से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण विषयों (उनका शास्त्रीय स्वरूप, वैज्ञानिक गतिशीलता आदि) की व्याख्या की गयी है। मूल प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में मालवा का मानचित्र देकर उसकी भाषाओं का संक्षिप्त वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। मालवी के सामान्य लक्षणों और उपलक्षणों का विवेचन करते हुए उसके भेदों और उपभेदों की विस्तृत सूची दी गयी है। मालवी का विकास दिखलाकर अनुसन्धाता ने मालवी-लोकसाहित्य के संकलन का विवरण दिया है। दूसरे अध्याय में लोकगीत-साहित्य का अनुशीलन किया गया है। आरम्भ में गीतों का स्वभाव, उनकी सामान्य प्रवृत्तियों तथा संगीत-पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। फिर उनको अनेक वर्गों में रखकर उनका अध्ययन किया गया है। मुख्य वर्ग इस प्रकार हैं : (१) जन्मसंस्कार के गीत (२) विवाह के गीत (३) बालगीत (४) विविध गीत (पवाड़ा, लावनी, होली

आदि)। लोकगीतों के साथ ही प्रबन्धगीत एवं कथाओं का विवेचन भी किया गया है। यहीं पर गूजरों की ऐतिहासिक परम्पराओं का निदर्शन भी किया गया है।

तीसरे अध्याय में पहले मालवी-लोकसाहित्य की धार्मिक परम्पराओं का अनुशीलन किया गया है। इस साहित्य में दो धाराएं पायी जाती हैं—(क) कलगी तुर्रा (ख) मालवी-सन्तसाहित्य। दूसरी धारा के अन्तर्गत प्रचुरमात्रा में साहित्य-सर्जन हुआ है। इस अध्याय में इस साहित्य का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसके उपरान्त इन गीतों में वर्णित देवी-देवताओं, शीतला, गंगामाता, देवमहाराज आदि का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में माच (मालवी लोकनाट्य) पर विचार किया गया है। माच के प्रवर्त्तक बालमुकुन्द गुरु थे। यह परम्परा खूब फली-फूली और इसमें विशाल मात्रा में साहित्य-निर्माण हुआ। इस अध्याय में इस साहित्य का विस्तारपूर्वक शास्त्रीय विश्लेषण किया गया है।

पांचवें अध्याय में वार्ता-लोककथा-साहित्य का विवेचन किया गया है। पहले भारतीय और हिन्दी के लोककथा-साहित्य का परिचय देते हुए उपलब्ध भारतीय लोककथा-साहित्य की मौलिक समानताओं का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् मालवी लोककथा-साहित्य के संग्रह-कार्य का विवरण एवं महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसका वर्गीकरण एवं अध्ययन किया गया है। छठा अध्याय 'लोकोक्ति-साहित्य' है। लोकोक्ति-साहित्य की रूपरेखा देकर उसकी प्रकृति एवं विशेषताओं का निरूपण किया गया है। उनका वर्गीकरण भी किया गया है। साथ ही मालवी-प्रहेलिका-साहित्य की विशेषताओं और प्रवृत्तियों का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। सातवां अध्याय उपसंहार है। इसमें लोक-साहित्य की शैली और अन्य विशेषताओं का प्रतिपादन करके मालवी-लोक-साहित्य का हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध निरूपित किया गया है।

१८५. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८-१९४३ ई०)

[१९५७ ई०]

श्री राजकिशोर कक्कड़ को उनके प्रबन्ध 'आधुनिक-हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास' (सन् १८६८-१९४३ ई०) पर सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

प्रस्तुत प्रबन्ध नौ प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन में आलोचना-सम्बन्धी साहित्य के विकास का दिग्दर्शन कराते हुए आलोच्यकाल में हिन्दी में आलोचना-सम्बन्धी साहित्य के विकास का अध्ययन किया गया है। इस विकास के अन्तर्गत गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', शिवनाथ, रामकुमार वर्मा, गंगा प्रसाद पांडेय आदि आलोचकों पर विचार किया गया है।

द्वितीय प्रकरण में काव्य-सम्प्रदायों के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकरण में काव्य के बाह्य उपकरण तथा स्वरूप का विवेचन करने वाले सम्प्रदायों के विकास का निदर्शन किया गया है। साथ ही अनुमिति तथा औचित्य सम्प्रदाय के विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। तृतीय प्रकरण में काव्य के अन्तरंग तत्त्व का विवेचन करने वाले रस-सम्प्रदाय का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ प्रकरण में साहित्य-सम्बन्धी आलोचना तथा पंचम प्रकरण में साहित्य तथा उसके विविध रूपों की आलोचना का विकास दिखाया गया है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन में कविता-संबंधी विवेचन के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करके लछिराम, मुरारिदान, कन्हैयालाल पोद्दार आदि आधुनिक रीतिकारों तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी, भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल आदि से लेकर डा० नगेन्द्र, 'अज्ञेय' और शिवदानसिंह चौहान आदि तक आधुनिक आलोचकों पर विचार किया गया है।

षष्ठ प्रकरण में कथा-साहित्य (कहानी तथा उपन्यास) सम्बन्धी आलोचना के विकास का पर्यालोचन है। इसी प्रकरण में हिन्दी में निबन्ध-सम्बंधी आलोचना के विकास का विवेचन भी किया गया है। नाटक-सम्बंधी आलोचना का

विकास सप्तम प्रकरण का प्रतिपाद्य है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बलदेव प्रसाद मिश्र तथा जगन्नाथ प्रसाद भानु से लेकर उदयशंकर भट्ट, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र आदि तक विभिन्न विद्वानों के तद्विषयक विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। एकांकी नाटक से सम्बद्ध आलोचना का भी अध्ययन किया गया है।

अष्टम प्रकरण हिन्दी-साहित्य का इतिहास है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यलोचन में इतिहास-सम्बन्धी आलोचना का विकास दिखलाने के अनन्तर लेखक ने शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु, रामनरेश त्रिपाठी, एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के०, रामचन्द्र शुक्ल, शांतिप्रिय द्विवेदी, कृष्ण-शंकर शुक्ल, गौरीशंकर 'सत्येन्द्र', मोतीलाल मेनारिया, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि हिन्दी के इतिहासकारों के हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित आलोचनात्मक प्रयास पर विचार किया गया है।

नवम प्रकरण में व्यावहारिक आलोचना की विचारचर्चा की गयी है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यालोचन में व्यावहारिक आलोचना के विकास की पृष्ठभूमि का पर्यालोचन करके आलोच्यकाल की व्यावहारिक आलोचना (भारतेन्तु हरिश्चन्द्र से गंगाप्रसाद पांडेय तक) के विकास पर प्रकाश डाला गया है।

१८६. गढ़वाली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोकसंस्कृति

[१९५७ ई०]

श्री गोविन्दसिंह कन्दारी को सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके शोधकार्य का विषय था 'गढ़वाली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोकसंस्कृति'।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खंडों में विभक्त किया गया है। प्रथम खंड के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं: रवाई: सामान्य परिचय, नामकरण, सीमा, क्षेत्रफल, आबादी, वन, पर्वत, नदियां, पशुपक्षी, वन्य सम्पदा तथा सौन्दर्य, वहां के निवासी, रहन-सहन, वेशभूषा, स्वभाव, ऐतिहासिक परिचय, प्रागैतिहासिक काल, कत्यूरी शासन, गुर्जरों आदि का आगमन, गोरखा आतंक, मुगल आक्रमण आदि,

रवाई की बोली रावल्टी, रावल्टी का शब्दकोष, तत्सम, तद्भव, देशज शब्द, आधुनिक आर्यभाषाओं से उधार लिये गये शब्द, अनार्य शब्द, विदेशी शब्द, रावल्टी के स्वर, मूल स्वर, ध्वनियों का विवरण, स्वरों की उत्पत्ति, स्वरों का परिवर्तन, आदि स्वर, मध्य स्वर, अन्त्य स्वर, स्वराघात तथा स्वरागम, रावल्टी के व्यंजन, ध्वनियों का परिचय, रावल्टी व्यंजनों की उत्पत्ति, व्यंजन-परिवर्तन के रूप, संज्ञा के रूप, लिंग, वचन, कारक, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, क्रियापद आदि।

प्रबन्ध के द्वितीय खंड में रवाई के लोकगीतों का अध्ययन किया गया है। इस खंड की विषय-सूची इस प्रकार है : लोकगीतों का वर्गीकरण, वर्गीकरण का आधार, नागर आदि धार्मिक लोकगीत, वीरगीत, पवाड़े, प्रेमगीत, भाभी और मामी के प्रेमगीत आदि, प्रबन्ध गीत—धार्मिक गाथाएँ, पीड़ित नारियों की कथाएं, प्रेमकथाएं, चैत में गाये जाने वाले गाथागीत आदि, मांगल विवाह-गीत, नीतिगीत, वसन्ती, विविध गीत, लेचुवा, होली, बालगीत, लोरी, हास्य और व्यंग्य गीत, सामयिक गीत आदि, रवाई के लोकगीतों का काव्य-सौंदर्य, भावगरिमा, रस, शैली, अलंकार, छंद, तुक।

तृतीय खंड में रवाई की लोकसंस्कृति का विवेचन है। लोकगीत और लोकसंस्कृति, धर्मभावना, देवता नचाना, मंत्र-तंत्र, अन्धविश्वास आदि, यक्ष, नाग और प्रेत पूजा, नदी-पूजा, स्थानीय देवता, हिन्दू देवता, समाज का रूप, सामुदायिक जीवन, एकता, पारस्परिक सहानुभूति और सहयोग, परिवार, विवाह, स्त्री और पुरुष का सामाजिक स्थान, यौन सम्बन्ध, बहुपतित्व, नारी की दुहरी नैतिकता आदि, आर्थिक जीवन; कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, कार्य-विभाजन, भेड़, पालक का जीवन, कुटीर-उद्योग, आयात-निर्यात, सामुदायिक भोज, आतिथ्य, अछूतों का आर्थिक जीवन में योग, लोकसंगीत तथा लोकनृत्य, विविध रूप, अनुभूत ज्ञान और जीवन-दर्शन आदि इस खण्ड में अधीत विषय हैं।

१८७. कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री रामनाथ त्रिपाठी का प्रबन्ध 'कृत्तिवासी बंगला रामायण और राम-चरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन' सन् १९५७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय

द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ ।

१८८. आन्ध्र-हिन्दी-रूपक [हिन्दी और तेलगू का नाटक-साहित्य—तुलनात्मक अध्ययन]

[१९५७ ई०]

श्री पांडुरंग राव मुरली को उनके प्रबन्ध 'आन्ध्र-हिन्दी-रूपक (हिन्दी और तेलगू नाटक-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन)' प्रस्तुत करने पर नागपुर विश्वविद्यालय से सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली ।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं । पहले अध्याय में कला, काव्य और नाटक का शास्त्रीय अध्ययन है । दूसरे अध्याय में संस्कृत-नाटक-साहित्य का सिंहावलोकन है । तीसरे अध्याय में काल-विभाजन किया गया है । चौथे अध्याय में हिन्दी और आन्ध्र रूपकों के प्रयोग-युग (१४२०-१८६४ ई०) का अनुशीलन है । पांचवें अध्याय में दोनों के प्रारम्भ-युग (१८६५-९९ ई०) की समीक्षा है । छठे अध्याय में दोनों के विकास-युग (१९००-१९३४ ई०) का विवेचन है । सातवें अध्याय में दोनों के वर्तमान युग (१९३५-५४ ई०) के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है ।

१८९. भारतीय आर्यभाषा-परिवार की मध्यवर्तिनी बोलियां छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी

[१९५७ ई०]

नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ ई० में श्री भालचन्द्र राव तेलंग को उनके शोधप्रबन्ध 'भारतीय आर्यभाषा-परिवार की मध्यवर्तिनी बोलियां : छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी, मराठी और उड़िया के संगम-स्थल की उपर्युक्त तीन बोलियों (हिन्दी की बोली छत्तीसगढ़ी, मराठी की बोली हलबी और उड़िया की बोली भतरी) का भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया गया है । यह ग्रन्थ पाँच

खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में छत्तीसगढ़ी के सीमा-विस्तार, नामकरण, उसकी अन्तर्वर्तिनी बोलियों, ध्वनितत्व, शब्दकोष, रूपतत्व और अर्थतत्व पर विचार किया गया है। द्वितीय खण्ड में हलबी के ध्वनितत्व, रूपतत्व और अर्थतत्व का अनुशीलन है। तृतीय खण्ड में भतरी के ध्वनितत्व, रूपतत्व और अर्थतत्व की विवेचना की गयी है। चतुर्थ खण्ड में तीन परिशिष्ट हैं—छत्तीसगढ़ी बोली, हलबी बोली, भतरी बोली। पंचम खण्ड में उक्त तीनों बोलियों के शब्दों की अनुक्रमणिका दी गयी है।

१९०. प्रेमचन्द : एक अध्ययन [जीवन, चिन्तन और कला]

[१९५७ ई०]

श्री राजेश्वर गुरु का प्रबन्ध 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन [जीवन, चिन्तन और कला], सन् १९५७ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' के नाम से मध्य प्रदेशीय प्रकाशक समिति, भोपाल, से सन् १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

यह प्रबन्ध चार भागों में विभक्त है। सबसे पहले विषय-प्रवेश के अन्तर्गत प्रेमचन्द के विभिन्न आलोचकों के मतों पर विचार करते हुए लेखक ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। पहले भाग में प्रेमचन्द का जीवन-स्तर दिया गया है। यह तीन काल-खण्डों में विभक्त है—(१) सन् १८८० से १८९५ ई० (२) सन् १८९५ ई० से १९२१ ई०, (३) सन् १९२१ ई० से १९३६ ई०।

दूसरे भाग का शीर्षक 'कुछ विचार' है। इस भाग में साहित्य के उद्देश्य, साहित्यकार के कर्त्तव्य, साहित्याभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा तथा साहित्याभिव्यक्ति के स्वरूप आदि विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है।

तीसरा भाग 'प्रेमचन्द-साहित्य की भूमिका' है। युग के आर्थिक ढांचे पर विचार करते हुए अनुसन्धाता ने अपना मत व्यक्त किया है कि प्रेमचन्द का युग सामन्ती सभ्यता के ह्रास का युग था। इस प्रसंग में महाजनी सभ्यता के विवेचन के साथ ही गांधीवाद, साम्यवाद आदि का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचन्द की समकालीन सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक (उर्दू-हिन्दी) पृष्ठभूमि का भी पर्यालोचन है। अन्त में प्रेमचन्द की मनोरचना पर प्रकाश डाला गया है।

चौथे भाग का प्रतिपाद्य प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण और विकास-क्रम है। इस भाग में पहले 'सेवासदन' के पूर्व लिखी गयी कृतियों का अनुशीलन है तत्पश्चात् क्रमशः सेवासदन, प्रेमाश्रम, प्रतिज्ञा तथा निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र का परिशीलन है। इस भाग के अन्त में प्रेमचन्द की कहानियों का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में प्रबन्ध का उपसंहार है। प्रबन्ध में प्रेमचन्द के साहित्य का विश्लेषण करने के अनन्तर उपसंहार में उनकी कला और जीवन-दर्शन की भी समीक्षा की गयी है। अन्त में प्रेमचन्द का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

१९१. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द

[१९५७ ई०]

श्री महेन्द्र भटनागर को उनके प्रबन्ध 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' पर नागपुर विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। पुस्तकरूप में, इसी नाम से, इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी-प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, ने किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध १८ अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में 'समस्यामूलक' शब्द की व्याख्या की गयी है। 'समस्या-प्रधान' और 'समस्यामूलक' शब्दों में विरोध न होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से उनमें अन्तर है। इसी अन्तर को यहां स्पष्ट किया गया है। लेखक की धारणा है कि प्रेमचन्द वस्तुतः समस्यामूलक उपन्यासकार ही थे, यहां तक कि उनके समस्त उपन्यासों का उद्देश्य केवल हिन्दुस्तान की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि समस्याओं को प्रस्तुत करना ही रहा है।

दूसरे अध्याय में प्रेमचन्द के समय के भारत का चित्रांकन किया गया है। इसमें तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का परिचय दिया गया है, यथास्थान प्रामाणिक रिपोर्टों और इतिहासों से संबंधित उद्धरण भी दिये गये हैं। तीसरे अध्याय में प्रेमचन्द-युग में मध्यवर्ग की स्थिति का चित्रण किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग की समस्याओं को प्रधानता दी है, अतः इस वर्ग के अध्ययन की विशेष सार्थकता है।

चौथे अध्याय में प्रेमचन्द की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार किया गया है। इस अध्याय में प्रेमचन्द का शास्त्रीय रूप चित्रित किया गया है और साहित्य तथा कला के विषय में उनके विचारों पर अवधानपूर्वक प्रकाश डाला गया है। पांचवें अध्याय में प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। अनुसन्धाता का मत है कि उनका जीवनदर्शन गांधीवादी अथवा साम्यवादी दर्शन से मुक्त है। उनके उपन्यासों पर किसी 'वाद'-विशेष का लेबल नहीं चिपकाया जा सकता। वस्तुतः प्रेमचन्द न गांधीवादी थे और न साम्यवादी। अधिक समीचीन अर्थ में उन्हें मानवतावादी कहना चाहिए। लेखक ने छठे अध्याय में प्रेमचन्द को मानवतावादी सिद्ध किया है।

सातवें से लेकर सत्रहवें अध्याय तक का प्रत्येक अध्याय प्रेमचन्द के उपन्यासों में वर्णित विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध है। ये समस्याएं क्रमशः इस प्रकार हैं :— भारतीय स्वाधीनता की समस्या, रियासतों और देशी नरेशों की समस्या, साम्प्रदायिक समस्या, शैक्षणिक समस्या, औद्योगिक समस्या, ग्रामीण जीवन (किसान वर्ग की समस्याएं), अछूतवर्ग, वेश्या-समस्या, विधवा-समस्या, वैवाहिक समस्या और पारिवारिक जीवन के पहलू।

अठारहवां अध्याय 'समस्यामूलक उपन्यास और प्रेमचन्द' है। प्रस्तुत अध्याय में समस्यामूलक उपन्यास के रचना-तंत्र और प्रेमचन्द के समस्त उपन्यासों की क्रमिक चर्चा है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्या-मूलकता इसमें सिद्ध की गयी है।

१९२. हिन्दी-काव्य में कल्पना-विधान

[१९५७ ई०]

श्री रामयतनसिंह 'भ्रमर' का प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में कल्पना-विधान' सन् १९५७ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया। यह प्रबन्ध अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के दो खंडों में कुल आठ अध्याय हैं। पहले खंड का पहला अध्याय कविता के विषय में है। कविता के उद्गम, स्वरूप, उद्देश्य आदि पर प्राच्य एवं पाश्चात्य कवियों एवं आचार्यों के मतों का उपस्थापन तथा विवेचन करते हुए निष्कर्ष निकाला गया है कि 'कविता बाह्य जगत् की प्रतिक्रियाओं से

आन्दोलित अन्तर्जगत् के आवेगों का संयत एवं आनन्दमय प्रकाशन है'। दूसरे अध्याय में कविता में रूप-विधान का स्थान, क्षेत्र एवं रूप-विधान तथा कल्पना आदि अनेक विषयों पर विचार करने के अनन्तर कल्पना की विविध श्रेणियों का उपस्थापन है। इसी अध्याय में रूप-विधान का विस्तृत विवेचन करते हुए उसका वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है। उसके वस्तुपक्ष और कलापक्ष का निरूपण करने वाली विस्तृत तालिका भी दी गयी है।

दूसरे खण्ड में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय का प्रतिपाद्य 'भारतेन्दु-युग' है। भारतेन्दु-युग की सामान्य प्रवृत्तियों का अनुशीलन कर चुकने के अनन्तर लेखक ने तत्कालीन कविता के व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार किया है। दूसरे अध्याय में 'द्विवेदी-युग' का पर्यालोचन किया गया है। खड़ीबोली की कविता के निर्माण और उत्तरोत्तर विकास में द्विवेदी जी और उनके अन्य सहयोगी कवियों के योगदान का मूल्यांकन किया गया है। अनुसन्धाता का मत है कि इन कवियों ने कविता की स्वतन्त्र परिपाटी का निर्माण किया परन्तु इस आलोच्य काल के कवियों में उपदेश देने की सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है। द्विवेदी-युग की कविता में अपेक्षित सरसता एवं कलात्मकता का अभाव है।

तीसरे अध्याय का विवेच्य छायावाद-युग है। सर्वप्रथम युगीन पृष्ठभूमि की विशद विवेचना की गयी है। तदनन्तर छायावाद के प्रमुख उपकरणों पर विचार किया गया है। अध्याय के अन्त में पन्त, प्रसाद, महादेवी, निराला और रामकुमार वर्मा के काव्य के व्यावहारिक पक्ष का पृथक्-पृथक् निरूपण है। चौथे अध्याय में प्रगतिवाद-युग की सामान्य परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए इस युग की कविता के रूप-विधान की आलोचना की गयी है। पांचवें अध्याय में इसी प्रकार प्रयोगवाद-युग की सामान्य प्रवृत्तियों का परिशीलन किया गया है। तदनन्तर आज की नयी कविता की विशेषताओं, कठिनाइयों, आक्षेपों, शिल्प-प्रयोगों आदि की विस्तृत समीक्षा करते हुए उसकी भावभूमि को स्वस्थ एवं विशाल बतलाया गया है। अन्त में उसकी कलात्मक परिणति पर विचार करते हुए उसकी उपलब्धि और अभावों की चर्चा की गयी है।

छठा अध्याय उपसंहार है। भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक के रूपविधान के क्रमिक विकास का सिंहावलोकन इस अध्याय में किया गया है। परिशिष्ट में छायावादोत्तर युग के कवियों के काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए उनके काव्य के व्यावहारिक पक्ष की समीक्षा की गयी है।

१९३. निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य

[१९५७ ई०]

श्री कृष्णलाल का प्रबन्ध 'निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य' सन् १९५७ई० में नागपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध अभी प्रकाशित नहीं हुआ।

इस प्रबन्ध में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में निमाड़ी बोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन है और दूसरे खण्ड में उसके लोकसाहित्य का अनुशीलन किया गया है। पहले खण्ड में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में निमाड़ी और निमाड़ी-प्रदेश का परिचय दिया गया है। मालवा के दक्षिण में निम्नवाड़ प्रदेश है। वहां की बोली का नाम निमाड़ी है। अनुसन्धाता की स्थापना है कि निमाड़ी मराठी, गुजराती या राजस्थानी की बोली न होकर पश्चिमी हिन्दी का ही एक रूप है। दूसरे अध्याय में भारतीय आर्यभाषाओं में निमाड़ी का स्थान बतलाया गया है। तीसरे में निमाड़ी के स्वरूप का विवेचन है। चौथे अध्याय में निमाड़ी की सीमावर्ती बोलियों (मालवी, ब्रज और बुन्देली) के साथ उसकी तुलना की गयी है। पांचवें अध्याय में निमाड़ी के ध्वनितत्त्व (स्वर और व्यंजन) का अध्ययन है। छठे अध्याय में प्राकृत और मध्य-भारतीय-आर्यभाषा के स्वर-व्यंजनों का निमाड़ी में विकास दिखलाया गया है। सातवें अध्याय में विकारी शब्दों (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, लिंग, वचन, कारक आदि) के रूपतत्त्व का अध्ययन है। आठवें अध्याय में अविकारी शब्दों (अव्यय, उपसर्ग, प्रत्यय), समास आदि के रूपतत्त्व का विवेचन किया गया है।

द्वितीय खण्ड में ग्यारह अध्याय हैं। इस खण्ड के उपोद्घात में लोकसाहित्य के स्वरूप, इतिहास आदि पर विचार किया गया है। पहले अध्याय में निमाड़ी लोकसाहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में क्रमशः संस्कारों, ऋतुओं तथा धर्म से सम्बन्धित गीतों का अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में लोकगीतों में अभिव्यक्त जीवनचित्रों की विवेचना है। छठे अध्याय में विविध गीतों (शिशुगीत, जागरणगीत आदि), सातवें में निमाड़ी की लोकगाथाओं तथा आठवें अध्याय में निमाड़ी की लोककथाओं का अनुशीलन है। नवें अध्याय में निमाड़ी लोक-कथाओं की विशेषताएं बतलायी गयी हैं। दसवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में क्रमशः निमाड़ी की लोकोक्तियों, मुहावरों और प्रहेलिकाओं का अध्ययन है।

ग्रन्थ के आरम्भ में निमाड़ीभाषी प्रदेश का मानचित्र दिया गया है। प्रबन्ध के अन्त में तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम दो में निमाड़ी के लोकगीत और लोककथाएं उद्धृत की गयी हैं। तीसरे में निमाड़ी का संक्षिप्त शब्दकोष प्रस्तुत किया गया है।

१९४. केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री किरणचन्द्र शर्मा को उनके शोध-प्रबन्ध 'केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन' पर सन् १९५७ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय ने पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में, केशवदास की पूर्ववर्ती तथा समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए केशवदास पर उनका प्रभाव निरूपित किया गया है। लेखक का निष्कर्ष है कि केशवदास इन परिस्थितियों से प्रभावित होने पर भी हिन्दी-काव्यक्षेत्र में एक विशिष्ट पद्धति के जन्मदाता एवं प्रवर्त्तक हैं।

दूसरे अध्याय में केशव के जीवनचरित पर विस्तार से विचार किया गया है। उनका जन्म संवत् १६१८ वि० और मृत्यु संवत् १६७० वि० के आस-पास सिद्ध किया गया है। केशव के वंशधरों से प्राप्त वंशवृक्ष का भी विवरण दिया गया है। केशव और बिहारी के पिता-पुत्र-सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। केशव के व्यक्तित्व और उनकी जानकारी की विस्तृत चर्चा की गयी है।

तीसरे अध्याय में (खोज-रिपोर्टों में) केशवदास, केशव अथवा केशवराइ के नाम से उपलब्ध होने वाले ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा रचनाकाल का विवेचन करते हुए केशव के ग्रन्थों की संख्या एवं नाम आदि का निर्धारण किया गया है। अनुसन्धाता ने केशव के दो नये ग्रन्थों 'छन्दमाला' और 'शिखनख' की खोज की है जिन्हें परिशिष्ट में उद्धृत कर दिया गया है।

चौथे अध्याय में केशव के प्रबन्धकाव्यों का विवेचन है। प्रबन्ध-सौष्ठव, अलंकार-योजना, छन्द-प्रयोग तथा भाषा आदि पर विचार किया गया है। प्रबन्धकाव्य के आवश्यक तत्त्वों के आधार पर केशव की 'रामचन्द्रिका',

'वीरसिंहदेवचरित', 'विज्ञानगीता', 'रतनबावनी' तथा 'जहांगीरजसचन्द्रिका' की परीक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन किया गया है।

पांचवें अध्याय में केशव की विचारधारा और उनके इतिहास-ज्ञान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विचारधारा के अन्तर्गत केशव के दार्शनिक सिद्धान्त, भक्ति, नीति एवं धर्म, तत्कालीन जीवन, केशव का नारी-दर्शन, गुरु-महिमा, तथा ब्राह्मणभक्ति का विवेचन किया गया है। इतिहास-ज्ञान के अन्तर्गत 'जहांगीरजसचन्द्रिका', 'वीरसिंहदेवचरित' तथा 'रतनबावनी' ग्रन्थों में निबद्ध इतिहास-सामग्री का ब्योरेवार वर्णन करते हुए ओड़छा राज्य से सम्बद्ध अनेक अज्ञात एवं अल्पज्ञात घटनाओं का उल्लेख किया गया है। इन ग्रन्थों में वर्णित ओड़छा राज्य के वंशवृक्ष का ओड़छा गज़ेटियर आदि के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

छठे अध्याय में केशव के रीतिकाव्य का विवेचन है। रीतिकाव्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए केशवदास की भावव्यंजना, वस्तु तथा दृश्य वर्णन, नखशिख-वर्णन, अलंकार-योजना, छन्दोयोजना, भाषा आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।

सातवें अध्याय में केशव के आचार्यत्व की विवेचना है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के आधार पर केशव के लक्षण-निरूपण के मूल स्रोतों एवं उनकी मौलिक उद्भावनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

आठवें अध्याय में अलंकार, रस तथा नायिका-भेद-निरूपण आदि के आधार पर चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र, देव, दास और पद्माकर आदि के साथ आचार्य केशवदास का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

नवें अध्याय में बिहारी, मतिराम, देव, दास और बेनी प्रवीन आदि परवर्ती कवियों पर केशव का प्रभाव दिखलाया गया है। दसवें अध्याय में रीतिकालीन आचार्यों और शृंगारी कवियों से तुलना करके रीतिकवि केशवदास का स्थान निर्धारित किया गया है।

१९५ अवध के प्रमुख हिन्दी-कवियों का अध्ययन (१७००-१९०० वि०)

[१९५७ ई०]

श्री ब्रजकिशोर मिश्र का प्रबन्ध 'अवध के प्रमुख हिन्दी-कवियों का अध्ययन (१७००–१९०० वि०)' सन् १९५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रवन्ध में पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय में अवध-प्रदेश के नाम, इतिहास और सीमा का परिचय है। आलोच्यकाल (१७००–१९०० वि०) के आश्रयदाताओं तथा कवियों पर विचार किया गया है। इसी अध्याय में 'सामान्य परिचय' के अन्तर्गत लखनऊ की नवाबी और अवध की प्रमुख रियासतों—बैसवाड़ा (रायबरेली), अमेठी (सुलतानपुर), अरवर देश (प्रतापगढ़), महदीना (अयोध्या), कोटवा (बाराबंकी), बिलग्राम (हरदोई), बिसवां (सीतापुर), मुहमदी (हरदोई), दौलतपुर (रायबरेली)—उनके शासकों, तथा उनके आश्रित कवियों का व्यापक परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में अवध के हिन्दी-कवियों के काव्य के पोषक उपादानों की सामाजिक, साहित्यिक तथा धार्मिक दृष्टि से समीक्षा की गयी है।

तीसरे अध्याय में प्रमुख काव्यधाराओं का दिग्दर्शन है। अनुसंधाता ने इस काव्य की छः प्रमुख काव्यधाराएं मानी हैं (१) निर्गुण-सन्त-काव्य (२) सूफी प्रेमाख्यान (३) प्रशस्ति-काव्य (४) हास्यवृत्ति (५) नीतिकाव्य (६) गीति-काव्य। चौथे अध्याय में इस काव्य की आलोचना की गयी है। यह आलोचना भाव तथा कला दोनों की दृष्टियों से की गयी है। रस, प्रकृतिवर्णन, कल्पना, रूपचित्रण, दृश्यचित्रण, भाषा-स्वरूप और लाक्षणिकता, शब्द-चयन, संगीत आदि अनेक दृष्टियों से अवध के हिन्दी-काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। मुक्तक, दोहा, सोरठा, पद, छप्पय, सवैया, घनाक्षरी आदि की दृष्टि से काव्य-शैली का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार मौलिक तथा अनूदित प्रबन्धों का भी अनुशीलन इसी अध्याय में है। प्रबन्धकाव्यों के नामकरण, नायक, मंगलाचरण, रस, वस्तुवर्णन, भाव-व्यंजना, कथावस्तु, संवाद, संगीत, छंद, सर्गबद्धता आदि की समीक्षा है। अन्त में अवध के हिन्दी-कवियों के गद्य पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

पांचवां अध्याय 'उपसंहार' है। राज्य-वंश-वर्णन तथा कवि-वंश-वर्णन भी

परिशिष्ट के रूप में अन्त में जोड़ दिये गये हैं।

१९६. सूरदास की भाषा

[१९५७ ई०]

श्री प्रेमनारायण टंडन को लखनऊ विश्वविद्यालय ने उनके 'सूरदास की भाषा' नामक प्रबन्ध पर सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। उसी वर्ष यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य-भण्डार, गंगा प्रसाद रोड, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ।

यह प्रबन्ध सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश के रूप में है। इसमें ब्रजभाषा और सूरदास की भाषा के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा दी गयी है। इस प्रकार का अध्ययन न किये जाने के कारणों पर संक्षेप में विचार करने के पश्चात् प्रस्तुत प्रबन्ध का क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है। द्वितीय अध्याय से ग्रन्थ का मुख्य भाग आरम्भ होता है। यह अध्याय दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में ब्रज और ब्रजभाषा का संक्षिप्त परिचय देकर ब्रजभाषा के क्षेत्र-विस्तार और ब्रजभाषा, साहित्य में उसके प्रयोग का आरम्भ आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के पूर्ववर्ती हिन्दी-कवियों की कृतियों में प्राप्त ब्रजभाषा-रूप की चर्चा है। इसके पश्चात् सूरदास और ब्रजभाषा के सम्बन्ध पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय भी दो भागों में विभाजित है। पहले भाग में ब्रजभाषा के ध्वनि-समूह और सूरदास के तत्सम्बन्धी प्रयोग दिये गये हैं। इसके अन्तर्गत स्वरों के सामान्य, अनुच्चरित, सानुनासिक और संयुक्त प्रयोगों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार व्यंजनों के भी सामान्य और संयुक्त रूपों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में सूरदास के शब्द-समूह का वर्गीकरण करते हुए पूर्ववर्ती भाषाओं, समकालीन बोलियों और विभाषाओं एवं देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों के साथ-साथ देशज और अनुकरणात्मक शब्दों की भी चर्चा की गयी है। चतुर्थ अध्याय में व्याकरण की दृष्टि से सूरदास की भाषा का अध्ययन किया गया है। कवि के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय प्रयोगों की विशेषताओं के साथ-साथ उसकी वाक्य-विन्यास-पद्धति पर भी इस अध्याय में विचार किया गया है। पंचम अध्याय पुनः दो भागों में विभाजित है। प्रथम

भाग में सूरदास की भाषा के व्यावहारिक पक्ष और द्वितीय भाग में शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम के अन्तर्गत विषय, पात्र और मनोभावों के अनुसार परिवर्तित भाषा-रूपों तथा विभिन्न स्त्री-पुरुष पात्रों के संवादों और प्रसंगों एवं सूक्तियों की भाषा की विवेचना की गयी है। द्वितीय भाग में सूर-काव्य में प्रयुक्त विभिन्न छन्दों, शब्दशक्तियों, अलंकारों, गुणों, वृत्तियों, रीतियों और रसभेदों के अनुसार भाषा-रूपों की समीक्षा की गयी है। इस अध्याय के अन्त में शास्त्रीय और व्यावहारिक दृष्टि से सूरदास की भाषा के खटकने वाले प्रयोगों के भी कुछ उदाहरण दिये गये हैं।

षष्ठ अध्याय में सांस्कृतिक दृष्टि से सूरदास की भाषा का अध्ययन है। इसमें सूर-साहित्य की मुख्यत: ऐसी शब्दावली का अध्ययन किया गया है जो तत्कालीन जन-जीवन और सांस्कृतिक विचारों का परिचय कराने में सहायक हो सकती है। भौगोलिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण की जानकारी तो इस शब्दावली से होती ही है, तत्कालीन खान-पान, वस्त्राभूषण, व्यवहार की सामान्य वस्तुएं, खेल-व्यायाम, वाणिज्य-व्यवसाय आदि का संक्षिप्त परिचय भी इससे मिलता है। साथ-साथ कवि के समकालीन जन-समुदाय के सामाजिक, पौराणिक और धार्मिक विश्वासों, पर्वोत्सवों, संस्कारों आदि पर भी इस अध्याय से प्रकाश पड़ता है। सप्तम अध्याय उपसंहार के रूप में लिखा गया है जिसमें समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों की भाषा से सूरदास की भाषा की संक्षेप में तुलना की गयी है और अन्त में ब्रजभाषा की समृद्धि में सूरदास के योगदान का मूल्यांकन किया गया है। प्रबन्ध के अन्त में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट के अन्तर्गत सूरदास के काव्य में प्रयुक्त शब्दों की संख्या पर विचार किया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में सूर-साहित्य और उसकी सम्पादन-समस्या की चर्चा है।

१९७. मैथिली के कृष्णभक्त कवियों का अध्ययन

[१९५७ ई०]

श्री ललितेश्वर झा का प्रबन्ध 'मैथिली के कृष्णभक्त कवियों का अध्ययन' सन् १९५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

इस प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में कृष्णविषयक मान्यताओं पर विचार किया गया है। इस अध्याय में 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति, भक्ति तथा उसके विविध प्रकार, कृष्ण तथा उनकी उपासना के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण, ईश्वर के पूर्ण अवतार कृष्ण तथा राधा और रासलीला के सिद्धान्त आदि विषयों का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में कृष्ण-भावना (कल्ट) के प्रादुर्भाव, भागवत धर्म आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में आलवारों के वैष्णव आन्दोलन, महाराष्ट्र, मिथिला, बंगाल और गुजरात में हुए वैष्णव आन्दोलनों तथा अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय का अध्ययन किया गया है।

तीसरे अध्याय में मैथिली के कवियों का विवरण है। इस प्रसंग में मैथिली के विद्यापति, गोविन्ददास, रामदास, देवनन्द झा, उमापति उपाध्याय, नन्दीपति झा, साहेब रामादेस, रमापति उपाध्याय, रथपाणि झा, भानुनाथ झा, श्रीकान्त गनक, शिवदत्त आदि अनेक कवियों के काव्य का परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय में उपर्युक्त कवियों के काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में मैथिली कृष्णकाव्य में प्रतिपादित प्रेम का विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में संस्कृत के कवियों से विद्यापति की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। इसी अध्याय में मैथिली कवियों और हिन्दी के कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

सातवें अध्याय में मैथिली के कवियों के काव्य में अभिव्यक्त विचारों का उपस्थापन किया गया है। आठवें अध्याय में विद्यापति के विरुद्ध लगाये गये आक्षेपों का निराकरण किया गया है। अन्त में ग्रन्थ का उपसंहार है।

१६८. भारतेन्दुयुगीन कवि

[१६५७ ई०]

श्री अविनाश चन्द्र अग्रवाल का प्रबन्ध 'भारतेन्दुयुगीन कवि' सन् १६५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में छः परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में युगपुरुष के महत्त्व और भारतेन्दु के आविर्भाव-काल की परिस्थितियों पर विचार करके युगप्रवर्तक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव का विवेचन किया गया है। परिच्छेद के अन्त में भारतेन्दु-युग की सीमा का निर्धारण किया गया है (सन् १८६१ से १६०० ई०)। दूसरे परिच्छेद में भारतेन्दु-युग की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा साम्प्रदायिक परिस्थितियों का अध्ययन है। इन परिस्थितियों ने भारतेन्दुयुगीन साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया इस बात पर भी ध्यान रखा गया है। तीसरे परिच्छेद में भारतेन्दु-युग के साठ कवियों का बहिस्साक्ष्य और (विशेषकर) अन्तस्साक्ष्य के आधार पर प्रामाणिक परिचय दिया गया है। चौथे परिच्छेद में उक्त कवियों की उपलब्ध काव्य-रचनाओं का परिचयात्मक विवरण है। उनके रचनाकाल, प्रकाशनकाल, लिपिकाल, विषय, रस, छंद, अलंकार और भाषा का विवरण देने के साथ ही साथ उनके भावपक्ष और कलापक्ष का संक्षिप्त मूल्यांकन भी है। पांचवें परिच्छेद में भारतेन्दुयुगीन काव्य के विविध रूपों का बारह वर्गों (राष्ट्रीय, शृंगार, भक्ति, वर्णनात्मक, प्रकृतिवर्णन, उपदेशात्मक, प्रतीकात्मक, चमत्कारात्मक, हास्यपूर्ण और व्यंग्यात्मक, मानवचरित, लोकगीत तथा अनूदित) के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत परिच्छेद आलोच्यकाल के कवियों के अन्तरंगदर्शन का निरूपक है। इस अध्याय में उनकी विविध प्रवृत्तियों, प्रतिपाद्य विषय, काव्यरूप आदि से सम्बन्ध रखने वाली विशेषताओं का विवेचन किया गया है। छठे परिच्छेद में भारतेन्दुयुगीन काव्य के कलापक्ष (उसके छंद, रस, अलंकार और भाषा) का अध्ययन है। परम्पराविदित मात्रिक और वर्णिक, लोकगीतों से प्रभावित लावनी आदि पदशैली, संस्कृत-उर्दू-बंगला छन्दों के प्रयोग आदि की समीक्षा करके भारतेन्दुयुगीन कविता के रसों एवं अलंकारों की आलोचना की गयी है। तदनन्तर भाषा-आन्दोलन के विभिन्न पक्षों, उर्दू और हिन्दुस्तानी के साथ हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता, ब्रजभाषा और खड़ीबोली के संघर्ष, तत्कालीन काव्यभाषा की शब्दावली आदि का निरूपण है।

१६६. हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति आर्यसमाज की देन

[१६५७ ई०]

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति आर्यसमाज की देन' लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् १६५७ ई० में पी-एच०

डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और उस युग का निरूपण किया गया है। भूमिका रूप में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक स्थिति का अध्ययन करने के अनन्तर स्वामी दयानन्द का जीवनचरित प्रस्तुत किया गया है। दूसरा अध्याय 'स्वामी जी का हिन्दी-कार्य' है। इस अध्याय में स्वामी दयानन्द के जीवन का इष्ट, धार्मिक सिद्धान्त, आर्यसमाज की स्थापना और उसके नियम, स्वामी जी द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-प्रचार के साधन, स्वामी जी के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ, पत्र और विज्ञापन, स्वामी जी के ग्रन्थ, स्वामी जी और तत्कालीन प्रसिद्ध गद्यलेखक, स्वामी जी की गद्यशैली आदि पर विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में आर्यसमाज के संगठन और प्रमुख संस्थाओं द्वारा हिन्दी-कार्य का अध्ययन है। आर्यसमाज की शिक्षासंस्थाओं द्वारा हिन्दी के प्रचार पर भी प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं का अनुशीलन किया गया है।

पांचवें अध्याय में आर्यसमाज के गद्य-साहित्य का विवेचन है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शतियों में रचित इस मौलिक तथा अनूदित साहित्य का परिशीलन करते हुए हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की समृद्धि में आर्य-समाज के योगदान पर विचार किया गया है। छठा अध्याय 'आर्यसमाज और हिन्दी-पद्यसाहित्य' है। साहित्यिक कवियों के काव्य-रूप, प्रवृत्तियों आदि पर विचार करते हुए प्रबन्धकाव्य और पद्यानुवाद की समीक्षा की गयी है।

सातवें अध्याय में साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वानों के रचनात्मक कार्य की विवेचना है। यह रचनात्मक कार्य भाषा-विज्ञान, रस और अलंकार, हिन्दी-काव्य-व्याख्या, समालोचना, प्रबन्ध, कथासाहित्य आदि विविध रूपों में हुआ है। उपन्यास, कहानी और साहित्यिक निबन्धों में भी आर्यसमाजी लेखकों ने अपना योग दिया। आठवें अध्याय में आर्यसमाज द्वारा विदेशों में किये गये हिन्दीकार्य का निदर्शन है। इस अध्याय में पूर्वी अफ्रीका, केनियां, यूगांडा, मोरिशस, फीजी, डच गायना, ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गायना, लन्दन आदि स्थानों में किये गये हिन्दी-कार्य का विवरण है।

नवां अध्याय 'आर्य समाज और हिन्दी-प्रसार' है। भारत के अनेक प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार में आर्यसमाज के योगदान का दिग्दर्शन कराया गया है। न्यायालयों में हिन्दी के लिए किये गये प्रयत्न का भी उल्लेख है। आर्यसमाज द्वारा अपनाये गये हिन्दी-प्रसार के अन्य साधनों पर भी विचार किया गया है।

२००. हिन्दी-महाकाव्यों में नायक

[१९५७ ई०]

कुमारी पुष्पलता निगम को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-महाकाव्यों में नायक' पर सन् १९५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

पहले अध्याय में भारतीय धारणा के अनुसार महाकाव्य का व्यापक विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य धारणा का भी अनुशीलन किया गया है। नायक, कथानक, वर्ण्य वस्तु, वर्णन-प्रणाली, रस, विस्तार तथा उद्देश्य की दृष्टि से महाकाव्य और एपिक का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। तदनन्तर महाकाव्य में नायक के स्वरूप पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में वाल्मीकि-रामायण, महाभारत, बुद्धचरित, कुमारसंभव, रघुवंश, शिशुपालवध और नैषधीय चरित आदि संस्कृत के महाकाव्यों में नायक के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में यूनानी महाकाव्य इलियड और ओडेसी, अंग्रेज़ी महाकाव्य पैराडाइज़ लॉस्ट, लैटिन महाकाव्य ईनीड, फारसी महाकाव्य शाहनामा आदि पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक का अध्ययन करते हुए संस्कृत और पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक के स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

चौथे अध्याय का प्रतिपाद्य हिन्दी-महाकाव्य का नायक है। सिद्ध व नाथ युग, वीरगाथा-युग (पृथ्वीराजरासो), भक्ति-युग (पदमावत, सूरसागर, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका) और रीति-युग के महाकाव्यों पर इस अध्याय में विचार किया गया है। आधुनिक काल के महाकाव्यों में नायक का विवेचन पांचवें अध्याय में किया गया है। इस अध्ययन-क्रम के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग (प्रिय-प्रवास, रामचरितचिन्तामणि, साकेत) तथा वर्तमान युग (भरतभक्ति, नल-नरेश, नूरजहां, सिद्धार्थ, वैदेहीवनवास, हल्दीघाटी, दैत्यवंश) आते हैं।

छठे अध्याय में अनुसंधात्री ने नायक की कोटियां निर्धारित की हैं। कुलोत्पत्ति की दृष्टि से देव, मनुष्य, अवतार, और राक्षस—नायक की ये चार कोटियां हो सकती हैं। कथानक की दृष्टि से नायक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कोटि का हो सकता है। इसी प्रकार रस की दृष्टि से शृंगारी, प्रशान्त तथा वीर कोटि के नायक होते हैं।

सातवें अध्याय में श्रेष्ठ नायक की विशेषताओं की चर्चा की गयी है। नायक

रसानुभूति का माध्यम होता है। उसका चरित्र राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति का बहुत कुछ आधार होता है। युग की पृष्ठभूमि और महान् नायक के गुणों में निकट का सम्बन्ध है। नायक के व्यक्तित्व की गतिशीलता भी श्रेष्ठ नायक की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उसके चरित्र के वैयक्तिक और सामाजिक पक्ष की विशेषताओं का भी इस अध्याय में निदर्शन किया गया है।

२०१. तुलसीदास—जीवनी और विचारधारा

[१९५७ ई०]

श्री राजाराम रस्तोगी को उनके प्रबन्ध 'तुलसीदास—जीवनी और विचार-धारा' पर पटना विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों में विभक्त है। जीवनवृत्त-खण्ड और विचार-खंड। प्रस्तावना के अन्तर्गत भारतीय और विदेशी आलोचकों की दृष्टि में तुलसीदास पर विचार किया गया है। चरित-निर्माण की प्रणालियों और दन्तकथाओं के ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। जीवन-वृत्त-सम्बन्धी सामग्री के अन्तर्गत भक्तमाल आदि का विवेचन किया गया है। तुलसीदास की प्रामाणिक कृतियों पर विचार किया गया है। 'भक्तिरसबोधिनी', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि विविध ग्रंथों में दिये गये तुलसी के जीवन-वृत्त-संबंधी सूत्रों की परीक्षा की गयी है। इसके अनन्तर काशी, चित्रकूट, अयोध्या, राजापुर और सोरों की सामग्री और उसकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। भिन्न-भिन्न तिथियों और संवतों पर भी विचार किया गया है। तुलसी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया गया है। तुलसी के माता-पिता और उनके नाम, तुलसी का नाम, विवाह, जाति और बाल्यावस्था, गुरु, वैराग्य और पर्यटन, रामोपासना और शिवोपासना, गोस्वामी जी की अस्वस्थता और मृत्यु आदि से सम्बद्ध तथ्यों का अनुशीलन किया गया है।

विचार-खण्ड में पहले सामाजिक विचारधारा का निरूपण किया गया है। भारत का सामाजिक आदर्श, प्राचीन वर्णाश्रमधर्म, तुलसी-युग में वर्णाश्रम की स्थिति, भारतीय सामाजिक जीवन का चित्र, तुलसी के रामराज्य में दोनों धर्मों का स्वरूप, तुलसी द्वारा किया गया पारिवारिक-संबंध-निरूपण, तुलसी

की मर्यादावादिता, तुलसी की मान्यताएं, तुलसी के नारी-संबंधी विचार, 'मानस' में नारी के विविध रूप आदि की सविस्तार समीक्षा करते हुए उनकी सामाजिक विचारधारा पर प्रकाश डाला गया है ।

तदनन्तर राजनीतिक विचारधारा का अध्ययन किया गया है । तत्कालीन शासन-व्यवस्था और तुलसी, तुलसी का राजतन्त्र और जनमत, 'मानस' की राज्य-व्यवस्था, तुलसी का राज्याभिषेक-वर्णन, 'मानस' में तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का चित्रण और आदर्श राजा का स्वरूप तथा मानस में रामराज्य-वर्णन आदि का विवेचन किया गया है ।

तदुपरान्त धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत धर्म के अनेक अर्थों का विवेचन करते हुए 'मानस' में तुलसी के धर्मचक्र का उपस्थापन किया गया है । 'भक्ति' के अर्थ और महत्व तथा सच्चे भक्त के लक्षण आदि का निरूपण किया गया है । तुलसी की कृतियों में प्रेम की महत्ता और उसके व्यावहारिक रूप की अभिव्यक्ति का निदर्शन किया गया है । भक्ति के स्वरूप और प्रकार आदि का विवेचन करते हुए भरत के भक्तियोग तथा उनके चरित्र में साधन-चतुष्टय के सन्निवेश का दिग्दर्शन किया गया है ।

तत्पश्चात् आध्यात्मिक विचारधारा पर विचार किया गया है । यह तुलसी के विचारकरूप का अध्ययन है । तुलसी पर वेदों, उपनिषदों आदि का प्रभाव बतलाकर अन्य विविध दर्शनों की दृष्टि से भी तुलसी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । तुलसी के राम की वेदों के निर्गुणब्रह्म, श्रीमद्भागवत के राम आदि से तुलना करते हुए 'मानस' के राम की विराट् कल्पना पर विचार किया गया है । तुलसी के ग्रन्थों में त्रिदेव में अभेद की स्थापना की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है । तुलसी के दार्शनिक अभिप्राय पर आलोचकों के विचारों की भी विवेचना की गयी है । तुलसी के समन्वय-प्रयास का महत्वांकन किया गया है । परमात्मा, माया, जीव, जगत् आदि विविध विषयों पर तुलसी के विचारों की चर्चा की गयी है ।

२०२. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास

(हिन्दी-साहित्य में एकांकी नाटकों के उदय, विकास तथा बहुमुखी प्रगति का ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन)

[१९५७ ई०]

श्री रामचरण महेन्द्र का प्रबन्ध 'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास' सन् १९५७ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। इसका प्रकाशन सन् १९५८ ई० में साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, नई सड़क, दिल्ली, द्वारा हुआ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में दस खंड हैं जिनमें पूरे विषय का विवेचन इस प्रकार हुआ है :—

खंड १. हिन्दी एकांकी का विकास :—इसमें एकांकी नाटकों की सांस्कृतिक परम्परा, प्राचीन साहित्य में एकांकी, हिन्दी-साहित्य में एकांकी के तत्वों का विकास, आधुनिक एकांकी का रचना-शिल्प, एकांकी का बड़े नाटकों से सम्बन्ध तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के एकांकियों का विस्तृत विवेचन है।

खंड २. भारतेन्दु-युग में एकांकी की प्रगति :—तत्कालीन नाटक-साहित्य का परिचय कराते हुए लेखक ने उस युग के एकांकियों का चार धाराओं के अन्तर्गत विवेचन किया है—१. राष्ट्रीय ऐतिहासिक धारा, २. सामाजिक यथार्थवादी धारा, ३. धार्मिक-पौराणिक धारा, ४. हास्य-व्यंग्य-प्रधान धारा। इस खंड में उस युग के एकांकी लेखकों की कृतियों का विवेचन है। इसमें लेखक ने हिन्दी में एकांकी की विस्तृत परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन किया है।

खंड ३. द्विवेदी युग में एकांकी का विकास :—तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक वातावरण का उल्लेख करते हुए लेखक ने हिन्दी-एकांकी के विकास में बंगला, अंग्रेजी और मराठी नाटकों का प्रभाव चित्रित किया है। इस युग में एकांकी की तीन धाराओं का विवेचन हुआ है—१. सामाजिक-व्यंग्यात्मक धारा, २. राष्ट्रीय-ऐतिहासिक धारा और ३. धार्मिक-पौराणिक धारा तथा अनुवाद।

खंड ४. पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित द्वितीय उत्थान (१९२५–१९३८)—इस वर्ग में इंग्लैण्ड में एकांकी की प्रगति, अंग्रेजी नाट्य-विधान तथा

पश्चिमी शैली का अनुकरण और पाश्चात्य प्रणाली का हिन्दी में प्रयोग करने वाले एकांकी नाटककारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमें डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, हरिकृष्ण प्रेमी, चतुरसेन शास्त्री, सद्‌गुरुशरण अवस्थी आदि एकांकीकारों का अध्ययन है।

खंड ५. द्वितीय महायुद्ध एवं परवर्ती हिन्दी-एकांकी का विकास :— युद्धोत्तरकालीन एकांकी के विकास के अन्तर्गत नवीन धाराओं (सामाजिक-राजनैतिक विचारधारा, मानवतावाद, धार्मिक-पौराणिक धारा, यथातथ्यवाद, मनोविश्लेषण तथा सेक्स-सम्बन्धी धारा, रेडियो-एकांकी, टेकनीक-सम्बन्धी नये प्रयोग) का विवेचन किया गया है। नवीन युग की प्रतिभाओं में लेखक ने श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रोफेसर अर्जुन चौबे काश्यप, प्रो० जयनाथ नलिन, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, विमला लूथरा, डा० धर्मवीर भारती आदि अन्य एकांकी लेखकों की कृतियों और उनकी टेकनीक का विस्तृत विवेचन किया है।

खंड ६. हिन्दी में रेडियो-एकांकी : प्रगति और संभावनाएं :—इस खंड में रेडियो-टेकनीक, उपलब्ध साहित्य तथा रेडियो-एकांकीकारों की प्रवृत्तियों और साहित्य का विवेचन है। रेडियो में काम करने वाले एकांकीकारों में लेखक ने विशेष रूप से प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर आदि सोलह नाटककारों की कृतियों पर प्रकाश डाला है। रेडियो-रूपक, प्रहसन, झलकियों, मोनोलॉग आदि के अन्तर्गत मिलने वाले साहित्य का विशेष विवेचन किया गया है।

खंड ७. हिन्दी-रंगमंचीय एकांकी :—रंगमंच की आवश्यकताओं के कारण ही एकांकी का जन्म और विकास हुआ था। अब भी अनेक लेखक रंगमंचीय शिल्प का विशेष प्रयोग कर रहे हैं। इस खंड में उन एकांकीकारों की कृतियों और टेकनीक का विवेचन है जो रंगमंच के लिए खास तौर पर अभिनेय एकांकियों की रचना कर रहे हैं। इनमें डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी आदि की रंगमंचीय कृतियों का विवेचन है।

खंड ८. काव्य एकांकी का विकास : इसमें नाटकीयता और काव्य का सम्मिश्रण रखने वाले एकांकियों का विवेचन है। काव्य एकांकियों को लेखक ने तीन वर्गों में विभाजित किया है: भावनाट्य, २. गीतिनाट्य और ३. अतुकान्त पद्यों में विरचित पद्य-एकांकी। इस खंड में इन तीनों प्रकार की कृतियों का अध्ययन है।

खंड ६. नवीन हिन्दी-एकांकी का अन्तरंग-दर्शन :—इस खंड में १. सांस्कृतिक धारा, २. इतिहास और राष्ट्रीय विचारधारा तथा ३. सामाजिक समस्याएं—इन तीन धाराओं के अन्तर्गत लेखक ने कई धाराएं मानी हैं, जैसे सामाजिक कुरीतियां, अमीरी-गरीबी, साम्प्रदायिक समस्याएं, पारिवारिक जीवन, आधुनिक सभ्यता और यौन जीवन, मजदूर-किसान और पूंजीपति का संघर्ष, ग्राम-सुधार, साहित्यिक समस्याएं, भाषा-सम्बन्धी एकांकी, जीवन, कला और संगीत, साहित्य-सम्मेलन और गोष्ठियां, कवियों की जीवनियां, हास्यव्यंग्यमय प्रहसन और बाल-एकांकी ।

खंड १०. हिन्दी-एकांकी का भविष्य :—इस खंड में एकांकी की भावी प्रगति पर विचार करते हुए लेखक ने एकांकी और फिल्म, एकांकी और टेलीविजन, कालेज तथा एकांकी रंगमंच, हिन्दी-एकांकी की त्रुटियां और आवश्यकताएं आदि विषयों का विवेचन किया है ।

२०३. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक

[१९५७ ई०]

राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १९५७ ई० में श्री जगदीशचन्द्र जोशी को उनके प्रबन्ध 'जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की ।

यह प्रबन्ध तीन खंडों में विभक्त है । प्रथम खंड के छः अध्यायों में इतिहास के स्वरूप, उसके मूल उत्स, ऐतिहासिक नाटकों के रचनातन्त्र और वर्गीकरण, ऐतिहासिक नाटक में सत्य के स्वरूप और कालक्रम-दोष पर विचार किया गया है । द्वितीय खंड के छः अध्यायों में प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य बतलाकर उनके कथानक, ऐतिहासिक सत्य, कालयोजना और कालक्रम-दोष का अध्ययन किया गया है । तृतीय खंड के तीन अध्यायों में उनके ऐतिहासिक वातावरण का अनुशीलन है । आरम्भ में भौगोलिक विवरण प्रस्तुत करके सामाजिक परिस्थितियों (सामाजिक ढांचा, धर्म और देवता, लोकविश्वास, प्रणय-विवाह, खान-पान, वस्त्र और आभूषण, उत्सव, क्रीड़ा-विनोद, युद्ध, शिक्षा और कला, संगीतकला और साहित्य) का अध्ययन किया गया है । अन्त में राज्यशासन और रणनीति का निरूपण है ।

२०४. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता

[१९५७ ई०]

श्री उमाकान्त गोयल का प्रवन्ध 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' सन् १९५७ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह दो खंडों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में ग्रन्थ-परिचय, भाव-पक्ष, कलापक्ष और गुप्त जी के अनुवाद ग्रन्थ—चार अध्याय हैं। उत्तरार्द्ध में भारतीय संस्कृति के आख्याता : मैथिलीशरण गुप्त तथा हिन्दी-काव्य में गुप्त जी का स्थान—दो अध्याय हैं। इस प्रबन्ध का प्रकाशन हिन्दी अनुसंधान-परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६, दरियागंज दिल्ली, ने सन् १९५८ ई० में किया।

'ग्रन्थ-परिचय' में काल-क्रम से गुप्त जी की मौलिक कृतियों का परिचय दिया गया है। उन सभी के प्रतिपाद्य, मूल स्रोत तथा मूलरूप में परिवर्तन और उनके कारणों पर विचार हुआ है। 'भाव पक्ष' के पांच भाग हैं। प्रथम भाग में 'भाव' का अभिप्राय और भावों की संख्या का विवेचन है और फिर गुप्त जी के काव्य से विभिन्न भावों (रसों), आलम्बनों, उद्दीपनों, संचारियों, रसाभास, भावोदय, भावशान्ति आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। आलम्बन और उद्दीपनगत वैविध्य तथा शास्त्र में अनुल्लिखित संचारियों का भी निरूपण हुआ है। द्वितीय भाग में गुप्त जी के काव्य की प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता की समीक्षा है और तृतीय में उनके काव्य के कतिपय मार्मिक प्रसंगों का व्याख्यान है। चतुर्थ भाग में कवि की कल्पना और भावोत्कर्ष में उसके योग तथा पंचम में भावचित्रण के उद्देश्य पर विचार किया गया है।

'कलापक्ष' के चार विभाग हैं। प्रथम में मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न काव्यरूपों तथा द्वितीय में उनके काव्य-शिल्प की पर्यालोचना है। तृतीय विभाग में गुप्त जी की भाषा के क्रमिक विकास का आख्यान, उनकी भाषा के स्वरूप और सौष्ठव का विवेचन तथा खड़ीबोली के विकास में उनके योगदान का आलेखन है। चतुर्थ विभाग में गुप्त जी के काव्य से अनेक छन्दों के उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। छंदों की प्रसंगानुकूलता तथा तुक अथवा अन्त्यानुप्रास की समीक्षा भी हुई है। प्रस्तुत प्रबन्ध का चौथा अध्याय है

'मैथिलीशरण गुप्त के अनुवाद-ग्रन्थ'। इस अध्याय में आलोच्य कवि द्वारा अनूदित छः पुस्तकों का परिचय है और मूल से उनकी तुलना की गयी है।

उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत 'भारतीय संस्कृति के आख्याता : मैथिलीशरण गुप्त' में संस्कृति (सामान्य) और उसके तत्वों का आलेखन तथा भारतीय संस्कृति के लक्षण का निरूपण और उसके विभिन्न सोपानों का आख्यान है। इसके पश्चात् गुप्त जी द्वारा गृहीत संस्कृति एवं उनके काव्य के सांस्कृतिक पृष्ठाधार का व्याख्यान है। अन्तिम अध्याय में हिन्दी-काव्य में गुप्त जी का स्थान निर्धारित किया गया है। अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची दी गयी है।

१०५. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त

[१९५७ ई०]

श्री रामलालसिंह को सन् १९५७ ई० में उनके प्रबन्ध 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त' पर सागर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। यह ग्रन्थ सन् १९५८ ई० में कर्मभूमि-प्रकाशन-मंदिर, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी, से प्रकाशित हुआ।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में शुक्ल-पूर्व सैद्धान्तिक आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन है। ये प्रवृत्तियां परम्परावादी, पुनरुत्थानवादी, नवीनतावादी और समन्वयवादी हैं। द्वितीय अध्याय में आचार्य शुक्ल की समीक्षा-कृतियों का सामान्य परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय में शुक्ल जी की समीक्षा-कृतियों के आधार पर उनके जीवन-सिद्धान्तों, अंगी धर्म और अंगधर्मों तथा उन सिद्धान्तों के स्रोतों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का निरूपण है। उनके अंगी सिद्धान्त (रस-सिद्धान्त) और अंगसिद्धान्तों (अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि) की व्याख्या की गयी है।

पंचम अध्याय में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के विकास का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों के विविध आदर्शों (वस्तुवादी आदर्श, प्रबन्धकाव्य का आदर्श, लोकधर्म का आदर्श, रसादर्श, सांस्कृतिक आदर्श, राष्ट्रीय आदर्श, हिन्दी-समीक्षा के पुनर्निर्माण का आदर्श) का अनुशीलन है। सप्तम अध्याय में उनके समीक्षा-सिद्धान्तों के मूल स्रोतों का अनुसंधान

किया गया है। अष्टम अध्याय में भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों की तुलना में शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों का अध्ययन करके उनकी चिन्तनशक्ति की मौलिकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रबन्ध के उपसंहाररूप में लिखित नवम अध्याय में सैद्धान्तिक समीक्षा को शुक्ल जी की देन का मूल्यांकन करके उनकी प्रमुख विशेषताओं का उपस्थापन किया गया है।

२०६. गुप्त जी का काव्य-विकास

[१९५७ ई०]

श्री कमलाकान्त पाठक को उनके प्रबन्ध 'गुप्तजी का काव्य-विकास' पर सन् १९५७ ई० में सागर विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। मेसर्स रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स दिल्ली, द्वारा इसका प्रकाशन हो रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खंडों में विभक्त है। ये चार खंड भी तेरह अध्यायों में विभाजित किये गये हैं। पहले अध्याय में मैथिलीशरण गुप्त की जीवनी का विस्तृत विवरण दिया गया है। दूसरे अध्याय में गुप्त जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। तीसरा अध्याय 'जीवन-दर्शन' है जिसके अन्तर्गत केन्द्र-बिन्दु, परोक्ष तत्व, देवत्व, दनुजत्व और अतिप्राकृत तत्व, साम्प्रदायिक ऐक्य और धार्मिक समन्वय, जातीयता और राष्ट्रीयता, समाज, राजनीति, धारणा, काव्यकला और समन्वयवाद : सर्वांगीण दर्शन नामक ग्यारह शीर्षकों से विचार करते हुए गुप्त जी के जीवन-दर्शन पर प्रकाश डाला गया है।

काव्य-विकास के निरूपक चौथे अध्याय में पीठिका और परिवेश का विवेचन किया गया है। भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक उत्थान का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पांचवें अध्याय में कवि की काव्य-कृतियों का क्रम-विकास प्रदर्शित किया गया है। कृतियों का विवेचन करते हुए छठे अध्याय में निबन्ध-काव्य पर विचार किया गया है। लेखक ने निबन्ध-काव्य के निम्नलिखित ५ भेद माने हैं: (१) आख्यानक लघु निबन्ध, (२) निराख्यानक लघु निबन्ध, (३) आख्यानक बृहत् निबन्ध-काव्य, (४) निराख्यानक बृहत् निबन्ध-काव्य, (५) संकलनात्मक निबन्ध-काव्य।

सातवें अध्याय में गुप्त जी के खंडकाव्यों की समीक्षा की गयी है। आठवें अध्याय में 'जय भारत' को बृहत् प्रबन्ध मानते हुए उसका अनेक दृष्टियों से

अध्ययन किया गया है। नवें अध्याय में 'साकेत' को महाकाव्य मानते हुए उसके विविध पक्षों का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। 'साकेत' के आधार ग्रन्थ, नामकरण, प्रबन्ध-शिल्प, वस्तु-विन्यास, नूतन प्रसंगोद्भावनाएं, चरित्र-चित्रण, संवाद, वस्तु-निरूपण, भाव-व्यंजना, आधुनिकता, सांस्कृतिक महत्व तथा 'साकेत' के महाकाव्यत्व आदि का व्यापक प्रतिपादन किया गया है। दसवें अध्याय में गुप्त जी के गीति-काव्य का अनुशीलन किया गया है। गीत-कला का विकास प्रदर्शित करते हुए विभिन्न कालों में रचित गुप्त जी के गीतों की समीक्षा की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में अन्य काव्यरूपों की चर्चा की गयी है। 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' आदि नाट्य-कृतियां, गुप्त जी के मुक्तक तथा गद्य-रचनाएं इस अध्याय की विवेच्य वस्तु हैं। बारहवें अध्याय में गुप्त जी द्वारा किये गये संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी काव्यों तथा नाटकों के अनुवादों का अध्ययन किया गया है। उनकी इस प्रवृत्ति का उनके काव्य-विकास पर क्या प्रभाव पड़ा, यह भी निर्दशित किया गया है।

तेरहवां अध्याय क्रिया-कल्प का है। इस अध्याय में शैली, भाषा, तथा छन्द की दृष्टि से गुप्त जी के काव्य-प्रयास की परीक्षा की गयी है। प्रबन्ध के अन्त में नौ परिशिष्ट हैं, जिनसे गुप्त जी के विषय में विशेष जानकारी तो उपलब्ध होती ही है, प्रबन्ध का अनुसंधानात्मक मूल्य भी बढ़ जाता है। ये परिशिष्ट इस प्रकार हैं : (१) ग्रन्थ-रचना-सूची, (२) मंगलाचरण-सूची, (३) स्वलिखित भूमिकादि की सूची, (४) अन्यलिखित प्राक्कथन आदि की सूची, (५) समर्पण-सूची, (६) अप्रकाशित स्फुट रचनाएं, (७) सन् १९०५ से सन् १९१७ तक 'सरस्वती' में प्रकाशित गुप्त जी की कविताएं, (८) गद्य-रचनाएं (९) समीक्षा-साहित्य।

२०७. भारतेन्दु-युग के नाटककार

[१९५७ ई०]

श्री भानुदेव शुक्ल को उनके प्रबन्ध 'भारतेन्दु-युग के नाटककार' पर सागर विश्वविद्यालय से सन् १९५७ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

२०८. हिन्दी और मराठी का निर्गुण-सन्त-काव्य (११वीं से १५वीं शती : तुलनात्मक अध्ययन)

[१६५८ ई०]

श्री प्रभाकर माचवे का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी और मराठी का निर्गुण-सन्त-काव्य (११वीं से १५वीं शती : तुलनात्मक अध्ययन)' सन् १६५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध पाँच खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड 'विषय-प्रवेश' है। इसमें भारतीय साहित्य के अन्तःसूत्र, प्रस्तुत अनुसन्धान के दृष्टिकोण और निर्गुण-सन्त-काव्य के वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता का प्रतिपादन करके रहस्यवाद-विषयक उपलब्ध सामग्री का साहित्यिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों से विवेचन किया गया है। द्वितीय खंड में मराठी के निर्गुण-सन्त-साहित्य की विशेषताओं का अध्ययन है। चक्रधर और महानुभाव पंथ की, गोरक्षानाथ और वेदान्त की, दाक्षिणात्य शैव उपासना तथा परवर्ती गाणपत्य दत्तात्रय सम्प्रदाय आदि की विस्तार से चर्चा की गयी है। मराठी सन्तकवियों की दार्शनिक मान्यताओं और विश्वासों (जीव, जगत् तथा परमतत्त्व की परिकल्पनाओं) का सोदाहरण स्पष्टीकरण है। तत्पश्चात् ज्ञानेश्वर, नामदेव महानुभावपंथी कवियों तथा एकनाथ आदि का मूल्यांकन है। निर्गुण-कवियों द्वारा प्रयुक्त सामान्य प्रतीकों और संकेतों तथा उनमें पायी जाने वाली लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति का विश्लेषण है। अन्त में मराठी निर्गुणकवियों के रहस्यवाद और उसके प्रभाव का भी ऐतिहासिक विवेचन है।

तृतीय खंड में हिन्दी के निर्गुण-सन्त-काव्य का उपर्युक्त पद्धति से अध्ययन किया गया है। नाथ-सम्प्रदाय, सहजयान और बौद्ध प्रभाव, सिद्ध-साहित्य तथा सूफीमत की परम्पराओं, दार्शनिक विश्वासों और मान्यताओं (अद्वैतवाद, सहज और निरंजन, जीव, जगत् और परमतत्त्व के विषय में परिकल्पना), निर्गुण कवियों के परम्परानुकरण और मौलिकता आदि पर विचार किया गया है। हिन्दी के निर्गुणकाव्य में प्रयुक्त सामान्य प्रतीकों तथा संकेतों, उलटबांसियों आदि के रूप में पायी जाने वाली लोकोत्तर अभिव्यंजना की प्रवृत्ति, परवर्ती काव्य पर रहस्यवाद के प्रभाव आदि का अनुशीलन किया गया है। चतुर्थ खंड में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें हिन्दी और मराठी के

निर्गुण-सन्त-काव्य की चिन्तनपरक समानता और गुण-दोषों की गवेषणात्मक विवेचना की गयी है। दोनों भाषा-क्षेत्रों की भिन्नता के कारण दोनों भाषाओं के निर्गुण-सन्त-काव्य की अभिव्यंजना में जो अन्तर आया है उसके कारणों की भी छानबीन की गयी है। कबीर और चक्रधर के काव्य-दर्शन, दोनों भाषाओं के रचनाकार नामदेव तथा दोनों भाषाओं के निर्गुण-सन्त-कवियों की स्फुट गीतरचना का अलग-अलग तीन अध्यायों में विशेष रूप से व्यापक परिशीलन है। खंड के अन्त में दोनों भाषाओं की निर्गुण-कविता में प्रयुक्त शब्दावली की समानता एवं असमानता का भी निदर्शन है।

अन्तिम खंड उपसंहार है। इसमें रहस्यवाद की तत्कालीन परिभाषा का परीक्षण उपर्युक्त विवेचन के आधार पर किया गया है। रहस्यवाद के एक प्रमुख विषय ससीम आत्मा के एकान्त और विरह-व्यंजना पर नये ढंग से प्रकाश डाला गया है। कुछ मौलिक निष्कर्षों की स्थापना की गयी है। परवर्ती भारतीय काव्य पर (दोनों भाषाओं में) इस रहस्यवाद की परम्परा का क्या प्रभाव पड़ा इसका तुलनात्मक विवेचन है। आगे चलकर उस प्रकार की कविता के अप्रचलन के कारणों का भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार इस शोध-ग्रन्थ में भारतीय साहित्य की अभेदात्मकता को ध्यान में रखकर हिन्दी और मराठी सन्त-काव्य की परिस्थितियों, प्रादुर्भाव तथा विकास के अध्ययनपूर्वक दोनों की दार्शनिक मान्यताओं एवं साहित्य-कला की तुलनात्मक मीमांसा की गयी है।

२०९. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय

[१९५८ ई०]

डा० भगवती प्रसाद सिंह का शोध-प्रबन्ध 'रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ मुद्रित रूप में ही प्रस्तुत किया गया था। इसका प्रकाशन अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर, से सं० २०१४ में हुआ।

इस ग्रन्थ में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त परिचय देकर तत्संबंधी विवेचनात्मक साहित्य ('रसिक प्रकाश भक्तमाल' से लेकर 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां' तक) की परीक्षा की गयी है। दूसरे अध्याय में रामभक्ति में रसिक-भावना का विकास दिखलाया गया है। आरम्भ में राम

के ऐतिहासिक, साहित्यिक और साम्प्रदायिक रूपों की विवेचना की गयी है। तत्पश्चात् आलवार सन्तों, वैष्णव आचार्यों एवं रामावत सम्प्रदाय की राम-भक्ति का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे अध्याय में रसिक-सम्प्रदाय और साधना का अनुशीलन है। पहले रसिक-सम्प्रदाय के विकास में उन्नीसवीं शती का महत्व प्रतिपादित किया गया है। तदनन्तर रसिक साधकों की विशेषता, रसिक-सम्प्रदाय के पर्याय, रसिक-भाव की व्यापकता, रसिकों के भेद, रसिक-लक्षण, रसिक-भक्ति की प्रमुख विशेषताओं, रसिक तीर्थों में आस्था आदि का निरूपण है। उसके बाद रसिक-साधना का विवेचन है। साधना के स्वरूप, अधिकारी, साध्य तत्व, साधना में प्रवृत्ति के हेतु, साधना-पद्धति, पंचसंस्कार-दीक्षा, अर्थपंचक, तत्वत्रय-ज्ञान, प्रपत्ति-उपदेश, नाम-साधना, गुण-चिन्तन, रूपध्यान, साधना-शरीर, सद्गुरु की प्राप्ति और महत्व, सखीभाव-सम्बन्ध आदि विषयों की मीमांसा की गयी है। पंचभक्ति-रसों, तदनुसार अवतारों, रसों के अंगों, ईश्वरजीवसम्बन्ध, रसों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि की व्याख्या करके साकेत-लीला के विविध तत्वों का विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। चौथे अध्याय में रसिक-सम्प्रदाय में गुरु परम्परा और तिलक का महत्व प्रतिपादित करके रसिक-रामभक्ति की मूल परम्पराओं तथा रसिक-गद्दियों की परम्पराओं एवं तिलक आदि का उपस्थापन किया गया है।

पांचवें अध्याय में रसिक-साहित्य और उसके निर्माताओं का अध्ययन है। रसिक-सिद्धान्त और साहित्य का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव दिखलाकर रसिक-साहित्य के अरसठ प्रतिनिधि कवियों की अनुसन्धानात्मक समीक्षा की गयी है। उपरिनिर्दिष्ट साहित्य-निर्माताओं के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के एक सौ बाईस अन्य कवियों के रचनाकाल, रचनाओं तथा निवासस्थान-सम्बन्धी विवरण रसिक-सम्प्रदाय-विषयक अनुसन्धान के लिए बहुत उपयोगी हैं। ग्रन्थ के अन्त में 'उपसंहार' है जिस में रसिक-रामभक्ति के विकास का सिंहावलोकन, रसिकों की देन का मूल्यांकन, रसिक-साधकों के विषय में शंकासमाधान एवं रसिक-साहित्य तथा साधना की वर्तमान स्थिति का दिग्दर्शन किया गया है।

२१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री जयचन्द राय का प्रबन्ध 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

यह प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय 'अवतरणिका' है। इस में नव जागरण की भूमिका, पाश्चात्य सम्पर्क और नये आन्दोलन, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों, पत्रकारिता, भारतेन्दुयुगीन साहित्य (कविता, नाटक, निबन्ध-साहित्य, समालोचना, साहित्यगोष्ठियां तथा सम्मेलन, एवं द्विवेदी-युग का संक्षिप्त विवेचन कर के शुक्ल जी के आविर्भाव का निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में रामचन्द्र शुक्ल की साहित्यिक मान्यताओं का अध्ययन है। अध्याय के आरम्भ में उनकी मान्यताओं की भूमिका के रूप में उनके मान, स्थायी भाव, संचारीभाव, उत्साह, श्रद्धाभक्ति, करुणा, लज्जा-ग्लानि, लोभ, प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध तथा अन्य मनोविकारों विषयक विचारों का विवेचन है। तत्पश्चात् उनके साहित्यशास्त्र की मीमांसा है। साहित्य के स्वरूप, अधिकारी, रचनात्मक उपादान, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, कल्पना, बुद्धि, भाषा, अलंकार, रीति, छन्दोविधान और वर्गीकरण, निबन्ध, समालोचना, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं गद्यकाव्य विषयक सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी है। अन्त में उनकी विशिष्ट उद्‌भावनाओं (काव्यत्व के अधिवास, रसात्मक बोध, रस की कोटियां, साधारणीकरण, काव्य में वस्तु-व्यंजना तथा काव्य में प्रकृति-चित्रण) का अनुशीलन है।

तीसरे अध्याय में उनकी पारिपार्श्विक मान्यताओं (लोकधर्म, नारी की सामाजिक मर्यादा, निर्गुण अथवा सगुण भक्ति, प्रवृत्ति-निवृत्ति और दार्शनिक विचार) का अध्ययन किया गया है। चौथे अध्याय में शुक्लजी लिखित व्यावहारिक समीक्षा की समीक्षा है जिसमें तुलसीदास, सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, छायावाद, अभिव्यंजनावाद एवं अन्य प्रवृत्तियों पर लिखित आलोचनाओं की विवेचना की गयी है। पांचवें अध्याय का प्रतिपाद्य है 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-समीक्षा'। छठे अध्याय में 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' का विभिन्न दृष्टियों से व्यापक परिशीलन किया गया है। सातवें अध्याय की प्रस्ता-

वना के रूप में भारतेन्दुयुगीन और द्विवेदीयुगीन हिन्दी-निबन्ध का संक्षिप्त निरूपण करके शुक्ल जी की मौलिकता, बुद्धि और हृदय का योग, गूढ़ गुम्फित विचार परम्परा, पूर्वपक्ष की योजना, विषय-लग्नता, विवेचन की प्रक्रिया, व्यक्तित्व का प्रक्षेपण, गोचरविधान, व्यंग-विनोद, भाषा की समाहारशक्ति एवं भाषा स्वरूप—इन शीर्षकों के अन्तर्गत शुक्ल जी के निबन्ध-साहित्य का अध्ययन किया गया है। आठवें अध्याय में उनके जीवनी-साहित्य (राधाकृष्णदास का जीवनचरित्र), नवें अध्याय में कहानी (ग्यारह वर्ष का समय) और दसवें अध्याय में काव्य-विशेषताओं की समीक्षा है। ग्यारहवें अध्याय में उनके इतर-साहित्य (भूमिका, सम्पादन, अनुवाद आदि) का विवेचन है। परिशिष्ट में शुक्ल जी की जीवनी और व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी कृतियों की सूची भी दे दी गयी है।

२११. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य

[१९५८ ई०]

श्री गोविन्दराम शर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य' पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए सन् १९५८ ई० में स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध सन् १९५९ ई० में हिन्दी-साहित्य-संसार, नई सड़क, दिल्ली, से प्रकाशित हुआ है।

इसमें कुल बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। महाकाव्य-विषयक भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों की तुलना के अनन्तर महाकाव्य के स्थायी लक्षण निश्चित किये गये हैं। दूसरे अध्याय में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के महाकाव्यों की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है और हिन्दी-महाकाव्यों पर उनके प्रभाव की समीक्षा की गयी है तीसरे अध्याय में हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों का विवेचन है। हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों में 'पृथ्वीराजरासो', 'पदमावत' और 'रामचरितमानस' सम्मिलित हैं। चौथे अध्याय में आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों की प्रमुख प्रवृत्तियों की तथा उन पर वर्तमान युग की परिस्थितियों के प्रभाव की समीक्षा की गयी है। अध्याय के अन्त में आधुनिक महाकाव्यों को तीन वर्गों में विभक्त किया

गया है—(१) प्रमुख महाकाव्य, (२) अन्य महाकाव्य और (३) तथाकथित महाकाव्य।

पांचवें अध्याय में महाकाव्य की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' का मूल्यांकन किया गया है। अन्त में भागवत, मेघदूत, सूरसागर, नन्ददास के 'भ्रमरगीत', कविरत्न सत्यनारायण के 'भ्रमरगीत' आदि के साथ 'प्रियप्रवास' की तुलना करते हुए 'प्रियप्रवास' पर विविध कृतियों के प्रभाव की समीक्षा की गयी है। छठे अध्याय में महाकाव्य के रूप में 'साकेत' की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इसी अध्याय में वाल्मीकि-रामायण, रामचरितमानस और रामचन्द्रिका के साथ 'साकेत' की तुलना करते हुए उस पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव का विवेचन भी किया गया है। सातवें अध्याय में महाकाव्य की दृष्टि से 'कामायनी' का विवेचन तथा मूल्यांकन किया गया है। आठवें अध्याय में कथावस्तु, चरित्रचित्रण, प्रकृति-वर्णन और भाषाशैली आदि (महाकाव्य के) तत्वों के आधार पर 'वैदेही-वनवास' की समीक्षा की गयी है। नवां अध्याय 'कृष्णायन' से सम्बन्ध रखता है। महाकाव्य की दृष्टि से 'कृष्णायन' की समीक्षा के पश्चात् 'कृष्णायन' पर महाभारत, गीता, सूरसागर, रामचरितमानस और प्रियप्रवास आदि विविध रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट किया गया है। दसवें अध्याय में 'साकेतसन्त' के महाकाव्यत्व की समीक्षा की गयी है। साथ ही 'साकेतसन्त' पर नवयुग के प्रभाव का स्पष्टीकरण और 'साकेत' के साथ उसकी तुलना भी की गयी है।

ग्यारहवें अध्याय में अन्य महाकाव्यों की समीक्षा है। अन्य महाकाव्यों में (१) नूरजहां, (२) सिद्धार्थ, (३) दैत्यवंश, (४) अंगराज, (५) वर्द्धमान, (६) रावण, (७) जयभारत और (८) पार्वती की गणना की गयी है। बारहवें अध्याय में तथाकथित महाकाव्यों के महाकाव्यत्व की आलोचना की गयी है। इस श्रेणी में (१) रामचरितचिन्तामणि, (२) श्री रामचन्द्रोदय काव्य, (३) हल्दीघाटी, (४) कृष्णचरितमानस, (५) कुरुक्षेत्र, (६) आर्यावर्त, (७) जौहर, (८) महामानव (९) विक्रमादित्य, (१०) जननायक, (११) जगदालोक और (१२) देवार्चन—इन कृतियों को स्थान दिया गया है। 'उपसंहार' में प्रबन्ध का सारांश दिया गया है। अन्त में तीन परिशिष्ट हैं, पहले परिशिष्ट में पाश्चात्य महाकाव्यों का परिचय दिया गया है, जिनमें इलियड, ओडिसी, इनियड, डिवाइन कॉमेडी और पैराडाइज़ लॉस्ट सम्मिलित हैं। दूसरे परिशिष्ट में 'साकेत' तथा अन्य विविध कवियों के पद्य तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। तीसरे परिशिष्ट में बंगला के महाकाव्यों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें कृत्तिवास-कृत रामायण, काशी रामदास कृत 'महाभारत', आलावाल

कृत 'पद्मावती', माइकेल मधुसूदन कृत 'मेघनादवध' और हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय कृत 'बृत्रसंहार' सम्मिलित हैं।

२१२. आधुनिक सामाजिक आन्दोलन एवं आधुनिक साहित्य [१६००-५० ई०]

[१६५८ ई०]

श्री कृष्ण बिहारी मिश्र का प्रबन्ध 'आधुनिक सामाजिक आन्दोलन एवं आधुनिक साहित्य (१६००-५० ई०)' सन् १६५८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

इस प्रबन्ध के पांच अध्यायों में बीसवीं शती ई० के पूर्वार्ध के हिन्दी-साहित्य में चित्रित सामाजिक आन्दोलनों का विवेचन एवं विश्लेषण करके यह स्थापना की गयी है कि हमारे साहित्य-स्रष्टाओं ने सामाजिक परिवर्तन के लिए मार्ग-निर्देशन भी किया है और तदर्थ प्रेरित आन्दोलनों का बौद्धिक नेतृत्व भी। प्रथम अध्याय में वैदिक युग से लेकर अठारहवीं शती ई० तक के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य की परम्परा का सिंहावलोकन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि साहित्य-धारा समाज का किस प्रकार सिंचन और पोषण करती रही है। द्वितीय अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते भारत में अत्यन्त महत्वपूर्ण, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन घटित होते हुए दिखायी दिये। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में व्याप्त रूढ़िवाद, अन्य परम्परा-पालन और गतानुगतिकता का खंडन किया तथा महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर भी दृष्टि डाली। देश के आर्थिक दासत्व, विदेशी वस्तुओं के आयात से दिनोंदिन बढ़ने वाली दरिद्रता और 'आर्म्स ऐक्ट' के मूल में निहित राजनैतिक अविश्वास तथा कूटनीति आदि पर भी रोष प्रकट किया।

तृतीय अध्याय में द्विवेदीयुगीन कवियों नाथूराम 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि एवं अध्यापक पूर्णसिंह आदि अन्य साहित्यकारों के साहित्य में अभिव्यक्त कृषकों और श्रमिकों की शोचनीय अवस्था, हिन्दू जाति-व्यवस्था, संयुक्तपरिवार-प्रणाली, शासकों की

साम्प्रदायिकता, अनमेल विवाह, विधवा-प्रथा आदि से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक आन्दोलनों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में राजनैतिक परिस्थिति का विवेचन करके यह बतलाया गया है कि छायावादी युग (१९१८-१९३५ ई०) में आर्थिक क्षेत्र में भयंकर मन्दी आयी जिससे जनता को अपार कष्ट हुआ। सामाजिक क्षेत्र में नारी को देश की मुक्ति के प्रयास में अपनी संकीर्ण सीमाओं से मुक्ति मिली और अस्पृश्यों को गांधी जी के रूप में अपने अधिकारों का एक बड़ा समर्थक प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द, माखनलाल चतुर्वेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला,' जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, विशम्भरनाथ शर्मा, महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि की रचनाओं में इस युग के सामाजिक आन्दोलनों का चित्रण है। पंचम अध्याय में प्रगतिवादी युग (१९३६-१९५० ई०) के हिन्दी-साहित्य में चित्रित आन्दोलनों की समीक्षा की गयी है। इस युग में समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन शक्तिशाली हुए तथा पुनरुत्थानवाद की प्रकृति भी स्पष्ट रूप में लक्षित हुई। यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव, उदयशंकर भट्ट आदि इस युग के सामाजिक आन्दोलनों के चित्रकार हैं जिनकी रचनाओं में प्रमुख सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रश्नों को उठाया गया है और उनका सम्यक् विवेचन तथा विश्लेषण किया गया है।

२१३. रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध (संवत् १७००-१९००)

[१९५८ ई०]

कुमारी उमा मिश्र का प्रबन्ध 'रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध' सन् १९५८ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। प्रबंध अभी अप्रकाशित है।

यह अन्वेष-प्रबन्ध दो खंडों और नौ परिच्छेदों में विभक्त है। भूमिका-खंड में तीन परिच्छेद हैं जिनमें से प्रथम परिच्छेद विषय-प्रवेश और उसके क्षेत्र-विस्तार से सम्बद्ध है। इसके 'क' भाग में संगीत की प्रशस्ति है जिसका

उद्देश्य यह दिखाना है कि संगीत और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है। इस परिच्छेद का 'ख' भाग काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। कविता में संगीत का समायोग या तो आन्तरिक या फिर आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के संगीत के रूप में रहा करता है। इस अन्वेष-प्रबन्ध की केन्द्रीय स्थापना का यह तत्त्व एक अपरिहार्य अंग है।

भारतीय संगीत की प्रायः सभी प्रमुख बातों का उल्लेख दूसरे परिच्छेद में किया गया है। इस परिच्छेद को तीन भागों में विभक्त किया गया है। 'क' भाग में संगीत का पारिभाषिक अर्थ और भारतीय संगीत की दो प्रणालियों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भारतीय संगीत की परिवर्तनशीलता को भी यहीं स्पष्ट कर दिया गया है। 'ख' भाग में भारतीय संगीत का रीतिकाल से पूर्व का संक्षिप्त इतिहास वर्णित है, और 'ग' भाग में रीतिकाल से पहले की भारतीय संगीत की प्रमुख शैलियों का आलोचनात्मक अध्ययन है। तीसरा परिच्छेद गीति-काव्य से सम्बद्ध है क्योंकि विभिन्न काव्य-रूपों में गीतिकाव्य का सम्बन्ध संगीत से सर्वाधिक होता है। इस परिच्छेद के 'क' भाग में गीतिकाव्य के स्वरूप का विवेचन तथा 'ख' भाग में रीतिकाल से पूर्व हिन्दी में गीतिकाव्य का इतिहास उल्लिखित है।

शोध-खंड का आरम्भ चौथे परिच्छेद से होता है। यह परिच्छेद रीति-कालीन परिस्थितियों से सम्बद्ध है जिसमें तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए यह दिखाया गया है कि इन सबसे प्रेरित होकर रीतिकाल की कलागत प्रवृत्तियां किस दिशा में अग्रसर हो रही थीं। इस परिच्छेद में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्य और संगीत की कलागत प्रवृत्तियों के पारस्परिक साम्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

पांचवें परिच्छेद का प्रतिपाद्य रीतिकालीन संगीत है। इसके 'क' भाग में इस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वर्णित है और 'ख' भाग में रीतिकालीन सगीत की प्रमुख शैलियों का शास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया गया है। छठे परिच्छेद में रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उनका उन तत्कालीन सांगीतिक प्रवृत्तियों से पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया गया है जिनका उल्लेख पांचवें परिच्छेद में हुआ है। सातवें परिच्छेद में रीतिकालीन छंद और अलंकार योजना का संगीत से पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है।

आठवें परिच्छेद में रीतिकालीन प्रमुख काव्यरूपों का संगीत से सम्बन्ध बतलाया गया है। इसके 'क' भाग में रीतिकालीन गीतिकाव्य और संगीत के

सम्बन्ध का, 'ख' भाग में रीतिकालीन मुक्तक काव्य और संगीत के सम्बन्ध का तथा 'ग' भाग में रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्य और संगीत के सम्बन्ध का व्याख्यान है। नवें परिच्छेद में ग्रन्थ का उपसंहार है जिसमें अध्ययन के परिणामस्वरूप उपलब्ध निष्कर्षों का निरूपण किया गया है।

२१४. मतिराम : कवि और आचार्य

[१९५८ ई०]

श्री महेन्द्रकुमार का प्रबन्ध 'मतिराम : कवि और आचार्य' सन् १९५८ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

इस प्रबन्ध में ग्यारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मतिराम-विषयक सामग्री की परीक्षा की गयी है। शिवसिंह सेंगर, गार्सादतासी, मिश्रबन्धु, भगीरथ प्रसाद दीक्षित, याज्ञिक-त्रय, रामनरेश त्रिपाठी, कृष्णविहारी मिश्र तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा विवेचित जीवनवृत्त-सम्बन्धी सामग्री; मिश्रबन्धु, कृष्ण बिहारी मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, डा० 'रसाल', 'हरिऔध', हरदयालसिंह, डा० किरण कुमारी गुप्त तथा पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत काव्य-विषयक सामग्री एवं डा० भगीरथ मिश्र, डा० नगेन्द्र, प्रभुदयाल मीतल, डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी और डा० ओम् प्रकाश द्वारा प्रस्तुत आचार्यत्व-विषयक सामग्री की समीक्षा की गयी है।

द्वितीय अध्याय में मतिराम के जीवनवृत्त और व्यक्तित्व का उपस्थापन है। 'मतिराम' नामधारी दो व्यक्तियों की कल्पना, जन्म-संवत्, वर्ग, गोत्र आदि, पिता का नाम, वंश-परम्परा, जन्म-भूमि, निवास-स्थान, गुरु और सम्प्रदाय, आश्रयदाता, यात्राओं, किंवदन्तियों, मृत्यु-संवत्, वेशभूषा, प्रकृति-स्वभाव, प्रतिभा, अध्ययन आदि पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में मतिराम के ग्रन्थों का परिचय है। 'फूल-मंजरी', 'रस-राज' 'ललित-ललाम', 'सतसई', 'अलंकार-पंचाशिका', 'वृत्त-कौमुदी', 'लक्षण-शृंगार', 'साहित्य-सार' और 'बरवै नायिका-भेद' की प्रामाणिकता आदि पर पृथक्-पृथक् विचार किया गया है। अन्तिम कृति को अनुसन्धाता ने मतिराम-संपादित नहीं माना है।

चतुर्थ अध्याय में मतिराम की कविता के प्रतिपाद्य विषयों (शृंगार, राज-प्रशस्ति, धर्म-नीति, प्रकृति और राज-वैभव) का विवेचन है। पंचम अध्याय में मतिराम की शृंगारिक कविता (संयोग-शृंगार, विप्रलम्भ-शृंगार, प्रेम का स्वरूप) की समीक्षा की गयी है। षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य मतिराम का वीर-काव्य है। आरम्भ में वीर रस का स्वरूप (स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी) बतला कर मतिराम के वीरकाव्य और राज-विषयक रति का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया गया है। सप्तम अध्याय में मतिराम के धार्मिक सिद्धान्तों और नैतिक दृष्टि के आधार पर उनकी विचारधारा का अनुशीलन है। अष्टम अध्याय में मतिराम के प्रकृतिवर्णन और राजवैभव-वर्णन की विवेचना की गयी है।

नवम अध्याय में मतिराम की कला की समीक्षा है। 'कला' शब्द और उसके अंगों, काव्य के प्रसाधन, ब्रजभाषा के व्याकरण की विशेषताओं आदि का विवेचन करके मतिराम की भाषा के शब्द-समूह, गुण-दोष, सौष्ठव (शब्दालंकार, अर्थध्वनन, गुण, रीति-वृत्ति), शब्द-शक्ति (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना), मुहावरों-कहावतों, उक्ति-वैचित्र्य आदि की आलोचना है। अध्याय के अन्त में कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों का संक्षिप्त इतिहास और विशेषताएं बतलाकर मतिराम की कविता में इनके प्रयोग का मूल्यांकन है।

दशम अध्याय में मतिराम के आचार्यत्व का आकलन है। उनके शृंगार-निरूपण, नायक-नायिका-भेद, अलंकार और पिंगल सम्बन्धी विचारों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। एकादश अध्याय में मतिराम पर पूर्ववर्ती कवियों तथा परवर्ती कवियों पर मतिराम के प्रभाव का निदर्शन करके हिन्दी-साहित्य में मतिराम का स्थान निर्धारित किया गया है।

२१५. केशव और उनका साहित्य

[१९५८ ई०]

श्री विजयपाल सिंह का प्रबन्ध 'केशव और उनका साहित्य' सन् १९५८ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस शोध-प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभाजित किया गया है। 'विषय-प्रवेश' प्रथम अध्याय है। इसमें विषय का क्षेत्र, विषय पर शोध की आवश्यकता, उपलब्ध सामग्री का उपयोग, शोध-कार्य का दृष्टिकोण, प्रस्तुत शोध का स्वरूप तथा मौलिकता पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में केशव के जीवन-वृत्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें केशव की जन्मतिथि, जाति, वंश, गुरु एवं आश्रयदाताओं का विवेचनात्मक परिचय देते हुए केशव और बिहारी के सम्बन्ध का विवेचन उपस्थित किया गया है। इसके अनन्तर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ केशव के सम्बन्ध एवं उनके शास्त्रीय तथा व्यावहारिक ज्ञान आदि की चर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय में केशव की रचनाओं का परिचय दिया गया है और उनकी प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में केशवकालीन परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का निरूपण करके अन्त में इन सभी परिस्थितियों का केशव पर जो प्रभाव पड़ा है उसका विवेचन किया गया है। पंचम अध्याय में केशव के जीवन-दर्शन का अध्ययन किया गया है। जिसमें दर्शन, भक्ति एवं धर्म का विवेचन है।

छठे अध्याय में केशव के आचार्यत्व का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। केशव का आचार्य-रूप में मूल्यांकन तीन दृष्टियों से हुआ है—ऐतिहासिक दृष्टि से, अध्ययन की प्रौढ़ता की दृष्टि से तथा मौलिकता की दृष्टि से। अनुसन्धाता का विश्वास है कि समस्त मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में केशव के समान कोई प्रौढ़ एवं मौलिक आचार्य नहीं हुआ। सातवें अध्याय में केशव के काव्यपक्ष को ध्यान में रखकर काव्यांगों का विवेचन किया गया है, जैसे रस-व्यंजना, अलंकार-योजना एवं प्रकृति-चित्रण। उनकी प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, छन्दोविधान एवं भाषाधिकार पर भी विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय में केशव के आदान-प्रदान का विवेचन है। आदान में विशेषकर 'रामचन्द्रिका', 'विज्ञानगीता', 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' से संस्कृत-कवियों एवं आचार्यों के ग्रंथों से भाव-साम्य दिखलाया गया है। प्रदान में भी रीतिकाल के कवियों और आचार्यों पर केशव के प्रभाव का निरूपण एवं आधुनिक युग पर उनके छायाभासों का वर्णन है।

अन्तिम एवं नवम अध्याय में केशव का हिन्दी-साहित्य में स्थान निर्धारित

किया गया है। केशव हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके महत्व का कई पक्षों को ध्यान में रखकर विवेचन किया गया है। कवि के दो धरातल हैं—प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति। दोनों धरातलों पर विभिन्न दृष्टियों से केशव का स्थान निर्धारित करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि आचार्यत्व की दृष्टि से केशव का स्थान समस्त मध्यकालीन हिन्दी-कवियों में सर्वश्रेष्ठ है, कवित्व की दृष्टि से उनका स्थान सूर-तुलसी से घटकर नहीं है।

२१६. निर्गुण-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

[१९५८ ई०]

श्री मोतीसिंह को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में उनके प्रबन्ध 'निर्गुण-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

इस ग्रन्थ में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भारतीय धर्म के मूल स्रोतों, आर्य और आर्येत्तर तत्त्वों, भारतीय चिन्ता के समन्वयात्मक रूप, संस्कृति के सामाजिक और समष्टिमूलक स्वरूप तथा वैदिक काल से सन्तकाल तक के प्रवाह-क्रम का दिग्दर्शन कराकर भारतीय संस्कृति और साहित्य की भूमिका में निर्गुण-पन्थ का आविर्भाव बतलाया गया है।

द्वितीय अध्याय में निर्गुण-साहित्य का परिचय है। उसकी खण्डनात्मक तथा श्रद्धामूलक सामान्य प्रवृत्तियों एवं कुछ विशिष्ट मतों (सहज-सम्प्रदाय, नाथ-सम्प्रदाय, कबीर-मत, दादूमत, नानक-मत, निरंजन-मत और सूफ़ीमत) का निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्याय में निर्गुणमत के सहजसम्प्रदाय, नाथसम्प्रदाय और रसेश्वर-सम्प्रदाय का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में निर्गुणमत के कबीरपंथ, गुरु नानक और सिक्खसम्प्रदाय, परब्रह्म-सम्प्रदाय (दादू दयाल) तथा सूफी सम्प्रदाय का विभिन्न दृष्टियों से व्यापक अध्ययन किया गया है।

पंचम अध्याय में निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत निर्गुण-सम्प्रदाय की दार्शनिक भूमि स्पष्ट की गयी है—अद्वैतवाद और निर्गुणमत, द्वैताद्वैत-विलक्षणवाद, आत्मतत्व की उपलब्धि, शांकर अद्वैत और सन्तमत, आत्मज्ञान और आत्म-

बोध, भावनामूलक अद्वैतवाद, दार्शनिक प्रतीक, निर्गुण ब्रह्म, निर्गुणमत में माया का स्वरूप, निर्गुनी भक्त और माया।

षष्ठ अध्याय में निर्गुण-सम्प्रदाय की सामाजिक पृष्ठभूमि का निरूपण है। धर्म और समाज, समाज-संगठन और अन्तर्भूत द्वन्द्व, आर्य और आर्येत्तर संस्कृतियों का संगम, भक्ति का मूल उत्स, सगुणभक्ति का विकास, निर्गुणब्रह्म और भक्ति, निर्गुण साहित्य का आविर्भाव और तत्कालीन सामाजिक स्थिति, मध्यकालीन वर्ण और जाति व्यवस्था, ब्राह्मणश्रेष्ठता का प्रतिपादन, शूद्रों की स्थिति, सामाजिक विषमता के पोषक विधान; मुस्लिम आक्रमण और प्रभाव, मध्यकालीन भक्ति का उद्भव और इस्लाम आदि विषयों का इस अध्याय में विवेचन किया गया है।

'निर्गुण-सम्प्रदाय में सृष्टि-प्रकिया' नामक सप्तम अध्याय में कबीरपंथ में सृष्टिप्रक्रिया का अध्ययन है। इसमें भागवत पुराण, मनुस्मृति, और सांख्य दर्शन में प्रतिपादित सृष्टि-रचना का भी तुलनात्मक दिग्दर्शन है। अष्टम अध्याय में निर्गुणमत के देवता-मण्डल (निरंजन, आदि शक्ति, विष्णु और कूर्म) का अनुशीलन है। नवम अध्याय में निर्गुणमत की पौराणिक प्रवृत्तियों (अलौकिकत्व का आरोप और अवतारवाद, विभिन्न लोकों की कल्पना, अलौकिक कथाओं की उद्भावना, स्वर्ग-नरक की कल्पना तथा कर्मकांड का सन्निवेश) की विवेचना है।

उपसंहार में संत-साहित्य की प्रगतिशीलता (निम्नजन्मा साधकों का साहस, सन्तों की सामाजिक और व्यक्तिवादी दृष्टि, नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण, श्रम का महत्व तथा उच्चता का प्रतिमान) का आकलन है।

२१७. मुक्तककाव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री रामसागर त्रिपाठी का प्रबन्ध 'मुक्तककाव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का अध्ययन' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में दो खंड हैं। प्रथम खंड के पहले अध्याय में 'मुक्तक' और उसके प्रारम्भिक रूप का विवेचन है। 'मुक्तक' के विभिन्न अर्थों और प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करके उसके क्षेत्र और भेदोपभेद का निरूपण किया गया है। दूसरे अध्याय में रसात्मक मुक्तकों का अध्ययन है। रसात्मक मुक्तकों के विकास के तीन चरण हैं। प्रथम चरण प्रकृतिकाल है। इसके अन्तर्गत वैदिक काव्य, थेर गाथा, थेरी गाथा आदि का विवेचन है। द्वितीय चरण प्राकृत-काल है। इसके अन्तर्गत राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का विवेचन करके प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के मुक्तकों की सामान्य विशेषताओं, प्रमुख रचनाओं तथा कवि-कवयित्रियों का अनुशीलन है। तृतीय चरण भक्ति-काल है। आरम्भ में सामयिक परिस्थितियों का विवेचन करके भक्तिकालीन मुक्तकों की सामान्य विशेषताओं और प्रमुख कवियों का अध्ययन किया गया है। तीसरे अध्याय में रसेतर मुक्तकों का अध्ययन है। वैदिक पृष्ठभूमि का निर्देश करके पौराणिक, बौद्ध और जैन स्तोत्र-साहित्य का सिंहावलोकन किया गया है। तदनन्तर हिन्दी की धार्मिक काव्यपरम्परा, सूक्ति-मुक्तकों और प्रशस्ति-मुक्तकों की समीक्षा की गयी है।

द्वितीय खंड में सात अध्याय हैं। इनमें बिहारी का विशेष अध्ययन किया गया है। पहले अध्याय में यह बतलाया गया है कि तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत परिस्थितियों का बिहारी पर क्या प्रभाव पड़ा। दूसरे अध्याय के आरम्भ में संस्कृत की काव्यशास्त्र-परम्परा का सक्षिप्त निरूपण करके बिहारी का काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् ध्वनिकाव्य की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन किया गया है।

तीसरे अध्याय में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और नायिका-भेद की दृष्टि से बिहारी के काव्य का अध्ययन है। रस, भाव, रसाभास, भावोदय आदि, नायिकाओं के अवस्था-भेद, अलंकार, नखशिख आदि तथा नायक-भेद आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में बिहारी के अलंकारों का अध्ययन है। इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं :—अलंकारों का महत्व, अलंकारों के उपभेद रस-व्यंजना-मूलक अलंकार, वस्तुव्यंजनामूलक अलंकार, अर्थालंकार, स्वभावोक्ति-अतिशयोक्ति, बिहारी के अलंकारों का संक्षिप्त परिचय, चमत्कारविधान और बिहारी। पाँचवां अध्याय है 'वस्तुमूलक परम्परा और बिहारी'। इस अध्याय में बिहारी के रसात्मक, धार्मिक, सूक्ति-परक और प्रशस्तिपरक मुक्तकों का अध्ययन किया गया है।

छठे अध्याय में भाषा का महत्त्व, भाषा की दृष्टि से बिहारी का महत्त्व, बिहारी की भाषा का व्याकरण, सुबन्त, तिङन्त, कृदन्त, बिहारी का शब्दप्रयोग, बिहारी का मुहावरा तथा लोकोक्ति प्रयोग, भाषा की रमणीयता के विषय में अन्य आचार्यों का मत और बिहारी में उनका समन्वय, शब्दालंकार तथा बिहारी की भाषा का महत्त्व—इन शीर्षकों के अन्तर्गत बिहारी की भाषा की विवेचना की गयी है। सातवें अध्याय में बिहारी का समीक्षात्मक अध्ययन है। उनके काव्य के उपजीव्य, उनकी प्रतिभा, अभ्यास और निपुणता, तथा उनके दोषों की आलोचना करके हिन्दी-काव्य-जगत् में उनका स्थान निर्धारित किया गया है।

२१८. हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव

[१९५८ ई०]

कु० उषा सक्सेना को सन् १९५८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके प्रबन्ध का विषय था 'हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव'। यह प्रबन्ध अंग्रेजी विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था।

इस अप्रकाशित प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। उन अध्यायों में प्रतिपादित विषयों की सूची इस प्रकार है :—

पहला अध्याय : आंग्ल प्रभाव से पूर्व का कथासाहित्य—कथासाहित्य के तीन संस्थान—संस्कृत कथासाहित्य—उर्दू कथासाहित्य—आंग्ल प्रभाव।

दूसरा अध्याय : आंग्ल प्रभाव के अन्तर्गत सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन, शिक्षा का प्रसार—प्रेस—ब्रह्म समाज—आर्य समाज—रामकृष्ण मिशन।

तीसरा अध्याय : भारतेन्दु-युग और आंग्ल प्रभाव के अन्तर्गत लिखे गये उपन्यास—काव्य पर आंग्ल प्रभाव—नाटक और आंग्ल प्रभाव—यथार्थवाद का जन्म—हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन—पाठ्यक्रम में निर्धारित अंग्रेजी उपन्यास—हिन्दी में अनूदित उपन्यास—परीक्षागुरु (हिन्दी का प्रथम उपन्यास जो आंग्ल प्रभाव के अन्तर्गत लिखा गया)।

चौथा अध्याय : भारतेन्दु-युग के बाद लिखे गये उपन्यास—देवकीनन्दन खत्री और उन पर रेनोल्ड्स, गाथिक उपन्यासों तथा रोमान्टिसिज्म का प्रभाव—बंगाली उपन्यासों का प्रभाव—किशोरीलाल गोस्वामी—गोपालराम गहमरी।

पांचवां अध्याय : हिन्दी-उपन्यास के स्वरूप पर आंग्ल प्रभाव—उपन्यासों के कथानक, कथोपकथन और चरित्रचित्रण पर अंग्रेजी का प्रभाव।

छठा अध्याय : प्रेमचन्द—प्रेमचन्द पर पाश्चात्य प्रभाव—यथार्थवाद—हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद का प्रवेश—हिन्दी को प्रभावित करने वाले कतिपय अंग्रेजी उपन्यासकार—प्रेमचन्द की शिल्पविधि पर अंग्रेजी प्रभाव—विश्वम्भर नाथ कौशिक—उन पर थैकरे का प्रभाव।

सातवां अध्याय : हिन्दी उपन्यास तथा समाज पर नये प्रभाव—नयी मान्यताओं का प्रवेश—नारी चित्रण में परिवर्तन—रहन-सहन पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—इन परिवर्तनों का उपन्यास में समावेश—इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द, प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, उषा देवी मित्रा, राधिकारमण प्रसाद सिंह और भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यासों का विश्लेषण—प्रकृतवाद—विकृतरूप में 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में उसका प्रवेश।

आठवां अध्याय : ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास का स्वरूप—सर वाल्टर स्कॉट और ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में रोमांटिक सूत्र और स्कॉट का प्रभाव—मनोवैज्ञानिक उपन्यास—मनोविश्लेषण—फ्रॉयड, युंग, एडलर का योगदान—फ्रॉयड के सिद्धान्त और मनोवैज्ञानिक उपन्यास—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय'।

नवां अध्याय : कहानी—कहानी के तत्व—आंग्ल और अमरीकन कहानी—हिन्दी में कहानी-लेखन का प्रारम्भ—'सरस्वती' में प्रकाशित प्रारम्भिक कहानियां—हिन्दी-कहानी के वस्तुचयन पर आंग्ल प्रभाव—हिन्दी-कहानी को प्रभावित करने वाले कुछ अंग्रेजी कथाकार—प्रेमचन्द की कहानियां—सुदर्शन—प्रसाद—जैनेन्द्र कुमार—'अज्ञेय'—इलाचन्द्र जोशी—यशपाल—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'।

२१९. प्रसाद का काव्य और दर्शन

[१९५८ ई०]

श्री ज्ञानवती अग्रवाल का प्रबन्ध 'प्रसाद का काव्य और दर्शन' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में प्रसाद-युग की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करके उनके शास्त्रज्ञान और काव्य-प्रेरणाओं पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में प्रसाद की विचार-धारा को प्रभावित करने वाले उपादानों (श्रौत ग्रंथ और श्रौत दर्शन, इतिहास-पुराण, बौद्ध-दर्शन, आगम दर्शन और साहित्य, पाश्चात्य दर्शन, बंगला-साहित्य, उर्दू-साहित्य) का प्रतिपादन है। तृतीय अध्याय में प्रसाद की रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रसाद की भावुकता (उनके भावों के विविध रूपों) का अनुशीलन है। पंचम अध्याय में प्रसाद के काव्य में चित्रित बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति के विभिन्न प्रकारों की समीक्षा की गयी है। षष्ठ अध्याय में प्रसाद के आध्यात्मिक विचारों (ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष, माया) की मीमांसा है। सप्तम अध्याय में प्रसाद की शैली की विशेषताएं बतलाकर उनकी गद्यशैली, पद्यशैली, भावाभिव्यंजन के सौष्ठव और भाषा का विवेचन किया गया है।

२२०. हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास

[१९५८ ई०]

श्री रामगोपाल चतुर्वेदी का प्रबन्ध 'हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास, सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं:—प्रारम्भिक काल, भारतेन्दु-पूर्व काल, भारतेन्दु-काल के पत्रों पर एक दृष्टि, भाषा का प्रश्न और भारतेन्दु, भारतेन्दु-काल का विवेचन, उस काल के पत्रों की विशेषताएं, द्विवेदी-

युग, दैनिक पत्रों का विकास, सम्पादकाचार्य द्विवेदी जी, हिन्दी-पत्रकार-कला पर द्विवेदी जी का प्रभाव, द्विवेदी-युग—विवेचन, आधुनिक काल, हिन्दी मासिक-पत्रों की परम्परा, आधुनिक काल, विवेचन, प्रमुख पत्रकारों (अमृतलाल चक्रवर्ती, बालमुकुन्द गुप्त, दुर्गाप्रसाद मिश्र, रुद्रदत्त, सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मीनारायण गर्दे, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल) का जीवन-परिचय, पत्रकारिता के आदर्श, पत्रकार की योग्यता, पत्रकारों की कठिनाइयां, अखिलभारतीय पत्रकार-संघ, पत्रकारों को कानूनी संरक्षण, पत्रों की वर्तमान स्थिति, समाचार-संग्रह की व्यवस्था, विदेशों में हिन्दी-पत्र, हिन्दी-पत्रकारिता और उपसंहार।

२२१. द्विजदेव और उनका काव्य

[१९५८ ई०]

श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी को उनके प्रबन्ध 'द्विजदेव और उनका काव्य' पर सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

इस प्रबन्ध में बारह अध्याय हैं। पहले अध्याय में द्विजदेव का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में काव्य-प्रतिभा और दरबार की चर्चा की गयी है। तीसरे अध्याय में द्विजदेव के काव्य-ग्रन्थों और उनके प्रकाशन का विवरण है। चौथे और पांचवें अध्यायों में अलंकृतकाव्य-परम्परा एवं मुक्तक-काव्य-परम्परा का अध्ययन है। छठे अध्याय में द्विजदेव के काव्य की समीक्षा है। सातवें अध्याय में द्विजदेव द्वारा प्रयुक्त छन्दों का विवेचन है। आठवें अध्याय में द्विजदेव की भाषा और तद्गत विशेषताओं का अनुशीलन है। नवें तथा दसवें अध्यायों में क्रमशः द्विजदेव की विचारधारा तथा भावचित्रों की विवेचना की गयी है। ग्यारहवें अध्याय में अन्य कवियों के साथ द्विजदेव का तुलनात्मक अध्ययन है। बारहवें अध्याय में प्रबन्ध का उपसंहार है।

२२२. हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री श्रीपति शर्मा को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' पर पी-एच० डी० की उपाधि दी।

प्रस्तुत प्रबन्ध दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटकों की उत्पत्ति और विकास, उनकी समानताओं, ट्रेजेडी, कॉमेडी, मेलोड्रामा, फ़ार्स, उदात्तवाद, स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, स्वाभाविकतावाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में भारतेन्दु और उनके समकालीन तथा परवर्ती नाटककारों पर पाश्चात्य प्रभाव दिखलाते हुए हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों का अध्ययन किया गया है। तृतीय अध्याय में द्विवेदी-युग के मौलिक एवं अनूदित नाटकों का अनुशीलन है।

चतुर्थ अध्याय में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', गोविन्द वल्लभ पन्त, बेचन शर्मा 'उग्र', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' और बृन्दावन लाल वर्मा के नाटकों का विवेचन करके यह प्रदिपादित किया गया है कि प्रसाद-युग के नाटकों में पाश्चात्य परम्परा का अनुसरण हुआ है। इस अध्याय में प्रहसनों तथा अनुवादों की भी समीक्षा की गयी है। पंचम अध्याय में प्रसादोत्तर युग के नाटकों (विशेषकर लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के समस्या-नाटकों) पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों का अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में आधुनिक हिन्दी नाटकों एवं नाटककारों पर पाश्चात्य प्रभाव की व्याख्या की गयी है।

सप्तम अध्याय में यह निरूपित किया गया है कि हिन्दी के एकांकियों तथा ध्वनि-नाटकों पर कहां तक पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। अष्टम अध्याय में पाश्चात्य प्रभाव की दृष्टि से हिन्दी के गीतिनाट्यों का अनुशीलन किया गया है। नवम अध्याय के आलोच्य विषय हिन्दी के 'नाट्यरूपक' और प्रतीक-परम्परा के नाटक हैं। दशम अध्याय में हिन्दी-रंगमंच पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों का विवेचन है।

२२३. हिन्दी उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास

[१९५८ ई०]

श्री रणवीर चन्द्र रांग्रा का प्रबन्ध 'हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में उपन्यास के स्वरूप, उपन्यास में चरित्र-चित्रण, औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप और औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की विविध (बहिरंग, अंतरंग तथा नाटकीय) प्रणालियों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास की राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की गयी है। तीसरे अध्याय में देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों में किये गये अनायास-चरित्रचित्रण का अध्ययन है। चौथे अध्याय में प्रेमचन्द, प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, बृन्दावन लाल वर्मा और यशपाल के उपन्यासों में किये गये सोद्देश्य चरित्रचित्रण की विवेचना है। पांचवें अध्याय में जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में किये गये मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण का अनुशीलन किया गया है। 'उपसंहार' नामक छठे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण के विकास-क्रम, औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की समस्याओं तथा औपन्यासिक चरित्र-चित्रण के भविष्य पर प्रकाश डाला गया है।

२२४. रीतिकविता का आधुनिक हिन्दी-कविता पर प्रभाव

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री रमेश कुमार शर्मा को उनके प्रबन्ध 'रीतिकविता का आधुनिक हिन्दी-कविता पर प्रभाव' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

प्रस्तुत प्रबन्ध तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग तथा प्रसाद-पंत-निराला-युग में रीतिकाल के प्रति बरते गये अन्याय की रूपरेखा स्पष्ट करके भक्तिकालीन रीतिपरिपाटी, रीतिकाल की कविता की

अनेकरूपता, शृंगार-काव्य, भक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय खंड में रीतिकाल की कविता का भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की कविता पर प्रभाव दर्शाया गया है। तृतीय खंड में प्रसाद-पंत-निराला-युग की कविता पर रीतिकालीन कविता के प्रभाव का आकलन है। ब्रजभाषा की कविता, उसके लोकगीतों, खड़ीबोली की कविता और उसके लोकगीतों पर रीतिकविता के प्रभाव की विवेचना की गयी है।

२२५. मेरठ-जनपद के लोकगीतों का अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री कृष्णचन्द्र शर्मा का प्रबन्ध 'मेरठ-जनपद के लोकगीतों का अध्ययन' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ अध्याय हैं। पहले अध्याय में लोकगीत के आकर्षण, लोकसाहित्य-सम्बन्धी कार्य, मेरठ-जनपद, उसकी भाषा, लोकगीतों के संग्रह आदि पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में लोकगीत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी विशेषताओं और महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। तीसरे अध्याय में जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर गाये जाने वाले विविध प्रकार के गीतों का अध्ययन है। चौथे अध्याय में पंचदेवों (सूर्य, विष्णु, शिव, गणेश, देवी), ग्रामदेवताओं (भुमिया, भैरों, चामड़), निम्नस्तरीय देवों (हनुमान, पंचपीर आदि), रोग-देवताओं (माता, वाराही, बूढ़े बाबू), पितृपूजा और प्रकृतिपूजा से सम्बन्ध रखने वाले गीतों का अध्ययन है। पांचवें अध्याय के प्रतिपाद्य हैं—ऋतुगान, चर्यागीत, उत्सव-मेले के गीत और सामयिक गीत। छठे अध्याय में पुरुषों (कृषकों, धोबियों और जोगियों) के व्यवसाय तथा मनो-रंजन सम्बन्धी गीतों का अनुशीलन है। सातवें अध्याय में पथिकों, चरवाहों तथा भिखारियों के गीतों की विवेचना की गयी हैं। आठवें अध्याय में बालकों के (विविध खेलों, त्योहारों और ऋतुओं से सम्बन्ध रखने वाले) गीतों का अध्ययन किया गया है।

२२६. स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

[१९५८ ई०]

श्री गोपालदत्त शर्मा का प्रबन्ध 'स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में रसक्षेत्र बृन्दावन, पुराणों के बृन्दावन, बृन्दावन के इतिहास और बृन्दावन के सम्प्रदायों की चर्चा करके रसक्षेत्र बृन्दावन के इतिहास में स्वामी हरिदास जी का स्थान बतलाया गया है। द्वितीय अध्याय में साम्प्रदायिक विवाद, अध्ययन के आधार, सम्प्रदाय के स्थानों, सम्प्रदाय के साहित्य, सम्प्रदाय के इतिहास की आधारभूत सामग्री, सम्प्रदाय की रचनाओं, सूचनाओं के अन्य आधार, सम्प्रदाय के बाहर की सामग्री आदि पर विचार किया गया है। तृतीय अध्याय में स्वामी हरिदास जी की जीवनी और सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख आचार्यों एवं वाणी-कर्ताओं का विवरण है। चतुर्थ अध्याय में स्वामी हरिदास जी के दार्शनिक मत और भक्ति-सिद्धांत की व्याख्या की गयी है। पंचम अध्याय में उपासनीय भक्ति-शृंगार रस, नित्य-विहारिणी राधा के स्वरूप, नित्यविहार आदि का विवेचन है। षष्ठ अध्याय में भाषा, शब्द-शक्ति, वर्ण-विन्यास, अलंकार-योजना, भाव-सौन्दर्य, छन्द, संगीत आदि की दृष्टि से हरिदास जी के काव्य का अनुशीलन किया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में निम्बार्क-सम्प्रदाय का संक्षिप्त निरूपण है।

२२७. हिन्दी में कृष्ण-काव्य का विकास

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री बालमुकुन्द गुप्त को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी में कृष्ण-काव्य का विकास' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

इस प्रबन्ध में दस अध्याय हैं। पहले अध्याय में वैदिक साहित्य से लेकर चैतन्य-सम्प्रदाय तक वैष्णवधर्म का इतिहास और विकास दिखलाया गया है। दूसरे अध्याय में कृष्ण, गोकुल और वृन्दावन, आह्लादिनी शक्ति, राधा, गोप-गोपी, व्यक्त और अव्यक्त लीला, रासलीला, चीरहरण तथा वेणु की प्रतीकात्मकता पर विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में कृष्ण-काव्य की सामान्य विशेषताओं एवं भक्तिकालीन, रीतिकालीन तथा आधुनिक कृष्ण-काव्य की विशेषताओं का उपस्थापन है। चौथे, पांचवें, छठे, सातवें और आठवें अध्यायों में क्रमशः निम्बार्क-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय, चैतन्य-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय और हरिदासी (सखी)-सम्प्रदाय के कृष्ण-काव्य का अध्ययन है। नवें अध्याय में विद्यापति, तुलसीदास, मीरां बाई आदि फुटकल कृष्णकवियों के कृष्ण-काव्य की विवेचना की गयी है। दसवे अध्याय में कृष्ण-काव्य के महत्त्व और प्रभाव का आकलन है।

२२८. परमानन्द दास : जीवनी और कृतियां
[१९५८ ई०]

श्री श्यामशंकर दीक्षित को राजस्थान विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि मिली। उनके प्रबन्ध का विषय था 'परमानन्ददास : जीवनी और कृतियां'।

२२९. सत्यं शिवं सुन्दरम्
[१९५८ ई०]

श्री रामानन्द तिवारी का प्रबन्ध 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' सन् १९५८ ई० में राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

यह प्रबन्ध चार अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तथा कविता के स्वरूप का निरूपण करके काव्य के साथ उनके

सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। 'काव्य और सत्यम्' नामक दूसरे अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं—काव्य और सत्य, सत्य और कल्पना, सत्य के रूप, सत्य के उपभेद और काव्य में उनका स्थान, काव्य में प्राकृतिक सत्य, सामाजिक सत्य और काव्य, ऐतिहासिक सत्य और काव्य, वैज्ञानिक सत्य और काव्य, कथावृत्त और काव्य, मनोवैज्ञानिक तथ्य और काव्य, अलौकिक तथ्य और काव्य, तार्किक सत्य और काव्य, नैतिक सत्य और काव्य, धार्मिक सत्य और काव्य, धार्मिक सत्य और काव्य तथा सांस्कृतिक सत्य और काव्य।

तीसरा अध्याय 'काव्य और शिवम्' है। इस अध्याय में काव्य और शिवम् के सम्बन्ध तथा प्रेय और श्रेय की व्याख्या करके काव्य में वर्णित नारी, काम, शृंगार, प्रेम आदि का अध्ययन किया गया है। तत्पश्चात् शिवम् की साधना के तत्त्वों आलोकदान, शक्ति, सर्जनात्मक परम्परा आदि का विवेचन है। 'काव्य और सुन्दरम्' नामक चौथे अध्याय में सुन्दरम् के स्वरूप और उसके काव्यसंबंध का प्रतिपादन करके सुख, संवेग, रस, श्रेय, सत्य, हास्य, वेदना, उपयोगिता, जीवन आदि के सम्बन्ध से सौन्दर्य का अनुशीलन किया गया है।

२३०. मीरांबाई

[१९५८ ई०]

श्री छोटेलाल को उनके प्रबन्ध 'मीरांबाई' पर सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। भूमिका में मीरां के युग का दिग्दर्शन है। पहले अध्याय में अध्ययन के आधार का विवेचन किया गया है। कवियों, भक्तों, जनश्रुतियों, इतिहास-ग्रन्थों, इतिहासेतर ग्रन्थों, शिलालेखों, दानपत्रों आदि के बहि:साक्ष्य एवं मीरां के अन्त:साक्ष्य की चर्चा की गयी है। दूसरे अध्याय में निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत मीरां का जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है—जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा प्रारम्भिक निवासस्थल, मीरां का पितृकुल, पिता-माता, भाई-बहन, मीरां के परिवार की धार्मिक प्रवृत्ति, मीरां का शैशव, विवाह, मीरां का श्वसुरकुल, पति तथा देवर, वैधव्य और संघर्ष, वैराग्य और भक्ति की तीव्रता, चित्तौड़-त्याग, तीर्थयात्रा, गुरु, भक्तों और सन्तों से सम्पर्क, अलौकिक

घटनाएं, कुछ अप्रामाणिक उल्लेख, अन्तरंग सखियां, मृत्यु—कहां, कब और कैसे ?'

तीसरे अध्याय में मीरां की रचनाओं (प्रकाशनों तथा हस्तलिखित प्रतियों) एवं प्रक्षिप्त अंशों की समस्या पर विचार किया गया है । चौथे अध्याय में मीरां से पूर्व प्रचलित विचारधाराओं तथा भक्ति के उद्‌भव और विकास का संक्षिप्त निरूपण करके उक्त विचारधारा एवं भारतीय भक्तपरम्परा की भूमिका में मीरां की विचारधारा, भक्तिपद्धति और मीरां-सम्प्रदाय का अध्ययन है। पांचवें अध्याय में विषय, भाव, भाषा, पदरचना, संगीतशास्त्र, छन्दोविधान, गीतिकाव्य तथा अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से मीरां के काव्य की समीक्षा है । प्रबन्ध में तीन परिशिष्ट भी हैं—१. मीरां द्वारा सेवित मूर्तियां, २. मीरां के पूर्व हिन्दी-कृष्ण-काव्य, ३. प्राचीन प्रतियों के चार पृष्ठों के चित्र तथा मीरां का प्राचीनतम चित्र ।

२३१. हिन्दी-साहित्य पर पौराणिकता का प्रभाव

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री इन्द्रावती सिन्हा को उन के प्रवन्ध 'हिन्दी-साहित्य पर पौराणिकता का प्रभाव' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की ।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। पहले अध्याय का प्रतिपाद्य है—विश्व-साहित्य और पुराण । दूसरे अध्याय में भारतीय पुराणों के मूल आधार, वेदों से पुराणों की भिन्नता तथा पौराणिक शैली की विशेषताएं बतलायी गयी हैं । तीसरे अध्याय में दैविक, भौगोलिक, साहित्यिक (भावगत, विचारगत तथा शैलीगत) एवं अन्य रूपों में पौराणिकता के प्रभाव की विवेचना की गयी है । चौथे अध्याय में इस प्रभाव के कारणों की समीक्षा है । पांचवें अध्याय में इस प्रभाव के परिणाम पर विचार किया गया है। छठे अध्याय में हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल और आधुनिक काल में पौराणिक प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है । अन्तिम अध्याय का विवेच्य विषय है—आधुनिक युग और पुराण ।

२३२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में अलंकार-विधान
[१९५८ ई०]

श्री जगदीश नारायण त्रिपाठी का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी काव्य में अलंकार-विधान' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

यह प्रबन्ध दो खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड के छः अध्यायों में अलंकरण, कविता के स्वरूप, काव्य के विविध सम्प्रदायों, संस्कृत-अलंकार-साहित्य, हिन्दी-अलंकार-साहित्य तथा अलंकारों के वर्गीकरण का अध्ययन है। द्वितीय खंड में आधुनिक हिन्दी-कविता में अलंकार-विधान का अध्ययन किया गया है। सातवें अध्याय में आधुनिक-हिन्दी कविता में उपमान-योजना और आठवें में प्रतीक-योजना का अनुशीलन है। नवें अध्याय में आधुनिक अलंकृत उक्तियों में प्राचीन आलंकारिक परिभाषाओं के निर्वाह और अलंकारों की नवीन दिशा का विवेचन है। दसवें अध्याय में शब्दशक्ति की दृष्टि से आधुनिक अलंकृत उक्तियों की समीक्षा है। ग्यारहवें अध्याय में आधुनिक अलंकृत उक्तियों में भाव और वस्तु-व्यंजना का अध्ययन है। बारहवें अध्याय में आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में अलंकार-विधान की आलोचना है। तेरहवां अध्याय प्रबन्ध के उपसंहार-रूप में लिखा गया है।

२३३. अपभ्रंश-काव्य-परम्परा और विद्यापति
[१९५८ ई०]

श्री अम्बादत्त पन्त का प्रबन्ध 'अपभ्रंश-काव्य-परम्परा और विद्यापति' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'अपभ्रंश' की निरुक्ति और विभिन्न अर्थों में उसके प्रयोग पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में अपभ्रंश की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन है। तीसरे अध्याय का शीर्षक है—अपभ्रंश के विभिन्न रूप तथा साहित्य। दक्षिणी, पश्चिमी तथा पूर्वी के अन्तर्गत अपभ्रंश का क्षेत्रीय विभाजन करके अपभ्रंश-काल की धार्मिक-राज-

नीतिक अवस्थाओं, परवर्ती अपभ्रंश तथा उसके साहित्य की चर्चा की गयी है। चौथे अध्याय में अपभ्रंश के खंडकाव्यों (णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, जम्बूस्वामि चरिउ, पउमसिरी चरिउ आदि), धर्मनिरपेक्ष साहित्य (सन्देसरासक, कीर्तिलता), मुक्तक काव्य (परमात्मप्रकाश, वैराग्यसागर, दोहापाहुड़, उपदेश-रसायन, संयम-मंजरी आदि) और सिद्ध-साहित्य (दोहाकोश, चर्यापद) का परिचय देकर उनकी विशेषताओं के आधार पर निष्कर्षों की स्थापना की गई है। पांचवें अध्याय में अपभ्रंश-साहित्य के विभिन्न रूपों तथा विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। छठे अध्याय में आदि-काल (संक्रान्ति-काल), अवहट्ठ अथवा लोकभाषा, पुरानी हिन्दी, आदिकाल की सामग्री, अपभ्रंश का प्रभाव, अपभ्रंश से हिन्दी का जन्म, ध्वनियां, रूपात्मक विकास और शब्दकोश—इन विषयों का प्रतिपादन है।

सातवां अध्याय 'विद्यापति और उनका काव्य' है। इसमें विद्यापति के स्थान, समय, जीवनवृत्त और रचनाओं पर विचार किया गया है। आठवें अध्याय के 'क' भाग में अवहट्ठ भाषा की सामान्य विशेषताओं (ध्वनि, सानुनासिकता, परिवर्तन, अकारण सानुनासिकता, स्वर-प्रयोग, संकोचन, लोप, परसर्ग-प्रयोग, सर्वनाम-रूप, क्रियापद, सहायकक्रिया-प्रयोग, निर्विभक्तिक प्रयोग) और पदावली की भाषा (ध्वनि, सानुनासिकता, स्वराघात, रूपविचार, लिंग, वचन, कारक, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया) का अध्ययन किया गया है। नवें अध्याय में कवित्व (काव्य का रूप, प्रगीत, मुक्तक, शृंगार-वर्णन, संयोग-वियोग, प्रकृति-वर्णन, भावपक्ष, कलापक्ष, उक्तियां) की दृष्टि से विद्यापति की पदावली का अनुशीलन है। परिशिष्ट में 'कुछ अपभ्रंश साहित्य की सूची' भी दे दी गयी है।

२३४. हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया को आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में उनके प्रबन्ध 'हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन' पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

यह प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। 'भूमिका' नामक पहले अध्याय में

हिन्दी-प्रदेश, हिन्दी-प्रदेश पर अंग्रेजों के अधिकार और शासन, हिन्दी-प्रदेश में मिशनरियों के प्रवेश, हिन्दी-प्रदेश में अंग्रेजी-शिक्षा के विकास तथा प्रसार, प्रेस और पत्रकारिता के विकास, भाषा में आगत शब्दों एवं अंग्रेजी के आगत शब्दों के पूर्व हिन्दी में विदेशी भाषाओं के शब्दों पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में बहुशिक्षित व्यक्तियों की भाषा, कविता में अंग्रेजी के आगत शब्दों तथा विज्ञापन में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों का अध्ययन है। तीसरे अध्याय में अंग्रेजी तथा हिन्दी की ध्वनियों और अंग्रेजी की ध्वनियों के हिन्दी-रूपों (स्वर-ध्वनियां, व्यंजन-ध्वनियां, विशेष ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनियों के गुण) की समीक्षा है। चौथे अध्याय में ध्वनि-प्रक्रिया, आवृत्ति तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अंग्रेज़ी के आगत शब्दों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

पांचवें अध्याय में रूप-विचार (संज्ञा, विशेषण, क्रिया, मिश्र शब्द, समस्त-पद, संकर शब्द, अंग्रेजी शब्दों से बने मुहावरे) और वाक्य-विन्यास (सर्वनाम और संज्ञा का प्रयोग, सम्बन्धवाचक सर्वनाम का प्रयोग, विशेषण उपवाक्य, निक्षिप्त उपवाक्य, बलप्रदान करने की विधियां, पदरूपात्मक वाक्य, अंग्रेजी में सोचना और हिन्दी में लिखना, विधेय-शृंखला, निवेशित उपवाक्य, अनावश्यक शब्दों का प्रयोग, विराम चिह्नों का प्रयोग) का अनुशीलन है। छठे अध्याय का प्रतिपाद्य है—आगत शब्द और अर्थ-विचार (अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार, अर्थादेश, भेद का भेदीकरण, अर्थापकर्ष, मंगलभाषित, अंगांगी अन्तरण, व्यंग्यार्थ, विशेषण से विशेष्य के अर्थ में प्रयोग, सामासिक पदों के एक पद से ही पूरे पद का भाव, अन्य रोचक परिवर्तन, अंग्रेजी शब्दों का आलंकारिक प्रयोग)। सातवें अध्याय में आगत शब्दों के अनुवाद (शाब्दिक अनुवाद, भावानुवाद, निकटतम पर्यायों के आधार पर अनुवाद, एकरूपता, विभिन्न विधियां, प्रसार, वाक्यांशों-मुहावरों का अनुवाद, पारिभाषिक शब्दावली, कविता में अनुवाद) की विवेचना की गयी है। आठवां अध्याय ग्रन्थ का उपसंहार है। प्रबन्ध में छः परिशिष्ट भी हैं—भाषा में आगत शब्दों के सम्बन्ध में विचार, एक रोचक कहानी, कविता में आगत शब्द, अंग्रेजी शब्दों के बोलीगत रूप, कुछ विवादास्पद शब्द, लोक-निरुक्ति पर आधारित शब्द।

२३५. हिन्दी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने श्री सोमनाथ शुक्ल को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति' पर सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। पहला अध्याय 'भूमिका' है जिसमें संस्कृति, संस्कृति के सूत्र, साहित्य, साहित्य-प्रकार और साहित्य तथा भारत-भूमि पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय के प्रथम खंड में सामाजिक जीवन (विभिन्न वर्ग और सम्प्रदाय—भारतीय समाज की रूपरेखा, राज-समाज, मध्य वर्ग, जन-समाज, अर्थव्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, चतुर्वर्ण, विभिन्न सम्प्रदाय, भक्ति-आरोहण) और द्वितीय खंड में पारिवारिक जीवन का अध्ययन है। तीसरे अध्याय के प्रथम खंड में लोकजीवन, व्रत-पर्व-त्योहार, खान-पान, क्रीड़ा-विनोद, लोकविश्वास, शिक्षा आदि तथा द्वितीय खंड में, सौंदर्यानुभूति (सौंदर्य, शृंगार और प्रसाधन, वस्त्र, आभूषण, काव्य, संगीतकला, चित्रकला, वस्तुकला) का अनुशीलन है। चौथे अध्याय में धर्म, व्याख्या और विस्तार, निगमागम, पुराण, सदाचार तथा सन्त शीर्षकों के अन्तर्गत धर्म का विवेचन है। पांचवें अध्याय के प्रथम खंड में धर्म-साधना (साधना, धर्मसाधना, ज्ञानसाधना, कर्मसाधना, भक्तिसाधना, रहस्यमय साधना और सद्गुरु) एवं दर्शन की समीक्षा की गयी है।

२३६. हिन्दी-उपन्यास में नारीचित्रण

[१९५८ ई०]

श्रीमती इन्द्रावती ग्रोवर का प्रबन्ध 'हिन्दी-उपन्यास में नारीचित्रण' सन् १९५८ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में चौदह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रबन्ध के उद्देश्य और परिधि पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में उपन्यास के रूप में कथा-साहित्य का विकास और उसमें नारी का स्थान बतलाया गया है। तृतीय अध्याय का प्रतिपाद्य है—साहित्य का केन्द्र नारी और उसकी प्रकृति। चतुर्थ

अध्याय में नारी के प्रति भारतीय संस्कारभावना का दिग्दर्शन है। पंचम अध्याय में उपन्यास-काल से पूर्व हिन्दी-साहित्य में नारी-भावना और नवीन चेतना का अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में नारी-चरित-चित्रण के सिद्धान्तों का निरूपण है। सप्तम अध्याय में हिन्दी-उपन्यासकारों की नारी-भावना एवं नारी के विभिन्न रूपों का अनुशीलन है। अष्टम अध्याय में भारतेन्दु-युग के उपन्यासों में नारी-चित्रण की पद्धति का विवेचन है। नवम अध्याय के विवेच्य हैं—प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास और उनकी नारियां। दशम अध्याय में हिन्दी-उपन्यासों में प्रेमिकाओं के चित्रण की समीक्षा है। एकादश अध्याय में विवाहित नारी के चित्रण और हिन्दी-उपन्यासकारों की पत्नी-सम्बन्धी धारणाओं की विवेचना है। द्वादश अध्याय में हिन्दी-उपन्यासों में अंकित नारी के माता, विमाता, पुत्री, भगिनी, सखी, सास, बहू, ननद, जेठानी, देवरानी आदि पारिवारिक रूपों का आलोचन है। त्रयोदश अध्याय में हिन्दी-उपन्यासों में वेश्या के चित्रण पर विचार किया गया है। चतुर्दश अध्याय में नारी के राजनीतिक, आर्थिक और मानवतावादी चित्रण का अनुसन्धान है।

२३७. हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

[१९५८ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री० सरलादेवी को पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की। उनके प्रबन्ध का विषय था 'हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव'।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में धर्म के स्वरूप, धर्म और साहित्य के सम्बन्ध, भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्ध धर्म के महत्त्व, बौद्ध धर्म के प्रवर्तन आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में बौद्धों के परमार्थ-चिन्तन, शून्यवाद, क्षणिकवाद, सहजवाद, अनात्मवाद, निर्वाण आदि का विवेचन करके मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव बतलाया गया है। तृतीय अध्याय में बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में उपस्थापित सृष्टि-विज्ञान, प्रतिबिम्बवाद, कामवाद, त्रिकायवाद, द्विकायवाद आदि सिद्धान्तों की व्याख्या करके यह निरूपित किया गया है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

चतुर्थ अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर पड़ने वाले बौद्ध नैतिकता एवं आचार-शास्त्र सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया गया है। पंचम अध्याय का प्रतिपाद्य बौद्ध धर्म का साधना-पक्ष है। इस अध्याय में बौद्धों की योग-साधना, भक्तिमार्ग और वैराग्य का स्वरूप-निरूपण करके मध्यकालीन साहित्य पर उसके प्रभाव का अनुशीलन किया गया है। परलोक, इहलोक, शरीर, पाप-पुण्य, शुभाशुभ, मृत्यु और पूजा के विषय में बौद्ध विश्वासों का मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसकी विवेचना षष्ठ अध्याय में की गयी है। 'उपसंहार' नामक सप्तम अध्याय में बौद्ध धर्म की कुछ अन्य विशेषताओं तथा मध्यकालीन साहित्य पर पड़े हुए बौद्ध प्रभावों का सिंहावलोकन है।

२३८. अवधी, ब्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री गंगाशरण त्रिपाठी का प्रबन्ध 'अवधी, ब्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' १९५८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२३९. आगरा जिले की बोली का अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी को उनके शोध-प्रबन्ध 'आगरा जिले की बोली का अध्ययन' पर सन् १९५८ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

२४०. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन

[१९५८ ई०]

प्रयाग विश्वविद्यालय ने श्री० निर्मला सक्सेना को सन् १९५८ ई० में उनके प्रबन्ध 'सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन' पर डी० फिल० की उपाधि प्रदान की।

२४१. हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका

[१९५८ ई०]

श्री रामनरेश वर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका' सन् १९५८ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में हिन्दी-साहित्य की समालोचना-पद्धति, साहित्य की सांस्कृतिक व्याख्या, सगुणकाव्य की विशेषता, सगुणभक्ति पर इस्लामी प्रभाव, धर्म के चतुर्विध जीवन आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तन, स्वरूप और उद्भवस्थान का अध्ययन है। तृतीय अध्याय में मूर्त एवं अमूर्त आराधना, देवतातत्व, भक्ति के स्वरूप तथा विभाग, राम-पूजा, रामपंचायतन, भक्ति-परम्परा में अद्वैत आदि का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में शास्त्रभक्ति, रसभक्ति, राधातत्व निकुंजलीला, वृन्दावन आदि का अनुशीलन है।

पंचम अध्याय में चतुर्विध समाज, सामाजिक व्यवस्थाओं के आधार, तीन प्रकार के (मर्यादावादी, शास्त्रीय, रसवादी) भक्तों, आश्रम-व्यवस्था, नारी आदि पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय में धार्मिक सम्प्रदायों की विविधता, निर्गुण-सगुण-संघर्ष, मठ-परम्परा के इतिहास, वैरागियों के संगठन, श्रौत-स्मार्त-परम्परा, देवालयीय परम्परा तथा रसवादी परम्परा का अध्ययन है। सप्तम और अष्टम अध्यायों में साहित्य और कला की दृष्टि से सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमि स्पष्ट की गयी है। नवम अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार है।

२४२. कृष्णभक्ति में मधुर रस

[१९५८ ई०]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने श्री पूर्णमासी राय को उनके प्रबन्ध 'कृष्णभक्ति में मधुर रस' पर सन् १९५८ ई० में पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की।

२४३. मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम

[१९५८ ई०]

श्री त्रिभुवन सिंह को १९५८ ई० में उनके शोधप्रबन्ध 'मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम' पर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई।

२४४. हिन्दी-उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव

[१९५८ ई०]

श्री गणेशन को १९५८ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि मिली। उनके शोधप्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी-उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव'।

२४५. कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या

[१९५८ ई०]

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, ने श्री गिरीशचन्द्र तिवारी को सन् १९५८ ई० में उनके शोधप्रबन्ध 'कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या' पर पी-एच. डी. की उपाधि दी।

२४६. हिन्दी-गद्य का विकास

[१९५८ ई०]

श्री कृष्णकुमार मिश्र का प्रबन्ध' हिन्दी-गद्य का विकास' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५८ ई० में पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२४७. दसम ग्रन्थ की कविता

[१९५८ ई०]

पंजाब विश्वविद्यालय ने श्री धर्मपाल अष्टा को सन् १९५८ ई० में उनके प्रबन्ध 'दसम ग्रन्थ की कविता' (दि पोयट्री ऑफ़ दि दसम ग्रन्थ) पर पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की। अंगरेजी में लिखित यह प्रबन्ध मुद्रित रूप में ही प्रस्तुत किया गया था। इसका प्रकाशन अरुण प्रकाशन, जोर बाग रोड, नई दिल्ली ३, ने सन् १९५९ ई० में किया।

इस ग्रंथ में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'दसम ग्रन्थ' के कर्तृत्व पर विचार किया गया है। बहिस्साक्ष्य और अन्तस्साक्ष्य के आधार पर विरोधी मतों की परीक्षा करके अनुसन्धाता ने यह स्थापित किया है कि 'दसम ग्रन्थ' के रचयिता गुरुगोविन्दसिंह ही हैं। दूसरे अध्याय में गुरबानी, कबीर, सूर, तुलसी, अन्य भक्तकवियों, ब्रज-परम्परा, रीति-सम्प्रदाय और भूषण का प्रभाव दिखलाते हुए 'दसम ग्रन्थ' की काव्य-भूमिका स्पष्ट की गयी है। तीसरे अध्याय में 'दसम ग्रन्थ' में संगृहीत रचनाओं का संक्षिप्त समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

चौथे अध्याय में 'दसम ग्रन्थ' में निबद्ध दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक आदि विचारों की मीमांसा की गयी है। पांचवें अध्याय में कला (रस, गुण, ध्वनि, अलंकार, छन्द, संगीत, भाषा-शैली आदि) की दृष्टि से उसका अनुशीलन किया गया है। छठे अध्याय में धार्मिक और साहित्यिक परम्परा में 'दसम ग्रन्थ का स्थान तथा महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में गुरु गोविन्द सिंह के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। सैंतालीस पृष्ठों के परिशिष्ट में 'दसम ग्रंथ' की कृतियों से महत्त्वपूर्ण उद्धरण संकलित किये गये हैं।

२४८. हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति

[१९५८ ई०]

पंजाब विश्वविद्यालय ने श्री संसारचन्द्र महोत्रा को उनके शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति' पर सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि दी।

प्रबन्ध के विषय-प्रवेश में शोध की आवश्यकता और उसके रूप तथा काव्य के विविध पक्षों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् अन्योक्ति के स्वरूप और महत्व की विवेचना की गयी है। इसके अन्तर्गत अप्रस्तुत-विधान, उपमा, रूपक, समासोक्ति, प्रस्तुतांकुर, श्लेष, व्याजस्तुति आदि की तुलना में अन्योक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। 'अन्योक्ति अलंकार' शीर्षक के अन्तर्गत अलंकारों की प्रयोजनीयता एवं अन्योक्ति की अलंकारता का निर्देश करके वेद से लेकर प्रयोगवादी काव्य तक की रचनाओं में निवद्ध अन्योक्ति अलंकार का विवेचन है। 'अन्योक्ति-पद्धति' के अन्तर्गत वैदिक, संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में उपलब्ध अन्योक्ति-पद्धति के विविध रूपों का अध्ययन किया गया है। 'अन्योक्ति ध्वनि' के अन्तर्गत अन्योक्ति-सम्बन्धी धारणाओं और ध्वनि के स्वरूप का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करके 'अन्योक्ति : वस्तुध्वनि', 'अन्योक्ति : अलंकारध्वनि' तथा 'अन्योक्ति : रसध्वनि' का अध्ययन किया गया है। प्रबन्ध के अन्त में अन्योक्ति-कोष भी दे दिया गया है।

२४९. पृथ्वीराजरासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का सम्पादन

[१९५८ ई०]

श्री वेणी प्रसाद शर्मा का प्रबन्ध 'पृथ्वीराजरासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का सम्पादन' सन् १९५८ ई० में पंजाव विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रबन्ध के विषय-प्रवेश में 'पृथ्वीराजरासो' की लोकप्रियता और भारतीय एवं विदेशी विद्वानों द्वारा किये किये अनुशीलन पर प्रकाश डाला गया है। मूल प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में

रासो की हस्तलिखित प्रतियों पर विचार करके यह प्रतिपादित किया गया है कि लघुतम संस्करण प्राचीनतम है। दूसरे अध्याय में हस्तलिखित प्रतियों के सम्बन्ध और पाठशोध की समस्या पर विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में रासो के कथानक का विवेचन है। चौथे अध्याय में रासो की ऐतिहासिकता का अध्ययन है। पांचवें अध्याय में उसका साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है। छठे अध्याय में भाषा-विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से रासो की समीक्षा की गयी है। प्रबन्ध के दूसरे भाग में सम्पादित पाठ, नामानुक्रमणिका और शब्द-कोष हैं।

२५०. हिन्दी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना

[१९५८ ई०]

पंजाब विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री भीष्म साहनी को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

२५१. बीसलदेवरास का सम्पादन

[१९५८ ई०[

श्री तारकनाथ अग्रवाल को कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में उनके शोधप्रबन्ध 'बीसलदेवरास का सम्पादन' पर डी० फ़िल० की उपाधि प्राप्त हुई।

२५२. पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी के वार्ता-साहित्य में अभिप्राय

[१९५८ ई०]

श्री० सावित्री सरीन का प्रबन्ध 'पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी के वार्ता-साहित्य में अभिप्राय' सन् १९५८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२५३. भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-काव्य पर पौराणिक प्रभाव

[१९५८ ई०]

दिल्ली विश्वविद्यालय ने श्री सदानन्द को सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि दी। उनके अनुसन्धान का विषय था 'भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पौराणिक प्रभाव'। यह प्रबन्ध संस्कृत-विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। पहले अध्याय में श्रीमद्भागवत की सांस्कृतिक भूमिका, पुराणों के प्रयोजन, भागवत के महत्व, प्रतिपाद्य विषय, दर्शन, धर्म आदि पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में मध्यकालीन हिन्दी-कृष्ण-काव्य की पृष्ठभूमि, चतु:सम्प्रदाय, कृष्ण-भक्ति-काव्य की सामान्य विशेषताओं और प्रवृत्तियों, उस काव्य में अभिव्यक्त भक्तिरस आदि का अध्ययन है। तीसरे अध्याय में कृष्णभक्ति-शाखा पर संस्कृत-साहित्य, विशेषकर पुराण-साहित्य और उसमें भी विशेषतया भागवत के प्रभाव का सामान्य विवेचन किया गया है। चौथे अध्याय में कृष्णभक्तिकाव्य की प्रतिपाद्य वस्तु (कृष्ण, राधा, गोपी) पर भागवत के प्रभाव की मीमांसा की गयी है। अध्याय के अन्त में हिन्दी कवियों की मौलिकता पर भी प्रकाश डाला गया है। पांचवें अध्याय में कृष्णभक्त कवियों द्वारा भागवत से गृहीत भक्तिभावना और उन कवियों के मौलिक योगदान का अनुशीलन किया गया है।

२५४. हरियाना-प्रदेश का लोक-साहित्य

[१९५८ ई०]

श्री शंकरलाल यादव को लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में उनके प्रबन्ध 'हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य' पर पी-एच० डी० की उपाधि मिली।

२५५. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री शशिभूषण सिंहल का प्रबन्ध 'वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन' सन् १९५८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२५६. हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास

[१९५८ ई०]

लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में श्री प्रतापनारायण टंडन को उनके प्रबन्ध 'हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

२५७. हिन्दी-काव्य में करुण रस

[१९५८ ई०]

सन् १९५८ ई० में कु० तारा कपूर को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। उनका शोध-विषय था 'हिन्दी-काव्य में करुण रस।'

२५८. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन

[१९५८ ई०]

कु० विद्या मिश्र ने अपना शोध-प्रबन्ध 'वाल्मीकि-रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत करके सन् १९५८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

२५९. हिन्दी-सन्तकाव्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

[१९५८ ई०]

श्री सावित्री शुक्ल का प्रबन्ध 'हिन्दी-सन्तकाव्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' सन् १९५८ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२६०. गढ़वाली भाषा और उसका लोक-साहित्य

[१९५८ ई०]

लखनऊ विश्वविद्यालय ने श्री जनार्दन प्रसाद काला का प्रबन्ध सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत किया। शोध का विषय

था 'गढ़वाली भाषा और उसका लोक-साहित्य'। प्रबन्ध में प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं--

प्रथम खंड

प्रथम अध्याय—गढ़वाल की भौगोलिक रूपरेखा, ऐतिहासिक रूपरेखा, प्रागैतिहासिक काल, प्रारंभिक काल, कत्यूरी शासन, बहुराजकता, पंवार वंश, गोरखा-शासन, गोरखा-अंगरेज-युद्ध, गणतंत्र के रूप में।

द्वितीय अध्याय—विषय-प्रवेश, धर्म, जातिभेद, गढ़वाली लोकजीवन।

द्वितीय खंड

गढ़वाली लोकभाषा—विषय-प्रवेश, गढ़वाली का विकास, गढ़वाली के उपभेद और उनकी प्रवृत्तियां, गढ़वाली भाषा की विशेषताएं—ध्वनि-सम्बन्धी, व्याकरण-सम्बन्धी, शब्दतत्व-सम्बन्धी, उपसंहार।

तृतीय खंड

प्रथम अध्याय—गढ़वाली लोकसाहित्य, लोकसाहित्य का क्षेत्र और महत्व, लोकसाहित्य का वर्गीकरण, लोकसाहित्य और लोकजीवन, लोकसाहित्य में परिवार एवं पारिवारिकचरित्र-चित्रण, लोकसाहित्य में सामाजिक चित्रण।

द्वितीय अध्याय—गढ़वाली लोकगीतों का वर्गीकरण, मंगलगीत, वार्तागीत, जागर-गीत, तंत्रमंत्र-सम्बन्धी गीत, कुलाचार-गीत, पंवाड़े, झुमैलो, थड़या चौफुंला, खुदेड़, वसन्ती गीत, गढ़वाली लोकगीतों का महत्व।

तृतीय अध्याय—गढ़वाली लोकगीतों का साहित्यिक विवेचन।

चतुर्थ अध्याय—गढ़वाली लोक-कथाएं, लोककथाओं का महत्व, वर्गीकरण, धर्म-गाथाएं, लोक-गाथाएं, लोक-कहानियां।

पंचम अध्याय—गढ़वाली लोकोक्तियां, भूमिका, साहित्यिक महत्व, वर्गीकरण, कहावतें, मुहावरे, पहेलियां, उपसंहार।

२६१. द्विवेदीयुगीन गद्य-शैलियां

[१९५८ ई०]

श्री शंकर दयाल चौऋषि को सन् १९५८ ई० में सागर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली। उनके प्रबन्ध का विषय था—'द्विवेदीयुगीन गद्य-शैलियां'।

यह प्रबन्ध बारह अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में शैली के सैद्धान्तिक विकास का प्रतिपादन है। दूसरे अध्याय में पद्य से गद्य की भिन्नता, गद्योन्नति के कारणों, गद्य-क्षेत्र की विशेषताओं तथा गद्यशैलियों पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय में द्विवेदी-पूर्व गद्य की पृष्ठभूमि स्पष्ट की गयी है। चौथे अध्याय में महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व, कर्तृत्व, गद्यशैली आदि का अध्ययन किया गया है। पांचवें अध्याय में द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य की गद्य-शैलियों का अनुशीलन है। छठे अध्याय में उस युग के समीक्षा-साहित्य की गद्य-शैलियों की समीक्षा है। सातवें अध्याय में कथा-साहित्य की, आठवें में नाट्य-साहित्य की, नवें में गद्य-काव्य की और दसवें अध्याय में पत्र-पत्रिकाओं की गद्य-शैलियों का विवेचन है। ग्यारहवें अध्याय में शास्त्रीय विषयों या उपयोगी साहित्य, प्रमुख साहित्यिकारों के पत्रों तथा प्रमुख अनुवाद-कर्ताओं की गद्य-शैलियों पर विचार किया गया है। 'उपसंहार' नामक बारहवें अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं—हिन्दी की दशा एवं उत्तरदायित्व, नवीन शैलियों की उद्घाटक परिस्थितियां, द्विवेदी जी की शैली का स्थान, अनुवादों का शैली पर प्रभाव, द्विवेदी जी के कठोर शासन की प्रतिक्रिया और विभिन्न काव्यरूपों की शैलियां।

२६२. हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी

[१९५८ ई०]

श्री गणपति गुप्त का प्रबन्ध 'हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी' सन् १९५८ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह प्रबन्ध सम्भवतः विनोद पुस्तक मन्दिर, हॉस्पिटल रोड, आगरा, से प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध चार खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में सैद्धान्तिक विवेचन है। इस खण्ड में सर्वप्रथम विभिन्न दृष्टिकोणों (मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक) से रस-सिद्धान्त का परीक्षण करते हुए उसकी न्यूनताओं पर विचार किया गया है। तदनन्तर शृंगाररस का शास्त्रीय विकास निर्दशित किया गया है। शृङ्गाररस की परिभाषा, स्वरूप, उसके भेद और उसके विभिन्न अवयवों का विवेचन किया गया है। इसके बाद शृङ्गाररस का

विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसी खण्ड में 'शृङ्गारिक तत्वों का विशेष अध्ययन' शीर्षक से काम-तत्व, सौंदर्य-तत्व और प्रेम-तत्व पर विचार किया गया है।

द्वितीय खण्ड 'ऐतिहासिक अनुशीलन' है। इसमें सर्वप्रथम भारतीय शृङ्गार-परम्परा का विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर भारतीय शृङ्गार के विभिन्न रूपों का विकास प्रदर्शित किया गया है। अनुसन्धाता ने भारतीय शृङ्गार के ये आठ रूप माने हैं—स्वतन्त्र, मर्यादाप्रधान, शौर्यप्रधान, रसिकताप्रधान, परकीयोन्मुख, संघर्षपूर्ण, धार्मिकता-समन्वित और रुढ़िबद्ध।

तीसरे खण्ड में हिन्दी-काव्य में शृङ्गार-चित्रण पर विचार किया गया है। सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य का सामान्य परिचय है। इस क्रम में हिन्दी भाषा और साहित्य के उदय, हिन्दी साहित्य के काल-विभाग और उसकी मुख्य काव्य-परम्पराओं का विवेचन किया गया है। तदनन्तर हिन्दी साहित्य की सामान्य परिस्थितियों का विवरण है और तब शृङ्गाररस-प्रधान काव्यपरम्पराओं का अनुशीलन किया गया है। खण्ड के अन्त में हिन्दी काव्य में चित्रित शृङ्गार के विभिन्न स्वरूपों पर विचार किया गया है।

चौथा खण्ड 'महाकवि बिहारी और शृङ्गाररस' है। सर्वप्रथम बिहारी के युग, परिस्थितियों और उनके व्यक्तित्व का परिचय है। तदनन्तर सतसई-रचना के प्रेरणास्रोत, उद्देश्य और प्रवृत्तियों का अनुशीलन है। कवि के प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा शृङ्गार-निरूपण पर भी पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर शृङ्गार-वर्णन को दूषित करने वाली प्रवृत्तियों की छानबीन की गयी है। बिहारी पर पूर्ववर्ती भारतीय काव्य का प्रभाव दिखलाया गया है। बिहारी पर फारसी काव्य के प्रभाव को भी स्पष्ट किया गया है। इसके बाद भारतीय शृङ्गार-परम्परा और बिहारी का अध्ययन करते हुए अनुसन्धाता ने पहले तो बिहारी के काव्य में वर्णित शृंगार के विभिन्न रूपों पर विचार किया है और इसके बाद बिहारी की तुलना प्रमुख भारतीय शृङ्गारी कवियों—कालिदास, अमरुक, गाथासप्तशतीकार, बब्बर, विद्यापति, सूरदास, देव और विक्रम से की है। अन्त में बिहारी के महत्व का आकलन किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में चार परिशिष्ट हैं—१. आदिकाल का अस्तित्व कहां है? २. बिहारी और केशव का पिता-पुत्र-सम्बन्ध; ३. बिहारी का वंश-वृक्ष; ४. केशव के वंशज श्री मधुरेश से लेखक का पत्र-व्यवहार।

२६३. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५८ ई०]

श्री गोविन्दप्रसाद शर्मा को नागपुर विश्वविद्यालय से सन् १९५८ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनके प्रबन्ध का विषय था—'हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन'।

२६४. राम-काव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन

[१९५९ ई०]

श्री० गार्गी गुप्ता का प्रबन्ध 'रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन' सन् १९५९ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में राम-भावना के विकास पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में केशव के पूर्व की रामकाव्य-परम्परा का अध्ययन है। तृतीय अध्याय में केशव के युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों और केशव के वैयक्तिक संस्कारों एवं अभिरुचि का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में महाकाव्य की परिभाषा, उसके भेदों, एवं विशेषताओं का प्रतिपादन करके उनके आधार पर रामचन्द्रिका की समीक्षा की गयी है। पांचवें अध्याय में परवर्ती राम-साहित्य पर रामचन्द्रिका के प्रभाव का आंकलन है।

२६५ भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग-भावना

[१९५९ ई०]

अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने श्री शिवशंकर शर्मा का प्रबन्ध 'भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग-भावना' सन् १९५९ ई० में पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत किया।

इस प्रबन्ध में नौ अध्याय हैं। पहले अध्याय में विषय का स्पष्टीकरण है। दूसरे अध्याय में 'योग' के व्युत्पत्त्यर्थ, लक्षण और प्रस्थान-भेद, पातंजल योग-दर्शन तथा योग के मूलतत्वों का निरूपण कर के योग-साधना का उद्भव और विकास दिखलाया गया है। तीसरे अध्याय में भारतीय भक्ति-साधना के विकास का अध्ययन करके भक्ति और योग के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में नाथ-सम्प्रदाय का परिचय देकर उसके सिद्धान्त-पक्ष एवं उसमें अभिव्यक्त योग-साधना के स्वरूप तथा प्रकारों की विवेचना की गयी है। इसी प्रकार पांचवें अध्याय में निरंजनी साहित्य की योग-भावना का अनुशीलन किया गया है।

छठे अध्याय में 'निर्गुण' और 'संत' शब्दों की व्याख्या कर के तथा निर्गुणसंत-साहित्य का परिचय देकर उसके सिद्धान्त-पक्ष, योग-भावना और संकेतों का अध्ययन किया गया है। सातवें अध्याय में प्रेममार्गी सूफ़ी साहित्य, उसके सिद्धान्त-पक्ष और योग-भावना का निरूपण है। आठवें अध्याय में सगुणभक्ति-साहित्य (कृष्णभक्तिशाखा, रामभक्तिशाखा), उसके सिद्धान्त-पक्ष और उसमें पायी जाने वाली योग-भावना की मीमांसा की गयी है। नवें अध्याय में भक्ति-युग के साहित्य में उपलब्ध योग के विविध प्रतीकों एवं पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और प्रयोग का अध्ययन किया गया है।

२६६. अष्टछाप-कवियों के काव्य (विशेषकर सूर-साहित्य) में वर्णित ब्रज-संस्कृति

[१९५९ ई०]

श्री श्यामेन्द्र प्रकाश शर्मा का प्रबन्ध 'अष्टछाप-कवियों के काव्य (विशेषकर सूर-साहित्य) में वर्णित ब्रज-संस्कृति' सन् १९५९ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त हुआ है। प्रथम अध्याय में भारतीय संस्कृति के व्यापक रूप का निरूपण करके ब्रज-संस्कृति का व्याख्यान किया गया है। द्वितीय अध्याय में अष्टछाप-कवियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय है। तृतीय अध्याय में अष्टछाप-काल की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय में 'ब्रज' के अर्थ और ब्रज-क्षेत्र का स्पष्टीकरण है। पंचम अध्याय में सूरदास द्वारा वर्णित ब्रज-संस्कृति का विशेष अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों द्वारा वर्णित ब्रज-संस्कृति की विवेचना करके अष्टछाप के अन्य कवियों के काव्य में वर्णित ब्रज-संस्कृति के प्रमुख तत्वों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। सप्तम अध्याय में आधुनिक ब्रज-संस्कृति के रूप का प्रतिपादन करके अष्टछापकालीन ब्रज-संस्कृति से उसकी तुलना की गयी है।

२६७. आधुनिक हिन्दी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग (१९२०-५० ई०)

[१९५९ ई०]

श्री गोपालदत्त सारस्वत का प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग (सन् १९२०-५०)' सन् १९५९ ई० में आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

यह प्रबन्ध दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में परम्पराओं का तथा द्वितीय भाग में प्रयोगों का अध्ययन हैं। ग्रन्थ में कुल मिलाकर दस

अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परम्परा तथा प्रयोग के स्वरूप, विषय तथा सीमा का विवेचन है। द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है—प्रयोग की परम्परा : उद्भव तथा विकास। इसमें काव्य के उदय, अलंकार, अलंकार-रूढ़ियों, प्रतीक-योजना, छन्द, महाकाव्य, गीत, गीतिकाव्य, लोकगीत आदि की विवेचना की गयी है। तृतीय अध्याय में आधुनिक काव्य की वस्तु तथा उपादानों की परम्परा का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में शृंगार (संयोग, विप्रलम्भ, ऋतु, बारहमासा, अष्टयाम, सन्देशहर, चन्द्रोपालम्भ, कामदशा); हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य रसों की परम्परा का अनुशीलन है। पंचम अध्याय में काव्यरूपों (महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तककाव्य, सतसई काव्य, प्रगीत काव्य) की परम्पराका विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में काव्यशैली के अन्तर्गत शब्दालंकारों (अनुप्रास, यमक, श्लेष), अप्रस्तुत-विधान (अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, विरोधाभास), चित्रकाव्य, प्रतीक (प्रकृतिमूलक, यथार्थतामूलक), छन्द (मात्रिक, वर्णिक, अन्त्यानुप्रास, पादयोजना और कवि-समय की परम्परा का व्याख्यान है। सप्तम अध्याय में प्रयोग के प्रेरक स्रोतों (वैज्ञानिक उन्नति, सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वच्छन्दतावाद, साम्यवाद, यथार्थवाद, मनोविश्लेषण, यौनभावना, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद), नवीन वस्तुओं तथा उपादानों (प्रकृति, राष्ट्र, मातृभूमि, राष्ट्र के वीर, निम्नवर्ग, संस्कृति, विप्लवगान, दुःखवाद) राजनीतिक विषयों (पूँजीवादी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग से सम्बद्ध विषय, वैज्ञानिक विषय, अणुवाद, पदार्थ की अनश्वरता, विकासवाद का सिद्धान्त) एवं अन्तरराष्ट्रीय विषयों का अध्ययन है।

अष्टम अध्याय में हास्य, वीर, करुण, रौद्र आदि रसों एवं विविध भावों के क्षेत्र में किये गये प्रयोगों तथा भावक्षेत्र के विस्तार की मीमांसा है। नवम-अध्याय में महाकाव्य, आख्यानकाव्य, मुक्तक, प्रगीति, व्यंग्यगीति, शोकगीति, सम्बोधगीति, राष्ट्रीयगीति, विचारात्मकगीति, पत्र-गीति, लोकगीति और चित्रपटगीत—इन काव्यरूपों में किये गये प्रयोगों का अध्ययन किया गया है। दशम अध्याय में काव्यशैली (अलंकार, मानवीकरण आदि), प्रतीक, भाषा और छन्द सम्बन्धी प्रयोगों का अनुसन्धान किया गया है।

२६८. हिन्दी-महाकाव्यों में नारीचित्रण

[१९५९ ई०]

आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १९५९ ई० में श्री श्यामसुन्दर व्यास का प्रबन्ध 'हिन्दी महाकाव्यों में नारी-चित्रण' पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में नारी की ऐतिहासिक स्थिति, मनोवैज्ञानिक विकास, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, सामाजिक स्वरूप एवं संस्कृत महाकाव्यों से लेकर हिन्दी-महाकाव्यों तक की साहित्यिक मान्यताओं और उनके अन्तर्गत नारी के मूल्यांकन पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में नारी-चित्रण की प्रधान प्रवृत्तियों (व्याख्यात्मक, शैलीगत, भावात्मक, बौद्धिक और कलात्मक) का निरूपण है। तृतीय अध्याय में हिन्दी महाकाव्यों में अंकित विभिन्न नायिकाओं, उपनायिकाओं और अन्य महत्वपूर्ण नारीपात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ अध्याय (हिंदी-महाकाव्यों की भावभूमि) में भावों के अंतर्गत नारी और उसके विविध स्वरूप; विभावों के अंतर्गत नारी के विविध आलम्बन-स्वरूप एवं उसकी उद्दीपनमयी चेष्टाओं, अनुभावों के अंतर्गत नारी के कायिक, मानसिक और सात्विक कार्य-कलाप, संचारी भावों के अंतर्गत नारीजीवन की विविध तरंगावलियों और अंत में भावभूमि की विशेषताओं का अध्ययन है।

पंचम अध्याय (हिंदी-महाकाव्यों की कलाभूमि) में कला, सौंदर्य एवं नारी; नारी-सौंदर्य के बाह्य उपकरणों, रूपवर्णन, उसके उपकरणों तथा विशेषताओं का अध्ययन है। षष्ठ अध्याय (हिंदी-महाकाव्यों की बौद्धिक भूमि) में महा-काव्यकारों के नारी विषयक उद्गारों, नारी-विषयक दृष्टिकोण, नारी-चित्रण के बौद्धिक पक्ष, उसकी विशेषताओं तथा सीमाओं का विवेचन है। सप्तम अध्याय (हिंदी-महाकाव्यों की तुलनात्मक भूमि) में नारी-पात्रों का तुलनात्मक विवेचन (विरहिणियां, जीवन-संगिनियां, प्रेमिकाएं और माताएं) तथा हिंदी-महाकाव्य-कारों के नारी-विषयक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

२६९. भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में राधा का स्वरूप

[१९५९ ई०]

श्री द्वारकाप्रसाद मीतल का प्रबन्ध 'भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में राधा का स्वरूप' सन् १९५९ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

इस प्रबन्ध में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भक्ति के स्वरूप, प्रकार और विकास का निरूपण करके कृष्ण और राधा के विकास पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'राधा' की व्युत्पत्ति, और राधा के आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, ज्योतिष, धार्मिक तथा यौगिक स्वरूप का निरूपण है। तृतीय अध्याय में वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक तथा काव्यात्मक संस्कृत-साहित्य में राधा के स्वरूप का विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय में भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों तथा उनमें प्रतिपादित राधा के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। पंचम अध्याय में जयदेव, विद्यापति और चंडीदास द्वारा चित्रित राधा के स्वरूप की विवेचना की गयी है। षष्ठ अध्याय में विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों के कवियों की रचनाओं में अंकित राधा के स्वरूप का अनुशीलन किया गया है। सप्तम अध्याय में रीतिकालीन तथा आधुनिक काव्य में वर्णित राधा के स्वरूप की समीक्षा की गयी है।

२७० हिन्दी-कृष्णभक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि

[१९५९ ई०]

श्री गिरधारीलाल शर्मा का प्रबन्ध 'हिन्दी-कृष्णभक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि' सन् १९५९ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

यह प्रबन्ध दस अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में कृष्णभक्ति-काव्य की परम्परा, स्वरूप और विकास का निरूपण है। द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है—वैदिक साहित्य में कृष्ण-लीला और भक्ति के श्रोत। तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः महाभारत एवं पुराणों में वर्णित कृष्ण-

लीला का अध्ययन किया गया है। पंचम और षष्ठ अध्यायों में क्रमशः कृष्ण-भक्ति-काव्य की साहित्यिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की गयी है। सप्तम अध्याय में कृष्णभक्ति-काव्य की सामाजिक परिस्थिति एवं भक्ति की विभिन्न धाराओं का अनुशीलन किया गया है।

'धार्मिक पृष्ठभूमि' नामक अष्टम अध्याय में मध्ययुग की धार्मिक भावना, हिंदू-मुस्लिम संघर्ष, भक्ति-आंदोलन की मान्यताओं, आचार्यों के योगदान आदि की विवेचना है। नवम अध्याय में विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर विचार करते हुए कृष्णभक्ति-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया गया है। दशम अध्याय में तत्कालीन संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय, मुगलकालीन साहित्य-सर्जन, कलाओं की स्थिति और कृष्णभक्ति-काव्य में चित्रित संस्कृति के स्वरूप पर विचार किया गया है।

२७१. पद्माकर तथा उनके रचित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन

[१९५९ ई०]

श्री रेवतीसिंह का प्रबन्ध 'पद्माकर तथा उनके रचित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन' सन् १९५९ ई० में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२७२. मैथिली लोकगीतों का अध्ययन

[१९५९ ई०]

श्री तेजनारायण लाल का प्रबन्ध 'मैथिली लोकगीतों का अध्ययन' सन् १९५९ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२७३. पद्माकर और उनके समसामयिक

[१९५९ ई०]

श्री व्रजनारायण सिंह का प्रबन्ध 'पद्माकर और उनके समसामयिक' सन् १९५९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२७४. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास (सं० १९०० वि० तक)

[१९५९ ई०]

श्री रामस्वरूप का प्रबन्ध 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' सन् १९५९ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

यह प्रबन्ध दो खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड में भूमिका है। इस खंड में दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में 'नीति' की परिभाषा और उसके प्रकारों का निरूपण किया गया है। काव्य एवं जीवन के विविध पक्षों की व्याख्या करके यह प्रतिपादित किया गया है कि नीतिकाव्य का सम्बन्ध प्रधानतया बुद्धिपक्ष से है, गौणतया भावपक्ष से; अतएव, नीतिकाव्य सामान्य कोटि का काव्य है। दूसरे अध्याय में वैदिक, संस्कृत, पालि-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के नीतिकाव्य का पर्यालोचन करके भारतीय साहित्य में नीतिकाव्य की परम्परा का उपस्थापन किया गया है।

द्वितीय खंड (शोध-खंड) में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में आदिकालीन नीतिकाव्य का अध्ययन किया गया है। दूसरे अध्याय में वीरकाव्य में पाये जाने वाले नीतितत्व (सं० १३७५-१९०० वि०) का विवेचन है। तीसरे एवं चौथे अध्याय में भक्तिकालीन तथा भक्तिकालोत्तर सन्तकवियों, सूफ़ियों, कृष्णभक्त कवियों, रामभक्त कवियों तथा तत्कालीन अन्य नीतिकारों के नीतिकाव्य का अनुशीलन है। पांचवें अध्याय में रीतिकालीन बिहारी, मतिराम, कुलपति मिश्र, कालिदास त्रिवेदी, देव, तोषनिधि, शिवसहाय दास, बेनी बंदीजन रसिक गोविंद, वृन्द, बेताल, गिरिधर, दीनदयाल गिरि आदि कवियों के नीतिकाव्य की विवेचना की गयी है। छठे अध्याय में हिन्दी नीति-काव्य पर

पूर्ववर्ती नीतिकाव्य का प्रभाव दिखलाया गया है। सातवां अध्याय उपसंहार है। परिशिष्ट में हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भी दे दी गई है।

२७५. प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास

[१९५९ ई०]

श्री० कैलाश कुलश्रेष्ठ का प्रबन्ध 'प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास' सन् १९५९ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

२७६. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त

[१९५९ ई०]

श्री सुरेशचन्द्र गुप्त का शोधप्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त' सन् १९५९ ई० में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपधि के लिए स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क दिल्ली, से प्रकाशित होने जा रहा है।

प्रबन्ध के 'विषय-प्रवेश' में 'आधुनिक', 'काव्यसिद्धान्त', उपलब्ध सामग्री, विषय के महत्व आदि का निरूपण है। प्रबन्ध के प्रथम प्रकरण में भारतेन्दु-युग के कवियों (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास और जगमोहन सिंह) के काव्यसिद्धांतों का विवेचन है। द्वितीय प्रकरण में द्विवेदी-युग के कवियों (महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त आदि) के काव्यसिद्धान्तों का अध्ययन किया गया है। तृतीय प्रकरण में वर्तमान युग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों (माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह आदि), छायावादी कवियों (प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी), वैयक्तिक कविता के रचयिताओं, प्रगतिवादी कवियों के काव्यसिद्धान्तों का अनुशीलन किया गया है।

परिशिष्ट १

[क]

२७७. अब्दुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप में

लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् १९५२ ई० में श्री समर बहादुर सिंह को पी-एच० डी० को उपाधि प्रदान की। उनके अनुसन्धान का विषय या 'अब्दुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप में'। यह प्रबन्ध इतिहास-विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था। इसका हिन्दीरूपान्तर साहित्य-सदन, चिरगांव, झांसी, से प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में अब्दुर्रहीम खानखाना का वंश-परिचय देकर उनका प्रारम्भिक जीवन-चरित प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय और तृतीय अध्यायों में क्रमशः उनकी गुजरात-विजय और सिन्ध-विजय का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अकबर के समय में उनकी दक्षिण-विजय और पंचम अध्याय में जहांगीर के काल में दक्षिण-विजय का निरूपण है। षष्ठ अध्याय का प्रतिपाद्य है—रहीम के जीवन का अन्तिम चरण। सप्तम अध्याय में रहीम की साहित्यिक उपलब्धियों का अध्ययन किया गया है। अष्टम अध्याय में रहीम के व्यक्तित्व का मूल्यांकन है।

[ख]

२७८. मध्यकालीन छन्द का ऐतिहासिक विकास

[१९५० ई०—?]

श्री माहेश्वरी सिंह को सम्भवतः १९५० ई० में लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। उनके अनुसन्धान का विषय था—'मध्यकालीन छंद का ऐतिहासिक विकास'।

[ग]

पूर्वोक्त प्रबन्ध (सं० १६८) 'मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में नारी-भावना' हिंदी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली, से प्रकाशित हो रहा है।

परिशिष्ट २

विश्वविद्यालयानुसार स्वीकृत शोध प्रबन्ध सूची

विदेशी विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९१८	जे० एम० कारपेन्टर	१. तुलसीदास का धर्म-दर्शन	डी० डी० (लन्दन)
१९३०	मोहिउद्दीन क़ादरी	२. हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसन्धान	पी-एच० डी० (लन्दन)
१९३१	एफ० ई० के०	३. कबीर तथा उनके अनुयायी	"
१९३४	जनार्दन मिश्र	४. सूरदास का धार्मिक काव्य	पी-एच० डी० (कोनिग्सबर्ग)
१९३५	धीरेन्द्र वर्मा	५. ब्रजभाषा	डी० लिट० (पेरिस)
१९४१	लक्ष्मीधर	६. मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का सटिप्पण सम्पादन और अनुवाद [१६वीं शताब्दी की हिन्दी भाषा (अवधी) का अध्ययन]	पी-एच० डी० (लन्दन)
१९४९	हरिश्चन्द्र राय	७. हिन्दी साहित्य में महाकाव्य	" "
१९५०	विश्वनाथ प्रसाद	८. भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनिप्रक्रिया का अध्ययन	" "
?	माहेश्वरी सिंह	९. मध्यकालीन छन्द का ऐतिहासिक विकास	" "
१९५०	कु० सी० वोदवील	१०. रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम	डी० लिट्० (सारबोन, पेरिस)

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५५	शारदा वेदालंकार	११. हिन्दी गद्य का विकास (१८०० से-१८५६ ई० तक)	पी-एच० डी० (लन्दन)
		प्रयाग विश्वविद्यालय	
१९३१	बाबूराम सक्सेना	१. अवधी का विकास	डी० लिट्०
१९३७	रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	२. हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास	,,
१९४०	लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	३. आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९०० ई०)	डी० फ़िल०
१९४०	माता प्रसाद गुप्त	४. तुलसीदास—जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन	डी० लिट्०
१९४१	श्रीकृष्ण लाल	५. हिन्दी साहित्य का विकास (१९००—१९२५ ई०)	डी० फ़िल०
१९४२	जानकीनाथ सिंह 'मनोज'	६. हिन्दी छन्दशास्त्र	,,
१९४३	छैल बिहारी गुप्त 'राकेश'	७. मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन	,,
१९४४	दीनदयालु गुप्त	८. हिन्दी के अष्टछाप कवियों का अध्ययन	डी० लिट्०
१९४५	ब्रजेश्वर वर्मा	९. सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन	डी० फ़िल०
१९४५	उदयनारायण तिवारी	१०. भोजपुरी भाषा की उत्पत्ति और विकास	डी० लिट्०
१९४५	हरदेव बाहरी	११. हिन्दी अर्थ-विज्ञान	,,

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९४६	लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय	१२. हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका	डी० लिट्०
१९४६	ब्रजमोहन गुप्त	१३. हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियां (१६७५ ई० तक)	डी० फ़िल०
१९४७	पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ	१४. हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य (जायसी का विशेष अध्ययन)	"
१९४८	रघुवंश सहाय वर्मा	१५. हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति कालों में प्रकृति और काव्य	"
१९४८	जयकान्त मिश्र	१६. मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक और उस पर अंगरेजी का प्रभाव (अंगरेजी विभाग)	डी० फ़िल०
१९४८	रामरतन भटनागर	१७. हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास	"
१९४८	शीलवती मिश्र	१८. हिन्दी सन्तों (विशेषतया सूरदास, तुलसीदास और कबीरदास) पर वेदान्त-पद्धतियों का ऋण (दर्शन-विभाग)	"
१९४९	कामिल बुल्के	१९. रामकथा—उत्पत्ति और विकास	"
१९४९	शैलकुमारी माथुर	२०. आधुनिक हिन्दी काव्य (१९००-१९४५ ई०) में नारी-भावना	"
१९५०	विश्वनाथ मिश्र	२१. अंगरेजी का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५१	हरिहर प्रसाद गुप्त	२२. आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन	डी० फ़िल०
१९५१	रामसिंह तोमर	२३. प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव	डी० फ़िल०
१९५१	धर्मकिशोर लाल	२४. अंगरेजी नाटकों का हिन्दी-नाटकों पर प्रभाव (अंगरेजी विभाग)	"
१९५२	टीकमसिंह तोमर	२५. हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०)	"
१९५२	भोलानाथ	२६. हिन्दी साहित्य (१९२६—४७ ई०)	"
१९५२	विद्याभूषण 'विभु'	२७. हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुषों के नामों का अध्ययन	"
१९५२	लक्ष्मीनारायण लाल	२८. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास और उद्‌गम-सूत्र	"
१९५२	छैल बिहारी गुप्त 'राकेश'	२९. नायक-नायिका-भेद	डी० लिट्०
१९५२	आनन्द प्रकाश माथुर	३०. १६वीं १७वीं शताब्दियों की अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन (अंगरेजी-विभाग)	डी० फ़िल०
१९५३	सत्यव्रत सिन्हा	३१. भोजपुरी लोकगाथा	डी० फ़िल०
१९५३	रवीन्द्र सहाय वर्मा	३२. आधुनिक हिन्दी काव्य और आलोचना पर अंगरेजी प्रभाव (अंगरेजी-विभाग)	"
१९५३	धर्मवीर भारती	३३. सिद्ध-साहित्य	"
१९५३	जगदीश गुप्त	३४. हिन्दी और गुजराती कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५४	विमला वाघ्रे	३५. दक्खिनी के सूफ़ी लेखक	डी० फ़िल०
१९५५	रतन कुमारी	३६. हिन्दी और बंगला के वैष्णव कवियों (१६वीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन	,,
१९५६	भोलानाथ तिवारी	३७. हिन्दी नीति-काव्य	,,
१९५६	विमला पाठक	३८. रीवां दरबार के हिन्दी कवि	,,
१९५७	पारसनाथ तिवारी	३९. कबीर का पाठ	,,
१९५७	उषा पांडेय	४०. मध्यकालीन काव्य में नारी-भावना	,,
१९५७	शशि अग्रवाल	४१. हिन्दी कृष्णभक्ति-साहित्य पर पौराणिक प्रभाव	,,
१९५७	जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव	४२. डिंगल-पद्यसाहित्य का अध्ययन	,,
१९५८	उषा सक्सेना	४३. हिन्दी कथा-साहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव (१८८५-१९३६ ई०)	,,
१९५८	गंगाचरण त्रिपाठी	४४. अवधी, ब्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	,,
१९५८	रामस्वरूप चतुर्वेदी	४५. आगरा जिले की बोली का अध्ययन	,,
१९५८	निर्मला सक्सेना	४६. सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन	,,

काशी विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३४	पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	१. हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय	डी० लिट्०
१९४०	केसरी नारायण शुक्ल	२. आधुनिक काव्यधारा	,,

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९४३	जगन्नाथप्रसाद शर्मा	३. 'प्रसाद' के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	डी० लिट्०
१९४९	राजपति दीक्षित	४. तुलसीदास और उनका युग	"
१९४९	ओम्प्रकाश गुप्त	५. हिन्दी मुहावरे	"
१९५०	शिवमंगलसिंह 'सुमन'	६. गीतिकाव्य का उद्गम, विकास और हिन्दी साहित्य में उसकी परम्परा	"
१९५२	शकुन्तला दुबे	७. हिन्दी काव्यरूपों का उद्भव और विकास	पी-एच० डी०
१९५५	शम्भुनाथसिंह	८. हिन्दी में महाकाव्य का स्वरूप-विकास	"
१९५५	सितकंठ मिश्र	९. खड़ीबोली का आन्दोलन	"
१९५६	रघुनाथसिंह	१०. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी (१८५७–१९३६ ई०)	"
१९५६	बच्चन सिंह	११. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना	"
१९५६	रमेशप्रसाद मिश्र	१२. आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन	"
१९५६	बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे	१३. हिंदी गद्य के विविध साहित्य-रूपों के उद्भव और विकास का अध्ययन	"
१९५६	हिरमण्य	१४. हिंदी और कन्नड़ में भक्ति-आंदोलन का तुलनात्मक अध्ययन	"
१९५६	नामवरसिंह	१५. रासो की भाषा	"
१९५७	कनिका विश्वास	१६. ब्रजबुली	"
१९५७	रामदरश मिश्र	१७. आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियां	"
१९५७	विष्णु स्वरूप	१८. कवि-समय	"
१९५७	अष्टभुजा प्रसाद पांडेय	१९. हिंदी में गद्य-काव्य का विकास	"
१९५७	शिवप्रसाद सिंह	२०. सूर-पूर्व की ब्रजभाषा	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५८	मोती सिंह	२१. निर्गुण-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	पी-एच० डी०
१९५८	रामनरेश वर्मा	२२. सगुण-भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	,,
१९५८	पूर्णमासी राय	२३. कृष्णभक्ति में मधुर रस	,,
१९५८	त्रिभुवन सिंह	२४. मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम	,,
१९५८	गणेशन	२५. हिंदी-उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव	,,
१९५८	गिरीशचन्द्र तिवारी	२६. कबीर के बीजक की टीकाओं की दार्शनिक व्याख्या	,,
१९५८	कृष्णकुमार मिश्र	२७. हिंदी-गद्य का विकास	,,

आगरा विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३९	हरिहरनाथ हुक्कू	१. 'रामचरितमानस' के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास की शिल्पकला का अध्ययन	डी० लिट०
१९४६	नगेन्द्र नगाइच	२. रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन	,,
१९४७	सोमनाथ गुप्त	३. हिंदी-नाटक-साहित्य का इतिहास	पी-एच० डी०
१९४८	किरणकुमारी गुप्त	४. हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण	,,
१९४८	टी० एन० वी० आचार्य (रांगेय राघव)	५. श्रीगुरु गोरखनाथ और उनका युग	,,
१९४९	गौरीशंकर 'सत्येन्द्र'	६. ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन	,,
१९४९	जयदेव कुलश्रेष्ठ	७. जायसी, उनकी कला और दर्शन	,,

सन्	अनुसंधाता	विषय	उपाधि
१९५१	ओम्प्रकाश कुलश्रेष्ठ	८. हिंदी साहित्य में अलंकार	पी-एच० डी०
१९५१	गोविन्द त्रिगुणायत	९. कबीर की विचारधारा	"
१९५१	मुंशीराम शर्मा	१०. भारतीय साधना और सूर-साहित्य	"
१९५१	उमेशचन्द्र त्रिपाठी	११. हिंदी निबंध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन	"
१९५१	भगवतस्वरूप मिश्र	१२. हिंदी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास	"
१९५२	विश्वम्भरनाथ भट्ट	१३. रत्नाकर, उनकी प्रतिभा और कला	"
१९५२	प्रतिपालसिंह	१४. बीसवीं शती के महाकाव्य	"
१९५२	राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	१५. हिन्दी-कविता (१६००-१८५० ई०) में शृंगार रस का अध्ययन	"
१९५२	प्रेमनारायण शुक्ल	१६. हिन्दी साहित्य में विविध वाद	"
१९५२	शंकर नाथ शुक्ल	१७. उपन्यासकार प्रेमचन्द, उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन-दर्शन	"
१९५३	हरवंशलाल शर्मा	१८. श्रीमद्भागवत और सूरदास	"
१९५३	रामदत्त भारद्वाज	१९. तुलसी-दर्शन (दर्शन-विभाग के अन्तर्गत)	"
१९५४	गुणानन्द जुयाल	२०. मध्य-पहाड़ी भाषा (गढ़वाली कुमाउंनी) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध	"
१९५४	मनोहरलाल गौड़	२१. घनानन्द और मध्यकाल की स्वस्छन्द काव्य-धारा	"
१९५४	ब्रह्मदत्त शर्मा	२२. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन	"
१९५४	दयाशंकर शर्मा	२३. हिन्दी में पशुचारण-काव्य	"

सन्	अनुसंधाता	विषय	उपाधि
१९५४	पृथ्वीसिंह शर्मा 'कमलेश'	२४. हिन्दी गद्यकाव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन	पी-एच० डी०
१९५४	श्याम सुन्दर लाल दीक्षित	२५. कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत	"
१९५५	बदरीनारायण श्रीवास्तव	२६. रामानंद-सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	"
१९५५	भगवती प्रसाद सिंह	२७. उन्नीसवीं शती का रामभक्ति-साहित्य—विशेषत: महात्मा बनादास का अध्ययन	"
१९५५	कपिल देव सिंह	२८. गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिए ब्रजभाषा-खड़ी-बोली सम्बन्धी विवाद की रूप रेखा	"
१९५५	शम्भुनाथ पांडेय	२९. आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद	"
१९५५	रामेश्वरलाल खंडेलवाल	३०. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य	"
१९५५	सीताराम कपूर	३१. रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत	"
१९५६	ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव	३२. हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४००-१७०० ई०)	"
१९५६	जयराम मिश्र	३३. आदि गुरु ग्रन्थ साहब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त	"
१९५६	बरसानेलाल चतुर्वेदी	३४. हिन्दी साहित्य में हास्य रस	"
१९५६	आनन्द प्रकाश दीक्षित	३५. काव्य में रस	"
१९५६	रामचन्द्र मिश्र	३६. हिन्दी के आरंभिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषत: पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन	"
१९५६	हरिहरनाथ टंडन	३७. वार्त्ता-साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५६	अम्बा प्रसाद सुमन	३८. कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर)	पी-एच० डी०
१९५६	गणेशदत्त	३९. मध्यकालील हिन्दी-साहित्य में चित्रित समाज	"
१९५६	महेश चन्द्र सिंघल	४०. सन्त सुन्दरदास	"
१९५६	मुंशीराम शर्मा	४१. वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति	डी० लिट्०
१९५७	गौरी शंकर (सत्येन्द्र)	४२. मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य के प्रेमगाथा-काव्य और भक्तिकाव्य में लोकवार्ता-तत्व	"
१९५७	गोविन्द त्रिगुणायत	४३. हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डी० लिट्०
१९५७	नत्थनसिंह	४४. बालमुकुन्द गुप्त—उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन	पी-एच० डी०
१९५७	राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	४५. पं० बालकृष्ण भट्ट—उनका जीवन और साहित्य	"
१९५७	गोपीनाथ तिवारी	४६. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य	"
१९५७	देवेन्द्रकुमार जैन	४७. अपभ्रंश-साहित्य	"
१९५७	बद्रीप्रसाद परमार	४८. मालव-लोक-साहित्य	"
१९५७	राजकिशोर कक्कड़	४९. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८-१९४३)	"
१९५७	गोविन्दसिंह कन्दारी	५०. गढ़वाली बोली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोकसंस्कृति	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५७	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	५१. 'कामायनी' में काव्य, संस्कृति और दर्शन	पी-एच० डी०
१९५७	किशोरीलाल गुप्त	५२. 'शिवसिंह सरोज' में दिये कवियों-सम्बन्धी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण	"
१९५७	रामनाथ त्रिपाठी	५३. कृतिवासी बंगला रामायण और 'रामचरितमानस' का तुलनात्मक अध्ययन	"
१९५८	भगवतीप्रसाद सिंह	५४. रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय	डी० लिट्०
१९५८	जयचन्दराय	५५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन	पी-एच० डी०
१९५८	प्रभाकर माचवे	५६. हिन्दी और मराठी का निर्गुण-काव्य (११वीं से १५वीं शती) तुलनात्मक अध्ययन	"
१९५८	रामसागर त्रिपाठी	५७. मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन	"
१९५८	ज्ञानवती अग्रवाल	५८. प्रसाद का काव्य और दर्शन	"
१९५८	रामगोपाल चतुर्वेदी	५९. हिंदी-पत्रकारिता का इतिहास	"
१९५८	अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	६०. द्विजदेव और उनका काव्य	"
१९५८	श्रीपति शर्मा	६१. हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	"
१९५८	रणवीरचन्द्र रांग्रा	६२. हिंदी-उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास	"
१९५८	रमेशकुमार शर्मा	६३. रीति-कविता का आधुनिक हिंदी कविता पर प्रभाव	"
१९५८	कृष्णचन्द्र शर्मा	६४. मेरठ जनपद के लोकगीतों का अध्ययन	"
१९५८	गोपालदत्त शर्मा	६५. स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५८	बालमुकुन्द गुप्त	६६. हिंदी में कृष्ण-काव्य का विकास	पी-एच० डी०
१९५८	इन्द्रावती ग्रोवर	६७. हिंदी उपन्यास में नारी-चित्रण	"
१९५८	जगदीशनारायण त्रिपाठी	६८. आधुनिक हिंदी-काव्य में अलंकार-विधान	"
१९५८	अम्बादत्त पन्त	६९. अपभ्रंश-काव्य-परम्परा और विद्यापति	"
१९५८	सोमनाथ शुक्ल	७०. हिंदी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति	"
१९५८	इन्द्रावती सिन्हा	७१. हिंदी साहित्य पर पौराणिकता का प्रभाव	"
१९५८	सरलादेवी	७२. हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव	"
१९५८	छोटेलाल	७३. मीरांबाई	"
१९५८	कैलाशचन्द्र भाटिया	७४. हिंदी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन	"
१९५९	गोपालदत्त सारस्वत	७५. आधुनिक हिंदी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग	"
१९५९	रेवतीसिंह	७६. पद्माकर तथा उनके रचित ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन	"
१९५९	श्यामसुन्दर यादोराम व्यास	७७. हिंदी-महाकाव्यों में नारी-चित्रण	"

नागपुर विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९३८	बलदेव प्रसाद मिश्र	१. तुलसी दर्शन	डी० लिट्०
१९४०	रामकुमार वर्मा	२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	पी-एच० डी०
१९५५	हरवंश लाल शर्मा	३. सूरदास और उनका साहित्य	डी० लिट्०
१९५६	चिन्तामणि उपाध्याय	४. मालवी लोकगीत	पी-एच० डी०

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५६	विनय मोहन शर्मा	५. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन	पी-एच० डी०
१९५६	रामनिरंजन पांडेय	६. भक्तिकालीन हिन्दी-कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियां—रामभक्ति शाखा	"
१९५७	पांडुरंग राव 'मुरली'	७. आन्ध्र-हिन्दी-रूपक (हिन्दी और तेलगू का नाटक-साहित्य—एक अध्ययन)	"
१९५७	भालचन्द्रराव तेलंग	८. भारतीय आर्यभाषा-परिवार की मध्यवर्तिनी बोलियां—छत्तीसगढ़ी, हलबी, भतरी	"
१९५७	राजेश्वर गुरु	९. प्रेमचन्द	"
१९५७	महेन्द्र भटनागर	१०. समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द	"
१९५७	रामयतन सिंह	११. हिन्दी काव्य में कल्पना-विधान	"
१९५७	कृष्ण लाल हंस	१२. निमाड़ी और उसका लोक-साहित्य	"
१९५८	गोविन्द प्रसाद शर्मा	१३. हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन	"
१९५९	तेजनारायण लाल	१४. मैथिली लोकगीतों का अध्ययन	"
		पंजाब विश्वविद्यालय	
१९३८	इन्द्रनाथ मदान	१. सामाजिक वातावरण के विशिष्ट सन्दर्भ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना	"
१९४५	लक्ष्मीधर शास्त्री	२. ऋषि बरकत उल्लाह 'पेमी' कृत 'पेम प्रकाश' का अनुसन्धान, सम्पादन और अध्ययन	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९४६	शिवनारायण बोहरा	३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	पी-एच० डी०
१९५१	सरनदास भणोत	४. आलम का 'स्यामसनेही'	,,
१९५२	वेदपाल खन्ना	५. हिन्दी-नाटक का उद्भव और विकास	,,
१९५४	रामधन शर्मा	६. सूरदास के (कूट पदों के विशिष्ट सन्दर्भ में) कूट-काव्य का अध्ययन	,,
१९५७	किरण चन्द्र शर्मा	७. केशवदास—उनके रीतिकाव्य का विशेष अध्ययन	,,
१९५८	गोविन्द राम शर्मा	८. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य	,,
१९५८	धर्मपाल अष्टा	९. दशमग्रंथ का कवित्व	,,
१९५८	संसारचन्द्र महोत्रा	१०. हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति	,,
१९५८	वेणी प्रसाद शर्मा	११. पृथ्वीराजरासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का आलोचनात्मक सम्पादन	,,
१९५८	भीष्म साहनी	१२. हिन्दी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना	,,
१९५८	गणपति गुप्त	१३. हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी	,,

कलकत्ता विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९४३	नलिनी मोहन सान्याल	१. बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास	डी० फ़िल०
१९४८	विपिन बिहारी त्रिवेदी	२. चन्दवरदायी और उनका काव्य	,,
१९५१	शिवनन्दन पांडेय	३. भारतीय नाटक का उद्भव और विकास	,,
१९५८	तारकनाथ अग्रवाल	४. बीसलदेवरास का सम्पादन	,,

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५८	सावित्री सरीन	५. पंजाबी और हिन्दी के वार्ता-साहित्य में अभिप्राय	डी० फ़िल०
		पटना विश्वविद्यालय	
१९४४	सुभद्र झा	१. मैथिली भाषा का विकास	डी० लिट्०
१९४४	धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	२. बिहार के सन्तकवि दरिया साहब	पी-एच० डी०
१९५३	रामखेलावनपांडेय	३. मध्यकालीन सन्त साहित्य	डी० लिट्०
१९५७	राजाराम रस्तोगी	४. तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा	पी-एच०डी०
		लखनऊ विश्वविद्यालय	
१९४६	उदयभानु सिंह	१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	पी-एच० डी०
१९४७	भगीरथ मिश्र	२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	,,
१९४८	त्रिलोकी नारायण दीक्षित	३. सन्तकवि मलूकदास	,,
१९४९	सरयू प्रसाद अग्रवाल	३. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि	,,
१९५०	हीरालाल दीक्षित	५. आचार्य केशवदास—एक अध्ययन	,,
१९५१	हरिकान्त श्रीवास्तव	६. हिन्दू कवियों के प्रेमाख्यान	,,
१९५१	कृष्णदेव उपाध्याय	७. भोजपुरी लोक-साहित्य	,,
१९५२	समर बहादुर सिंह	८. अबदुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप में (इतिहास-विभाग)	,,
१९५३	नारायण दास खन्ना	९. आचार्य भिखारीदास	,,

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५३	पुत्तूलाल शुक्ल	१०. आधुनिक हिन्दी कविता में छन्द	पी-एच० डी०
१९५३	देवकी नन्दन श्रीवास्तव	११. तुलसीदास की भाषा	"
१९५३	चन्द्रावती सिंह	१२. हिन्दी-साहित्य में जीवन-चरित का विकास—एक अध्ययन	"
१९५४	सरला शुक्ल	१३. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि	"
१९५४	भगवद् व्रत मिश्र	१४. सन्तकवि रविदास और उनका पंथ	"
१९५५	इन्द्रपाल सिंह	१५. आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियां	"
१९५५	उषा गुप्त	१६. हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में संगीत	"
१९५५	के० भास्करन नय्यर	१७. हिन्दी और मलयालम के भक्तकवियों का तुलनात्मक अध्ययन	"
१९५६	त्रिलोकी नारायण दीक्षित	१८. चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार	डी० लिट्०
१९५६	शकुन्तला वर्मा	१९. आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गांधीवाद	पी-एच० डी०
१९५६	शान्तिप्रसाद चन्दोला	२०. नाथ-सम्प्रदाय के हिन्दी कवि	"
१९५६	रामचन्द्र तिवारी	२१. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-काव्य	"
१९५७	अविनाशचन्द्र अग्रवाल	२२. भारतेन्दुयुगीन हिन्दी कवि	"
१९५७	पुष्पलता निगम	२३. हिन्दी महाकाव्यों में नायक	"
१९५७	व्रजकिशोर मिश्र	२४. अवध के प्रमुख हिन्दी-कवियों का अध्ययन (सं० १७०० से १९००)	"
१९५७	प्रेमनारायण टंडन	२५. सूरदास की भाषा	"
१९५७	ललितेश्वर झा	२६. मैथिली के कृष्णभक्त कवियों का अध्ययन	"
१९५७	लक्ष्मीनारायण गुप्त	२७. हिन्दी-साहित्य को आर्यसमाज की देन	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५८	कृष्ण बिहारी मिश्र	२८. आधुनिक सामाजिक आन्दोलन एवं आधुनिक साहित्य (१९००-१९५० ई०)	पी-एच० डी०
१९५८	शंकरलाल यादव	२९. हरियाना प्रदेश का लोक-साहित्य	,,
१९५८	शशिभूषण सिंहल	३०. वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन	,,
१९५८	प्रतापनारायण टंडन	३१. हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास	,,
१९५८	तारा कपूर	३२. हिन्दी-काव्य में करुण रस	,,
१९५८	विद्या मिश्र	३३. वाल्मीकि-रामायण और रामचरितमानस का तुलानात्मक अध्ययन्	,,
१९५८	जनार्दन प्रसाद काला	३४. गढ़वाली भाषा और लोक-साहित्य	,,
१९५८	सावित्री शुक्ल	३५. हिन्दी-सन्त-काव्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि	,,
१९५९	ब्रजनारायण सिंह	३६. पद्माकर और उनके समसामयिक	,,
		राजस्थान विश्वविद्यालय	
१९४९	सरनामसिंह शर्मा	१. हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव	पी-एच० डी०
१९५०	ब्रह्मदत्त मिश्र 'सुधीन्द्र'	२. द्विवेदी-युग में हिन्दी कविता का पुनरुत्थान (१९०१-२० ई०)	,,
१९५२	फैयाज़ अली खां	३. नागरी दास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन	,,
१९५२	भोलाशंकर व्यास	४. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	,,
१९५२	मोतीलाल मेनारिया	५. ब्रजभाषा-साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल-साहित्य)	,,

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५४	चन्द्रकला	६. आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रतीकवाद के प्रकार	पी-एच० डी०
१९५५	कन्हैयालाल सहल	७. राजस्थानी कहावतों की गवेषणा और वैज्ञानिक अध्ययन	"
१९५५	शिवस्वरूप शर्मा	८. राजस्थानी के गद्य-साहित्य का इतिहास और विकास	"
१९५५	राजकुमारी शिवपुरी	९. राजस्थान के राजघरानों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन	"
१९५५	गायत्री देवी वैश्य	१०. आधुनिक हिन्दी-काव्य में समाज (१८५०-१९५० ई०)	"
१९५५	मोतीलाल गुप्त	११. हिन्दी-साहित्य को मत्स्यप्रदेश की देन	"
१९५५	देवराज उपाध्याय	१२. आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान	"
१९५७	जगदीशचन्द्र जोशी	१३. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक	"
१९५७	रामचरण महेन्द्र	१४. हिन्दी में एकांकी नाटक	"
१९५८	श्याम शंकर दीक्षित	१५. परमानन्द दास : जीवनी और कृतियां	"
१९५८	रामानन्द तिवारी	१६. सत्यं शिवं सुन्दरम्	"
		दिल्ली विश्वविद्यालय	
१९५१	विमलकुमार जैन	१. सूफी मत और हिंदी साहित्य	पी-एच०डी०
१९५१	सावित्री सिन्हा	२. मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियां	"
१९५२	दशरथ ओझा	३. हिंदी नाटक का उद्भव और विकास	"
१९५२	हरिवंश कोछड़	४. अपभ्रंश-साहित्य	"
१९५५	स्नेहलता श्रीवास्तव	५. हिंदी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५६	मनमोहन गौतम	६. सूर की काव्य-कला	पी-एच० डी०
१९५६	सत्यदेव चौधरी	७. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य	"
१९५६	विजयेन्द्र स्नातक	८. राधावल्लभ-सम्प्रदाय के संदर्भ में हितहरिवंश का विशेष अध्ययन	"
१९५७	उमाकांत गोयल	९. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता	"
१९५८	उमा मिश्र	१०. रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	"
१९५८	सदानंद मदान	११. भक्तिकालीन कृष्णभक्तिकाव्य पर पौराणिक प्रभाव (संस्कृत-विभाग)	"
१९५८	महेन्द्र कुमार	१२. मतिराम—कवि और आचार्य	"
१९५९	गार्गी गुप्त	१३. रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का अध्ययन	"
१९५९	रामस्वरूप	१४. हिंदी में नीतिकाव्य का विकास (सं० १९०० वि० तक)	"
१९५९	कैलाश कुलश्रेष्ठ	१५. प्रेमचन्द-पूर्व हिंदी-उपन्यास	"
१९५९	सुरेशचन्द्र गुप्त	१६. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धांत	"

सागर विश्वविद्यालय

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५२	वीरेन्द्रकुमार शुक्ल	१. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य	पी-एच० डी०
१९५३	प्रेमशंकर	२. जयशंकरप्रसाद के काव्य का विकास	"
१९५७	भानुदेव शुक्ल	३. भारतेन्दु-युग के नाटककार	"
१९५७	कमलाकांत पाठक	४. गुप्त जी का काव्य-विकास	"

सन्	अनुसन्धाता	विषय	उपाधि
१९५७	रामलालसिंह	५. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत	पी-एच० डी०
१९५८	शंकरदयाल चौऋषि	६. द्विवेदीयुगीन हिंदी-गद्य-शैलियां	,,
		अलीगढ़ विश्वविद्यालय	
१९५६	गोवर्धनलाल शुक्ल	१. कविवर परमानन्द और उनका साहित्य	पी-एच० डी०
१९५६	देवर्षि सनाढ्य	२. हिंदी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन	,,
१९५८	विजयपालसिंह	३. केशव और उनका साहित्य	,,
१९५९	शिवशंकर शर्मा	४. भक्तिकालीन हिंदी-साहित्य में योग-भावना	,,
१९५९	श्यामेन्द्रप्रकाश शर्मा	५. अष्टछाप-कवियों के काव्य (विशेषकर सूर-साहित्य) में वर्णित व्रज-संस्कृति	,,
१९५९	द्वारकाप्रसाद मीतल	६. भक्तिकालीन कृष्णकाव्य में राधा का स्वरूप	,,
१९५९	गिरिधारीलाल शास्त्री	७. हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि	,,